प्रबन्ध-सागर

उच्चकोटि के साहित्यिक, कलात्मक, धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा विविध विषयों पर विद्वत्तापूर्ण लिखे गये १३३ निबन्धों से युक्त बी० ए०, हिन्दी प्रभाकर, मध्यमा तथा अन्य विशेष योग्यता की परीक्षाओं के लिये अत्यन्त उपयोगी निबन्ध पुस्तक

लेखक

पं० कृष्णानन्दन पंत, एम.ए., एम.ओ.एल., साहित्याचार्य

प्रधानाध्यक्ष हिन्दी-विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ

पं० यज्ञदत्त शर्मा, एम. ए., साहित्यरत्न

हिन्दी का संक्षिप्त साहित्य, हिन्दी साहित्य का सांकेतिक इतिहास, हिन्दी साहित्य आजके युगमें, दो पहलू, ललिता, विचित्र-त्याग, इन्सान आदि पुस्तकों के रचयिता

आत्माराम एण्ड सन्स

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली

प्रकाशक :
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस,
काश्मीरी गेट, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९५१
मूल्य—चार रुपए आठ आने
४॥)

मुद्रक :
मदनलाल गुजराल
एलबियन प्रेस,
काश्मीरी गेट, दिल्ली

भूमिका

'प्रबन्ध-सागर' की रचना हिन्दी-साहित्य, भारतीय काव्य परम्परा, भारत की धार्मिक क्रांतियां और उनकी प्रतिध्वनियां, भारतीय समाज और सभ्यता, भारतीय इतिहास और राजनीति, फुटकर विचार और समस्यायें तथा परिचयात्मक विषयों की आधारशिला पर की गई है। भारत का साहित्यिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास एक क्रम के साथ इस ग्रंथ में पृथक पृथक विषयों के आधार पर संगठित रूपमें मुखरित हुआ है। हिन्दी साहित्य के अंतर्गत साहित्य के क्रमिक विकास में पैदा होने वाली मूल प्रवृत्तियों और प्रधान वादों तथा साहित्यिक धाराओं का स्पष्टीकरण किया गया है। हिन्दी साहित्य के सब प्रधान वाद, शैलियों, मूल ग्रंथों और कवियों पर विकसित रूप से प्रकाश डाला गया है। हिन्दी-साहित्य की विविध शाखाओं को विषय बनाकर उनके विकास और भविष्य पर तार्किक दृष्टिकोण से लिखा गया है। साथ ही हिन्दी साहित्य पर देशीय और विदेशीय प्रभावों का भी आधुनिक प्रगति वाद में मूल्यांकन किया है।

साहित्यिक निबन्धों के पश्चात् काव्य-कला सम्बन्धी निबंध दिये गये हैं जिन में काव्य-कला के विविध रूपों का भी हमने शास्त्रीय विवेचन किया है। कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध और जीवनी विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है। साहित्य-कला के पश्चात् धार्मिक निबन्धों दिये हैं जिन में भारत के प्राचीनतम धर्म से लेकर उसमें होने वाली विविध प्रतिक्रियाओं को भी लिया गया है। भारत के सभी धर्म ग्रंथों और उनके राष्ट्र पर पड़ने वाले प्रभावों का स्पष्टीकरण किया गया है। भारतीय जनता की धार्मिक प्रवृत्तियां, धर्म ग्रंथ और उनके साहित्य तथा समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का विवेचन किया गया है। धर्म के गुण, अवगुण और इसके व्यापक क्षेत्र पर कई विषयों में प्रकाश डाला है। धार्मिक निबन्धों के

पश्चात् सामाजिक निबन्ध आते हैं, जिनमें भारत की प्राचीन समस्याओं से लेकर आज तक की समस्याओं को लिया गया है। सामाजिक निबन्धों में वर्णाश्रम धर्म, नारी विषयक समस्याओं तथा विवाह सम्बन्धी अन्य विषयों का स्पष्टीकरण है। सामाजिक निबन्धों के पश्चात् ऐतिहासिक और राजनैतिक निबन्ध लिखे गये हैं जिन में भारत की आदि युग से आज तक की सभी राजनैतिक समस्यायें ली गई हैं। इन निबन्धों को पढ़ कर पाठक को भारतीय इतिहास और वर्तमान राजनीति का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। राजनैतिक-निबन्धों के अंतर्गत भारत की क्रांतियों के अतिरिक्त विश्व की क्रांतियों तथा वर्तमान वादों और उनकी भारतीय राजनीति पर होने वाली प्रतिक्रियाओं का भी स्पष्टीकरण किया गया है। एकतंत्रवाद, साम्राज्यवाद, साम्यवाद, समाजवाद, डिक्टेटरशिप, गांधीवाद इत्यादि की तुलनात्मक विवेचना की गई है। अंत में फुटकर और परिचयात्मक निबन्ध लिखे गये हैं जिन में स्वास्थ्य, व्यायाम इत्यादि के अतिरिक्त संसार की प्रमुख शासन प्रणालियों और भारतीय इतिहास की प्रधान विभूतियों का परिचय दिया गया है।

निबन्धों के अतिरिक्त साहित्यिक, कलात्मक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक निबन्धों के पश्चात कुछ विषयों की रूप रेखायें देकर उन पर निबन्ध रचना की पूर्ण सामग्री भी प्रस्तुत की गई है। 'प्रबन्ध-सागर' के भूमिका भाग में हिन्दी गद्य के उत्थान, हिन्दी निबन्धों के इतिहास, नि ध की आवश्यकता, निबन्ध के क्षेत्र, निबन्ध के ढांचे, निबन्ध-लेखन-ज्ञान, निबन्ध के प्रमुख अंग, निबन्धों के प्रचार, शैली और सहायक अंगों पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार 'प्रबन्ध-सागर' में बी० ए०, प्रभाकर और विशेष योग्यताओं क परीक्षा में भाग लेने वाले विद्यार्थियों के लिये सम्पूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई है। हम दृढ़ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि 'प्रबन्ध-सागर' के निबन्धों पर एक दृष्टि डालने के पश्चात् विद्यार्थी का उक्त विषयों का ज्ञान अपूर्ण नहीं रह सकता।

लेखक

विषय-सूची

साहित्यिक-निबन्ध

कुछ साहित्यिक निबन्धों की रूप रेखायें

काव्य-कला सम्बन्धी निबन्ध

कुछ काव्य-कला सम्बन्धी निबन्धों की रूप रेखायें

धार्मिक और दार्शनिक निबन्ध

कुछ धार्मिक निबन्धों की रूप रेखायें

सामाजिक निबन्ध

कुछ सामाजिक निबंधों की रूप रेखायें

इतिहास सम्बन्धी निबन्ध

कुछ राजनीतिक निबन्धों की रूप-रेखायें

फुटकर निबन्ध

परिचयात्मक विषय

हिन्दी–गद्य का उत्थान

भारतेन्दु-युग—भारतेन्दु-युग को हम हिन्दी-गद्य का बाल-काल मानते हैं। इस काल में जो गद्य लिखा गया उसमें व्याकरण सम्बन्धी दोष थे, अशुद्धियाँ थीं, भाषा परिमार्जन नहीं आ पाया था, वाक्य अधूरे और अटपटे रह जाते थे और यदि यह कह दिया जाये कि भाषा ने निश्चित रूप धारण नहीं किया था तो कुछ अनुचित न होगा। ऐसी भाषा में ठोस विषयों पर वैज्ञानिक लेख नहीं लिखे जा सकते थे परन्तु फिर भी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण जी मिश्र, बद्री नारायण चौधरी, 'प्रेमघन' तथा अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि ने कुछ सुन्दर लेख लिखे हैं। जहाँ तक निबन्ध के प्रारम्भिक इतिहास का संबन्ध है यह लेख बहुत महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु उनकी तुलना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इत्यादि के निबन्धों के साथ हम नहीं कर सकते।

द्विवेदी-युग—(महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का समय) —इस काल में भाषा ने अपने व्याकरण सम्बन्धी दोषों को दूर किया। अपना एक परिमार्जित स्वरूप बनाया और उसके शुद्ध निखरे हुए स्वरूप पर लालायित होकर विद्वानों ने अपनी लेखनी उठाई। इस काल में छापेखानों का भी प्रचार बढ़ा, हिन्दी में पत्र-पत्रिकाएं भी प्रकाशित हुईं और उनके सहयोग से विद्वानों को एक दूसरे के विचारों में पैठने का सुगम मार्ग दिखाई दिया। इस काल में नाटक, निबन्ध, कहानियाँ, उपन्यास इत्यादि सभी दिशाओं में साहित्य ने प्रगति की। श्री गोविन्द नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, महावीर

प्रसाद द्विवेदी तथा माधव प्रसाद मिश्र इस काल के प्रमुख लेखकों हैं।

नवीन-युग—(वर्तमान-काल)—वर्तमान काल में भाषा में से व्याकरण और भाषा सम्बन्धी दोष सभी दूर हो जाते हैं। भाषा में शक्ति आजाती है उसमें किसी भी प्रकार के विचारों को पूर्ण स्वतन्त्रता साथ स्पष्ट रूप से खोल कर लिखा जा सकता है। इस काल भाषा की विभिन्न शैलियों का विकास हुआ। यों तो इन शैलियों की रूप-रेखा प्राचीन काल से ही अपने बिगड़े-सुधरे रूप में चलती चली आ रही थी परन्तु इस काल में आकर उन शैलियों ने अपना अपना स्पष्ट रूप धारण कर लिया। इस काल में अंग्रेजी साहित्य का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा बहुत से विषय अंगरेजी से हिन्दी लिये गये और उन पर अनेकों ग्रन्थों की रचनाएं हुईं, अनुवाद तथा मौलिक दोनों ही रूप में। बंगाली साहित्य का भी प्रभाव हिन्दी पर कम नहीं हुआ। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों को हिंदी ने अनुवाद करने के पश्चात् अपना करके अपनाया है बंकिम, शरत् और टैगोर बाबू की हर रचना को हिन्दी में प्रस्तुत किया गया और बड़े चाव से पढ़ा भी गया।

पं० पद्मसिंह जी शर्मा, बाबू श्याम सुन्दर दास, जयशंकर प्रसाद, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मुन्शी प्रेमचन्द; गुलाबराय एम० ए० जैनेन्द्र कुमार, रामनाथ 'सुमन' प्रभाकर माचवे, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राम-कृष्ण दास, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रसाल, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, श्री सुदर्शन, नलिनी मोहन सन्याल, भगवती चरण वर्मा, उग्र, डा० पीताम्बर दत्त, डा० रामविलास, शाँतिप्रिय द्विवेदी, अमृत-लाल नागर, नरोत्तम प्रसाद नागर, भगवती प्रसाद बाजपेयी, डा० रामरतन भटनागर 'हसरत' इत्यादि लेखकों का इस काल के गद्य लेखन में प्रधान हाथ है। आप लोगों की रचनाएं अपने परिमार्जित रूप में

सामने आई हैं और उनमें वर्तमान काल के विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

गद्य की विवेचना—आज का हिन्दीगद्य इसमें सन्देह नहीं कि पीछे की अपेक्षा काफ़ी निखरे रूप में, विशाल रूप में और गाम्भीर्य के साथ उन्नति के पथ पर अग्रसर है, परन्तु फिर भी उसमें अभी अनेकों विषयों को अपने अन्दर खपा लेने की क्षमता अधूरी दिखाई देती है। हिन्दी गद्य का जो विकास हुआ उसमें प्रधान क्षेत्र कहानी, उपन्यास, और नाटक, बस इन्हीं तीन धाराओं में मिलता है। कुछ और आगे चलें तो 'गद्य काव्य, कुछ इतिहास, कुछ निबन्ध तथा कुछ यात्राएं लिखी हुई आपको मिल जायेंगी इनके अतिरिक्त अन्य विषयों पर न लेखकों ने लिखने का यत्न ही किया और न पाठकों प्रकाशकों को ही किसी प्रकार की उत्तेजना दी। अन्य विषयों को हिन्दी गद्य अपने हाथों में न संभाल सका। इसका एक दूसरा कारण यह भी रहा कि अभी तक हिन्दी राज-भाषा नहीं थी और स्कूल कालिजों में पढ़ाई जाने वाली अन्य विषयों की सब पुस्तकें अंगरेजी में ही पढ़ाई जाती थीं। हिन्दी के सामने यह कठिनाई आज स्वाधीन राज्य स्थापित हो जाने पर भी उतने ही प्रखर रूप में है। क्योंकि दुर्भाग्यवश राष्ट्र के प्रधान कर्णधार अंगरेजी संस्कृति में ही पले हैं और वह उनके दिलों में इतनी बुरी तरह बस गई है कि उन्हें भारतीयता में आते हुये भय मालूम देता है।

ऊपर कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी-गद्य का विकास प्रधानतया ललित कलाओं के ही रूप में हुआ और लेखकों ने भी प्रधानतया अपनी शक्ति को उसी दिशा में लगाया। इस काल में यदि और विषयों पर भी कुछ लिखा गया है तो उसमें भी ललित कला की ही पुट मिलती है। निबन्ध, लेख, इतिहास, जीवनियां कोई भी उस प्रभाव से वंचित नहीं रह पाया है।

निवन्धों की रचना—निबन्ध गद्य का एक विशेष अंग है जो न भावनाओं में बहकर लिखा जाता है और न जिसमें कल्पना के ही घोड़े दौड़ाये जाते हैं। निबन्ध लेखक का भाषा, शब्दावलि और विचारों पर समान अधिकार होना आवश्यक है। अच्छे निबन्ध में न व्यर्थ के शब्दों का मायाजाल होना चाहिए और न कल्पनाओं का चमत्कार ही। वहाँ तो वास्तविक सत्य को उचित शब्दों में गूंथ कर नपे-तुले विचारों का सामंजस्य करना होता है।

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य संस्कृत साहित्य की देन न होकर पूर्ण-तया अंगरेजी की देन है यह स्वीकार करने में भारतीयता-प्रेमियों को संकोच नहीं होना चाहिए। संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार के निबन्धों का कहीं पर भी साहित्य में खोज नहीं मिलता। निबन्ध शब्द का अर्थ प्राचीन साहित्य में जोड़ने या बांधने से था। वर्तमान कालीन पंडितों ने इस शब्द का प्रयोग (essays) से कर लिया। यह समय की प्रगति है और कालान्तर में इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग में अन्तर हो ही जाया करता है। अब 'निबंध' का अर्थ केवल परिभाषा में यही समझ लिया गया है कि यह वह साहित्य का अंग है जो विचारों, भावों और उनके स्पष्टीकरण को एक सूत्र में बांध ले। लेख, प्रबन्ध और निबन्ध यह तीनों शब्द अर्थों में कुछ-कुछ समानता रखते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि निबन्ध से प्रबन्ध शब्द अधिक व्यापक है और प्रबन्ध की अपेक्षा लेख।

'रचना' शब्द अपने अन्दर वही अर्थ रखता है जो अँगरेज़ी शब्द कम्पोज़ीशन (Composition) का है। शब्दों का वाक्य में वह गठन जिसका अर्थ स्पष्ट हो और सुगमता से समझ में आसके 'रचना' कहलाता है। इसी लिये यह शब्द ऊपर दिये गये सभी शब्दों के साथ प्रयुक्त हो सकता है जैसे :—प्रबन्ध-रचना, कविता-रचना इत्यादि।

निबन्ध किसे कहते हैं ?

निबंध की परिभाषा—वर्तमान निबन्ध की परिभाषा प्राचीन परिभाषा से पूर्णतया भिन्न है। प्राचीन निबन्धों में हमें लेखक की किसी विषय अथवा विषयाँश पर अपूर्ण विचारावलि मिलती है। न उनमें सुगठन है और न किसी प्रकार का परिमार्जन है। एक प्रकार के छिछलेपन के साथ-साथ भावनाओं का बहाव मिलता है। परन्तु आज के लेखक के विचार सन्तुलित होकर चलते हैं। न उनमें व्यर्थ का बहाव ही है और न विषय का एकांगी विवेचन ही। आज का लेखक विषय पर पूर्ण गहनता के साथ नपी-तुली विचारावलि में नपे-तुले शब्दों में निबन्ध की रचना करता है। न वह विषय से बाहर निकल कर दृष्टाँतों की ओर भागता फिरता है और न शब्दों के जाल जंजाल में व्यर्थ का चक्कर लगाने का ही उसके पास समय है। वह तो थोड़े शब्दों में केवल अपनी बात भर कह जाना चाहता है, अपने सम्पूर्ण ज्ञान को एकत्रित करके। डाक्टर जान्सन (अंगरेजी साहित्य के प्रसिद्ध निबन्धकार) के शब्दों में निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार है :—

"मानसिक विश्व का 'निबन्ध' वह थका हुआ बुद्धि-विलास है जिसमें न कोई क्रम है और न कोई नियम। यह विचारों की अधूरी और अव्यवस्थित रचना मात्र है।"

परन्तु आज के जगत में डाक्टर जान्सन की ऊपर दी गई परिभाषा केवल अधूरी ही नहीं सर्वथा निरर्थक सिद्ध हो चुकी है। आज की निबन्ध परिभाषा इसके पूर्णतया विपरीत है। निबन्ध उसी को कहते हैं जिसमें किसी भी विषय पर विचारों का परिमार्जित स्पष्टीकरण लेखक ने किया हो। निबन्धों में प्रधानतया व्यक्तिगत विशेषता रहती है परन्तु बनावटी वातावरण उपस्थित करके नहीं, पूर्ण स्वाभाविकता के साथ; बस यही लेखक की शैली का गुण माना जायेगा। निबंध

में विचारों की शुष्कता और दुरूहता भी इतनी अधिक नहीं होनी चाहिए कि वह पाठकों के हृदय को अपनी ओर खींच ही न सके। हरीनाथ जी टंडन एम० ए० निबन्ध के विषय में लिखते हैं :—

"निबंध लिखना अभ्यास से ही आता है। निबंध लेखक के ज्ञान की कसौटी है। उथला या पांडित्य-प्रदर्शन के भाव से लिखा गया अथवा उलझे हुए भावों से बोझिल निबंध व्यर्थ होता है। निबंध शब्द का अर्थ है 'बँधा हुआ'। अतः थोड़े से, अत्यन्त चुने हुए शब्दों में किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने के प्रयत्न को ही निबंध कह सकते हैं। निबंध के विषयों की कोई सीमा नहीं है। आकाश-कुसुम से लेकर चींटी तक निबंध का विषय हो सकता है।

"निबंध के लिए यह आवश्यक है कि पूरे निबंध का रूप एक हो। प्रत्येक निबंध के आदि, मध्य और अन्त का विभाजन ठीक-ठीक होना चाहिए। निबंध का आरम्भ ऐसे सुन्दर ढंग से होना चाहिए कि उसे पढ़ते ही पढ़नेवालों की उत्सुकता बढ़े और वह आपसे आप उसे पूरा पढ़ डालने के मोह को संवरण न कर सके। इसके अतिरिक्त लेखक को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि पाठक ज्यों-ज्यों उसके निबंध को पढ़ता चला जाय, लेख के आरम्भ में ही उसे ऐसी सामग्री मिल जाय, जिससे उसकी यह धारणा हो जाय कि उसे इस लेख में मौलिक ढंग से लिखी हुई कुछ मनोरंजक और विचार-पूर्ण बातें पढ़ने को मिलेंगी। निबंध का मध्य निबन्ध का सबसे अधिक विस्तृत भाग होता है। आदि से इसका संबंध होना चाहिए और इसके सभी सिद्धान्त वाक्य एक-एक करके निश्चित परिणाम की ओर झुके होने चाहिए।

निबंध के मध्य में ही लेखक पाठक को अपने तर्क समझाने का प्रयत्न करता है। निबंध के अंतिम अंश के संबंध में लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि निबंध अनायास न समाप्त हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो वह पाठक को रुचिकर न होगा और उसकी शैली को दूषित

प्रमाणित करेगा। निबंध की समाप्ति ऐसी होनी चाहिए कि उसे समाप्त कर देने पर भी उसकी विचार-धारा के मूल भाव पाठक के मन में बार-बार आते रहें, और वह निबंध तो अत्यन्त ही सफल माना जायगा जिसका अन्त ऐसा हो कि पाठक का ध्यान एक बार फिर लेखक के तर्क-पूर्ण संगत भावों की ओर आकर्षित हो जाय और वह गुण और दोष दोनों के संबंध में एक निश्चित मत दे सके।

निबंध के आदि, मध्य, अंत तीनों को पदों में शीर्षकों के अनुसार विभाजित करना चाहिए। पद चाहे बड़े हों या छोटे सबका संबंध एक दूसरे से होना चाहिए। पदों में छोटे और बड़े दोनों प्रकार का प्रयोग आवश्यकतानुसार होना चाहिए। जहाँ बात समझानी हो या विषय कठिन हो, वहाँ वाक्य का लम्बा हो जाना कोई दोष नहीं है। केवल छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग से निबंध में अस्पष्टता आजाने की सम्भावना बनी रहती है। समय और स्थान के अनुसार दोनों प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करना उचित होगा।"

निबन्ध की आवश्यकता—किसी भी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिये यदि पाठक उस विषय के एक दो निबन्ध पढ़ लेता है तो उसे इच्छित ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पाठक के विचार से निबन्ध की आवश्यकता केवल वहीं पर समाप्त हो जाती है। एक विषय पर एक पुस्तक भी लिखी जासकती है और एक निबन्ध भी। एक अनुभवी लेखक एक छोटे से निबन्ध में एक मोटी पुस्तक की सभी बातों को संक्षेप में इस प्रकार लिख देता है कि योग्य पाठक उसे पढ़कर अपना सब मतलब हल कर सके, और उस विषय का उसका ज्ञान कम समय में पूर्ण होजाये। इस प्रकार निबन्ध एक लेखक और पाठक के बीच का वह माध्यम है जिसके द्वारा किसी विषय पर एक के विचार पूर्ण जानकारी के साथ दूसरा जानकार लाभ उठा सकता है। निबन्ध की यही आवश्यकता है और निबन्ध लेखन का यही आशय है। केवल

जानकारी के अतिरिक्त लेखक पाठक के हृदय में एक खोज करने और देखने भालने की जिज्ञासा भी उत्पन्न कर देता है। मानलो एक पाठक ने एक निबन्ध पढ़ा जो कि लेखक आगरे के ताजमहल पर लिखा है। यह लेख पाठक को बहुत पसंद आया और उसके हृदय में ताज-महल को जाकर देखने की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। इस प्रकार निबंध मानव के ज्ञान की वृद्धि में एक विशेष साधन भी है और सहायक भी।

निबंध से हम सीखते हैं कि किस प्रकार हम अपनी मानसिक शक्तियों को सीमित करके उनका विकास करें? एक व्यक्ति यदि चाहे कि वह सभी चीजों को अपनी ही आँखों से देख सके तो यह उसके लिए असम्भव है। निबन्धों के द्वारा व्यक्ति को दूसरे के अनुभवों से भी वही लाभ होता है जो वह अपने अनुभव से प्राप्त कर सकता है। उसका समय कम लगता है और थोड़े से ही समय में वह निबन्धों की सहायता से बहुत बड़ा ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

निबन्ध का क्षेत्र—निबन्ध के विषय पर विचार करते समय हमें यह पूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए कि इसकी कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। निबन्ध अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र है। यह हर विषय पर लिखा जा सकता है। कहानी हर विषय पर नहीं लिखी जा सकती, कविता हर विषय पर नहीं की जा सकती, उपन्यास हर विषय पर नहीं लिखा जा सकता परन्तु एक निबन्ध है कि उसके लिए किसी भी दिशा में कोई रूकावट नहीं। यह अपने नपे-तुले शब्दों में एक तार्किक तथा वास्तविक दृष्टिकोण से हर विषय पर लिखा जा सकता है। पृथ्वी से लगाकर आकाश तक जितनी भी वस्तु हैं, चाहे वह आँख से दिखलाई देती हों या न देती हों, चाहे वह साक्षात् कुछ वस्तु हों या केवल मानव की विचार धारा मात्र ही, सभी पर निबन्ध लिखा जासकता है। निबंध का क्षेत्र बहुत व्यापक है। यदि यह कह दिया जाय कि इसके क्षेत्र में और ईश्वर के क्षेत्र में कोई अन्तर नहीं तो कुछ

अनुचित न होगा। कोई भी छोटे से छोटा विषय निबंधकार को आकर्षित कर सकता है और उस छोटे से छोटे विषय पर सुन्दर से सुन्दर निबन्ध लिखा जा सकता है।

प्रारम्भिक निबंध—किसी भी निबन्ध के विद्यार्थी को पहिले चाहिए कि वह ऐसे विषयों पर निबन्ध लिखना प्रारम्भ करे कि जिन विषयों से उसका निकटतम सम्बन्ध हो। जिन विषयों का उसे आद्योपाँत ज्ञान हो और जिनका विश्लेषण वह बहुत सुगमता पूर्वक कर सके। यदि उस विषय पर लेखक का ज्ञान अपूर्ण है तो उसका निबन्ध भी कभी पूर्ण नहीं हो सकता और पाठक पर भी उसके कहने का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। निबन्ध के विद्यार्थी को चाहिए कि वह उन विषयों को छाँटे कि जिनका सम्बन्ध उसके नित्य के जीवन से रहता है। उन विषयों का उसके जीवन पर क्यों प्रभाव पड़ता है और किस प्रकार वह विषय उसके जीवन में घटित होकर एक हो गये हैं। जब कुछ ऐसे निबन्ध लेखनी से निकल जायें तब चाहिये कि वह कुछ गूढ़ विषयों को ले, और लिखने से पूर्व उन विषयों पर अन्य प्राचीन लेखकों के लिखे गये लेख अथवा निबन्धों को पढ़े। उन्हें पढ़ने के उपरान्त यह विचार करे कि उन लेखकों ने उन विषयों के साथ कितना न्याय और कितना अन्याय किया है? फिर कुछ विचारशील व्यक्ति के नाते न्याय और अन्याय को काट छाँट करके अपनी रचना लिखनी आरम्भ करे। जो लेख इस प्रकार लिखा जायेगा वह सर्वश्रेष्ठ लेखों की कोटि में गिना जायेगा। योंही कलम लेकर किसी भी विषय पर कुछ घसीट डालना, लेख लिखना अथवा निबन्ध लिखना नहीं कहलाता, यह है केवल धोखा अपने लिये और अपने पाठकों के लिए।

निबन्ध का नामकरण—निबन्ध के विषय में यह समस्या उतनी जटिल नहीं जितनी नाटक, कविता, उपन्यास अथवा कहानी के विषय में होती है। कारण स्पष्ट ही है कि निबन्ध का पहिले विषय

चुना जाता है और फिर निबंध लिखा जाता है। सौ में निन्यानवें प्रतिशत यही होता है और कविता, कहानी इत्यादि में पहिले रचना हो जाती है और बाद में नाम की खोज करनी होती है। इसलिये नामकरण का प्रश्न निबन्ध के क्षेत्र में बहुत सुगम है, अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। नाम में निबन्ध का पूर्ण अर्थ निहित रहता है।

निबन्ध का ढाँचा—निबन्ध का रूप एक वृक्ष के समान यदि मान लिया जाए तो कुछ अनुचित न होगा। जिस प्रकार वृक्ष के सधारणतया सभी अंग प्रत्यंग आवश्यक होते हैं उसी प्रकार निबन्ध की दशा है। यदि लेखक ने किसी विषय पर निबन्ध लिखते समय किसी प्रधान अंग को छोड़ दिया तो निबन्ध अधूरा रह जायगा। जिस प्रकार पेड़ के जड़ होती है, तना होता है टहने होते हैं, शाखायें होती हैं और फिर पत्ते तथा फल-फूल इत्यादि होते हैं उसी प्रकार निबन्ध के भी भाग और उपभाग होते हैं। उनमें से किसी के साथ भी यदि लेखक ने न्याय नहीं किया तो लेख की उपयोगिता और उसका सौंदर्य दोनों ही जाते रहेंगे। इसलिए निबन्ध लेखक को चाहिए कि वह निबन्ध-रचना करने से पूर्व विषय का पूर्ण रूप से विश्लेषण करले, और फिर क्रम से विषय के अंग प्रत्यंगों पर विचार करे। व्यर्थ के लिए किसी छोटे अंग पर अपनी अधिक जानकारी होने के कारण तूल न दे और इसी प्रकार जानकारी के अभाव में किसी प्रधान अंग को यों ही लटकता हुआ न छोड़ दे। लेखक को चाहिये कि वह विषय के अंग प्रत्यंगों की विशेषताओं को पूरी तरह समझे और फिर उन पर विचार पूर्वक आवश्यकतानुसार प्रकाश डाले।

निबन्ध लिखने का ज्ञान—निबन्ध लिखने का ज्ञान प्राप्त करने के लेखक के पास कई साधन होते हैं। सबसे पहिला साधन जो उसके पास हर समय रहता है वह है उसकी पुस्तकें। पुस्तकों के द्वारा लेखक-प्राचीन काल तक का ज्ञान हो जाता है। प्राचीन का ज्ञान

प्राप्त करने के लिये पुस्तकों से अच्छा लेखक के पास और कोई साधन नहीं होता।

लेखक के पास दूसरा साधन ज्ञान प्राप्ति का है देश देशांतरों का भ्रमण, प्राचीन इमारतों को देखना, प्राचीन शहरों की सैर करना, दूर के नगरों में जाना, वहां की भाषा रहन-सहन और व्यवहार का पता चलाना और उनमें घुल मिल कर उनका अनुभव प्राप्त करना। यह दूसरा साधन पहिले से छोटा अवश्य है परन्तु यह अधिक वास्तविक है और ज्ञान-वृद्धि के लिए प्रत्यक्ष वस्तु लाकर लेखक के सामने प्रस्तुत करता है। इसके द्वारा लेखक को निजी अनुभव प्राप्त होता है, जो सर्वदा सुनी और पढ़ी बातों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना गया है और माना जायेगा।

तीसरा साधन है लेखक की पैनी दृष्टि और उसकी कल्पना, जिस के आधार पर वह बहुत सी वस्तुओं को देखकर अपने अनुभवों द्वारा कुछ ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है जो साधारण जगत के व्यक्ति नहीं कर सकते। सत्संग भी ज्ञान प्राप्ति का एक साधन है परन्तु यह ऊपर दिये गए दूसरे साधन के अन्तर्गत आजाता है क्योंकि भ्रमण में व्यक्ति सत्संग भी करेगा और कुसंग भी और उसे दोनों ही प्रकार का अनुभव भी होगा।

निबन्ध के प्रमुख अंग—निबन्ध के प्रधानतया तीन प्रमुख अंग माने गये हैं, या यों भी कह सकते हैं कि एक अच्छे निबन्ध का यदि विच्छेदन किया जाये तो उसे तीन प्रधान अंगों में बांटा जा सकता है। (१) प्रस्तावना (२) प्रसार और (३) परिणाम।

प्रस्तावना (Introduction) प्रस्तावना में एक पटु लेखक लेख की ऐसी भूमिका प्रस्तुत करता है कि पाठक उसकी ओर आकर्षित हो और लेख के प्रधान तत्वों की सुनहरी झांकी प्राप्त कर सके। प्रस्तावना मात्र को ही पढ़ कर लेखक की योग्यता का अनुमान किया

जा सकता है। प्रस्तावना को सांसारिक शब्दावलि में लेख अथवा निबन्ध की बानगी कहना चाहिये। इस बानगी से ही लेख का रहस्य खुल जाता है। आज के काल में सिनेमा का बहुत बोलबोला है। इसलिये सिनेमा की शब्दावलि में ट्रेलर का जो महत्व है बस समझ लीजिये निबन्ध में प्रस्तावना का उससे किसी दशा में कम महत्व नहीं है। प्रस्तावना बहुत संतुलित शब्दावलि में, सुबोध वाक्यों में, एक साधारण प्रवाह के साथ बहती हुई प्रसाद गुण वाली होनी चाहिये। उसमें आकर्षण होना चाहिये और साथ २ वह अधिक लम्बी भी नहीं होनी चाहिए। वह इतनी लम्बी न हो कि पाठक उस से ऊब कर निबन्ध को ही पढ़ने का साहस न कर सके। इसमें आकर्षण और सुरुचि की विशेष आवश्यकता है।

प्रसार—यह लेख का प्रधान अंग है। इसी के आधार पर प्रस्तावना और परिणाम अपना अस्तित्व रखते हैं। यदि यह न हो तो लेख ही समाप्त हो जाये। जिस प्रकार किसी मनुष्य के सिर और पैरों को संभालने के लिये उसके धड़ का होना अनिवार्य है उसी प्रकार प्रस्तावना और परिणाम को मिलाने के लिये बीच के उस प्रसार की आवश्यकता है। निबन्ध की सफलता और असफलता प्रधानतया इसी पर अवलम्बित है। विषय का विश्लेषण निबन्ध के इसी भाग के अन्तर्गत होता है। लेखक की योग्यता और प्रतिभा का प्रतीक भी यही अंश है, दूसरे अंशों में तो केवल झांकी मात्र ही मिल पाती है पूर्ण पता नहीं चलता। निबन्ध के इस भाग पर लेखनी उठाने से पूर्व लेखक को चाहिये कि पहिले वह विषय की पूरी जानकारी प्राप्त कर ले और विषय का पूर्ण विभाजन करके संकेतों को किसी स्थान पर अंकित करले। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो उसका लेख इधर-उधर अस्त-व्यस्त धाराओं में बहने लगेगा और फिर इन सभी धाराओं का परिमार्जन करना उसकी शक्तिसीमा से दूर की बात बन

जायेगा। उसे फिर लेख के सभी तत्वों को एकत्रित करने में कठिनाई होगी और लेख बेडौल होकर भद्दा दिखने लगेगा। इसलिए लेखक को चाहिए कि वह पहिले लेख की रूप-रेखा निश्चित करे। इस रूप-रेखा को खूब विचार कर निश्चित करना चाहिये और निश्चित करने के पश्चात् भी संकेतों पर एक बार फिर दृष्टि डाल लेनी चाहिये। इस बीच में यदि कोई फिर नई बात याद आजाये तो उसे भी लिख लेना चाहिये। रूप-रेखा के सभी संकेत क्रमबद्ध होने चाहिये—उनका सिलसिला टूट जाने पर निबन्ध का सौंदर्य नष्ट होने की संभावना रहती है। प्रधान विचार और गौण विचार एक नियम के साथ आपस में सम्बन्धित रहने चाहियें। हर विचार को पृथक् पृथक् स्थान देना चाहिये न कि सब को एक ही अनुच्छेद में ठूंस कर भर दिया जाये।

प्रधान विचारों का स्पष्टीकरण भी अधिक बलशाली होना आवश्यक है। उनके सिद्ध करने के लिए प्राचीन लेखकों के उदाहरण देना और लोकोक्तियों तथा मुहावरों की सहायता लेना उपयुक्त रहता है। जिस मत का भी निबन्धकार प्रतिपादन करना चाहता है उसे अच्छे प्रकार विचार कर करना चाहिये। बिना विचारे लिखने से लेखक अपनी प्रतिष्ठा खो बैठता है। निबन्ध में उतार-चढ़ाव आना आवश्यक है परन्तु वह उतार-चढ़ाव बिलकुल ऊबड़-खाबड़ भूमि की भाँति न बन जाना चाहिये कि जिस पर चल कर पाठक मार्ग ही भूल जाये और चलते चलते अपनी टाँगें भी तुड़ा बैठे और फिर भी किसी निश्चित स्थान पर न पहुँच सके। इस संकेत के पश्चात् राही को उसका उचित स्थान दृष्टिगत होना चाहिये।

परिणाम (Conclusion)—यह निबन्ध का अंतिम भाग है और इसका महत्व निबन्ध के प्रारम्भिक भाग से किसी प्रकार कम नहीं होता। जिस प्रकार प्रस्तावना को पढ़ कर लेखक के हृदय में

निबन्ध पढ़ने की जिज्ञासा बलबती होती है उसी प्रकार इस भाग को पढ़कर लेखक को यह अनुभव होना चाहिये कि उस विषय का जितना भी ज्ञान है वह पाठक प्राप्त कर चुका है और अब उस विषय पर कोई भी बात जाननी उसके लिये शेष नहीं रही। यदि यह भाग पढ़ने के उपरान्त भी पाठक के मन को शाँति न मिल सकी और उसकी जिज्ञासा बराबर बनी रही और उसने यह अनुभव किया कि अभी भी उसका ज्ञान उस विषय पर अपूर्ण ही है तो यह निबन्ध की कमज़ोरी मानी जायेगी। इस भा लेखक अपने समस्त लेख का निचोड़ लाकर रखता है। यदि यह कह दिया जाय कि यह उसका संक्षिप्त निबन्ध ही होता है तो भी बात ठीक ही कही जाती है और यही परिणाम लिखने का सब से सुगम ढंग भी है। कुछ लेखक निबन्ध के अंत में उपदेशात्मक प्रवृत्ति ग्रहण कर लेते हैं। यह प्रवृत्ति भी एक ठोस लेखक के लिये अधिक उपयुक्त नहीं मालूम पड़ती और इस प्रकार के लेखों को पढ़कर समझदार पाठकों में भी एक चिढ़न सी पैदा हो जाती है। धार्मिक निबन्धों में महात्माओं द्वारा लिखे जाने पर यह प्रवृत्ति कभी कभी रुचिकर भी होती है और भक्त लोग उन अंशों को पढ़कर बड़े ेम से गर्दन हिला हिला कर प्रशंसा करते हैं। बहुत से लेखक परिणाम का भार पाठकों पर भी छोड़ देते हैं। वह केवल विषय का प्रतिपादन मात्र करना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। यह ढंग भी एक सुन्दर ढंग है जिसमें पाठकों को स्वयं विचार करने के लिये स्वतन्त्रता मिल जाती है और इस प्रकार उनके मस्तिष्क का भी कुछ व्यायाम हो जाता है।

निबन्धों के प्रकार

ऊपर हमने यह विचार किया कि निबन्ध की क्या परिभाषा है? निबन्ध की क्या आवश्यकता है? निबन्ध का कौनसा क्षेत्र है? निबन्ध

लिखना किस प्रकार प्रारम्भ करना चाहिये ? निबन्ध का नाम किस प्रकार रखा जाना चाहिये ? निबन्ध का ढाँचा किस प्रकार तैयार करना चाहिये ? निबन्ध की सामग्री जुटाने के लिये लेखक को किन-किन साधनों को प्रयोग में लाना चाहिये ? और निबन्ध के क्या क्या प्रमुख अंग होते हैं ? अब हमें विचार करना है कि निबंध कितने प्रकार के लिखे जा सकते हैं या दूसरे रूप में यह समझिये कि आज तक लिखे गये निबंधों को यदि हम विभाजित करें तो कितने प्रकार बन सकते हैं, अथवा उनके कितने भेद बनाये जा सकते हैं ? निबंध को हम पीछे कह चुके हैं कि यह निस्सीम है । साहित्य का यह अंग अपना विस्तार किसी दिशा में स्वच्छंदता से कर सकता है । इस लिये ऐसी निस्सीम वस्तु को सीमा में बांधना कोई सरल कार्य नहीं परन्तु फिर भी विद्वानों ने उसके प्रकार बनाने का प्रयत्न किया है और बहुत हद तक वह उसमें सफल भी हुए हैं । यह प्रकार निम्नलिखित हैं:—

(१) वर्णनात्मक निबन्ध ।
(२) कथात्मक निबन्ध ।
(३) विचारात्मक निबन्ध ।

वर्णनात्मक निबन्ध—वर्णनात्मक निबन्ध वह कहलाते हैं जिन में किसी वस्तु विशेष, प्रकृति विशेष, नदी विशेष, पशु विशेष इत्यादि का सजीव वर्णन किया जाये । इन निबन्धों में वह विचार अथवा भाव लिखे जाते हैं जिन की प्राप्ति लेखक को अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होती है । रेल, जहाज़, तार, मोटर, बम, तोप, बन्दूक, नगर, ग्राम, किला, मन्दिर, मस्जिद, कुतुबमीनार, ताजमहल, मकबरे अर्थात् मनुष्य की बनाई तथा प्रकृति की बनाई सभी वस्तुओं का वर्णन इस प्रकार के निबन्धों के अंतर्गत आता है । इस प्रकार के निबन्धों में वस्तुओं तथा घटनाओं का वर्णन एक रोचक ढंग से किया जाता है ।

नोट—निबन्ध लिखने का ढंग हम ऊपर दे चुके हैं। विद्यार्थियों को चाहिये कि इस प्रकार के निबन्धों को लिखने में भी ऊपर दिये गये साधनों को प्रयोग में लायें।

कथात्मक निबन्ध—कथात्मक निबन्ध वह कहलाते हैं जिनमें प्राचीन अथवा अर्वाचीन, सत्य अथवा काल्पनिक कथाओं का वर्णन किया गया हो। इनमें ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, सम्मेलन, जीवनियाँ, यात्रायें, इत्यादि कथाओं के वर्णन होते हैं। कथात्मक और वर्णनात्मक निबन्ध में एक सबसे बड़ा अंतर यह है कि वर्णनात्मक निबन्ध में अधिकतर सत्य ही की मात्रा अधिक रहती है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही लिखा जायेगा। उदाहरण के लिये यदि एक कुत्ते का वर्णन किया जा रहा है तो उसके विषय में यह नहीं लिखा जा सकता है कि उस कुत्ते के पांच टांगें थीं, तीन कान थे और दो मुंह थे। परन्तु जब कथात्मक लेख लिखा जा रहा है, तो उसमें लिखा जा सकता है कि वह देवताओं का कुत्ता था और जब वह दौड़ता था तो हवा में उड़ने लगता था और जब वह अपने शिकार पर झपटता था तो ऐसा प्रतीत होता था कि वह अपने शिकार को चार मुंह से चीर-फाड़ रहा है, इत्यादि इत्यादि। कथात्मक निबन्ध में कार्य और कारण का सम्बन्ध दिखला कर एक घटना के बाद दूसरी घटना का क्रम से वर्णन करना चाहिये। कथात्मक निबन्ध की कथा को लिखते समय कथा के हर भाग को स्पष्ट करके लिखना चाहिये और कथा का तारतम्य कहीं पर भी टूटना नहीं चाहिये। आगे बढ़ने पर पिछली कथा को बार बार संक्षिप्त रूप में सामने रखकर पाठक के मस्तिष्क में उसे ताजा करते रहना चाहिये जिससे पाठक को आने वाली कथा समझने में कठिनाई न हो।

विचारात्मक निबन्धः—विचारात्मक निबन्ध वह कहलाते हैं जिनमें किसी आकार विहीन समस्या पर विचार किया जाये। उदा-

हरण के लिये जैसे क्रोध, लोभ, मोह, चिंता, दया, अहिंसा, जागृति, दीनता, दुर्बलता, बल, सौंदर्य, कुरूपता, जिज्ञासा, अहंकार, नारी-शिक्षा, ममता, प्रलोभन, बेरोज़गारी, पूँजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, कविता, कला, निबन्ध, लेखनकला, चित्रकारी, नाटक, नर्तन, परोपकार, देशप्रेम, देश-द्रोहिता, व्यापार, आलोचनाएं इत्यादि विषय विचारात्मक निबन्धों के ही क्षेत्र में आते हैं। इन विषयों का सम्बन्ध बुद्धि से है। इन निबन्धों को लिखते समय विषय का बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया जाता है और विवेचन द्वारा प्राकृतिक नियमों को खोज कर कुछ सिद्धान्त निश्चित करने होते हैं। फिर उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर लेखक अपने निबन्ध का मार्ग निर्धारित करता है। इस प्रकार के निबन्ध लिखने में उसे कोई भी किसी प्रकार का स्थूल आश्रय नहीं मिलता, केवल बुद्धि के बल पर ही उसे अपना कार्य करना होता है। लेख लिखने से पूर्व लेखक को चाहिये कि वह विषय के मूल-तत्वों की खोज कर ले, यदि वह ऐसा करने में असमर्थ रहा तो वह कुछ भी नहीं लिख पायेगा और विषय ज्यों का त्यों रह जायेगा। वर्णनात्मक और कथात्मक निबन्धों में लेखक कुछ न कुछ बिना जानकारी के भी लिख सकता है परन्तु विचारात्मक निबन्धों में यह असम्भव है।

कुछ निबन्ध-कला के विद्वान् निबन्धों का एक चौथा प्रकार भी मानते हैं और वह है तार्किक-प्रकार। परंतु यह विचारात्मक के ही अंतर्गत आ जाता है क्योंकि तर्क विचार का एक अंग है और बिना विचार के तर्क हो ही नहीं सकता। इस लिये इस प्रकार के लेखों को जो तर्क-प्रधान हों उन्हें भी विचारात्मक निबन्धों की ही कोटि में गिनना चाहिये।

निबन्ध लेखन की शैलियाँ

शैली क्या है—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं निबन्ध-रचना लेखक इस लिये करता है कि वह अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचा सके। इन विचारों को दूसरों के पास पहुँचाने के लिये लेखक को भाषा का आश्रय लेना होता है। बिना भाषा के निबन्ध नहीं लिखा जा सकता और जब निबन्ध ही नहीं लिखा जा सकता तो एक के विचार दूसरे के पास तक नहीं पहुँच सकते। इससे यह निश्चय हुआ कि निबन्ध के लिये पहिली आवश्यक वस्तु हुई भाषा।

निबन्ध के लिखने के लिये दूसरी आवश्यक वस्तु है वह विषय जिस पर कि उसे प्रकाश डालना है। इस विषय के बिना भाषा भी व्यर्थ ही सिद्ध होती है क्यों कि जब लेखक के पास कुछ लिखने के लिए विषय ही नहीं है तो फिर बेचारी अकेली भाषा ही भला क्या कर सकेगी ?

इस प्रकार लेखक भाषा और विषय दोनों के समन्वय से निबंध तैयार करता है और अपने विचारों को पाठकों तक पहुँचाता है।

अब इस निबन्ध के बनाने में तीसरी वस्तु आती है लेखक की विषय छाँटने की रुचि और भाषा लिखने का ढँग। इन्हीं दो बातों के आधार पर लेख अथवा निबन्ध की शैली का निर्माण होता है। या यों भी कह सकते हैं कि लेख अथवा निबन्ध की शैली के विचार से निबन्ध के विषय अथवा उसकी भाषा के आधार पर ही बांटा जा सकता है।

साहित्यिकों ने शैली का गूढ़ अर्थ भी लिया है। ऊपर जो हमने लिखा है वह हिन्दी के साधारण विद्यार्थियों के शैली शब्द का परिचय और उसका साधारण अर्थ समझाने के लिये लिखा है। शैली का अर्थ है प्रणाली अथवा ढंग (जिस प्रकार कोई रचना लिखी गई है।)

साहित्यिक शैली विचारों के उस स्पष्टीकरण को कहते हैं जिस अभिव्यक्ति में विषय के अन्दर रोचकता, रमणीयता और आकर्षण पैदा हो जाये। रीति, ध्वनि, अलंकार, शब्द-शक्ति इत्यादि यह सब शैली के ही सहायक अंग हैं और इन्हीं के बल पर शैली अपना निखरा हुआ रूप पाठकों के सामने रख पाती है।

शैली के सहायक अंग

१. अलंकार—शैली के सौंदर्य को बढ़ाने में बहुत सी बातें अपना महत्व रखती हैं। अलंकार भी उनमें से एक है। यों यदि कोई लेखक अपने लेख में केवल अलंकारों की ही भरमार करके यह विचार करने लगे कि बस वह एक सफल लेखक हो गया और उसने अपनी एक सुन्दर शैली बना ली तो यह उसका भ्रम मात्र ही होगा। किसी भी वस्तु का संतुलन के साथ आना ही सर्वदा सौंदर्य को बढ़ाता है और अधिक हो जाने पर सौंदर्य नष्ट होने लगता है। इसलिये एक सफल शैलीकार सर्वदा उचित अलंकारों का प्रयोग अपने निबन्ध की भाषा में करता है और इस प्रकार उसकी शैली मँज भी जाती है और रोचक भी बन जाती है। "जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं,उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसके उत्कर्ष को बढ़ाते और रस,भाव और आनन्द को उत्तेजित करते हैं।" (बाबू श्याम-सुन्दर दास

२. ध्वनि चमत्कार—एक अच्छा लेखक हमेशा जिन शब्दों का प्रयोग करता है उन्हें वह पहिले देखता है कि उनके लिखने पर कहीं कोई ध्वनि दोष उत्पन्न होकर वह भाषा कटु तो नहीं लगने लगेगी। संगीत का मानव के जीवन में एक विशेष स्थान है। संगीत विहीन जीवन नीरस और शुष्क माना जाता है। न उसमें किसी प्रकार की लोच ही रहती है और न सहृदयता ही। इसका ध्वनि से विशेष

सम्बन्ध है। इसलिये एक अच्छे लेख में अच्छी ध्वनि वाले शब्द प्रयुक्त होकर उस लेख की शैली को चार चाँद लगा देते हैं और उस लेख का सौंदर्य बढ़ जाता है।

३. अर्थ चमत्कार—बहुत से लेखक अपनी भाषा में ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं कि जिनके कई-कई अ र्थ निकलते हैं। एक एक शब्द पर वह श्लेष रखते हैं और हर शब्द का अर्थ इतना महत्त्व-पूर्ण बना देते हैं कि विद्वान् पाठक उस लेख को पढ़कर नाचने लगता है, उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठता है और उसका मन लेखक के प्रति श्रद्धा से झुक जाता है। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करना साधारण लेखक के बूते की बात नहीं होती। यह वही कर सकता है जिसे भाषा पर पूर्ण अधिकार हो और शब्दों के अनेक अर्थों को इस प्रकार प्रयोग कर सकता हो जिस प्रकार साधारण लेखक साधारण शब्दों का प्रयोग किया करते हैं। महाकवि केशवदास और कविवर बिहारी अपने इसी गुण के कारण आज हिन्दी की प्रसिद्ध विभूतियों में ऊँचा स्थान पाये हुए हैं।

४. वाक्य सौंदर्य—लेख की वाक्य योजना सुन्दर और गठी हुई होनी चाहिये। उसका हर वाक्य ऐसा होना चाहिये कि पाठक के नेत्रों के सम्मुख अपने कहे गये आशय का चित्र खड़ा करता चला जाये। एक वाक्य में अनेकों विचारों का प्रभाव नहीं पैदा करना चाहिये बल्कि एक ही विचार पर प्रकाश डालना चाहिये। यदि एक-एक वाक्य में कई-कई विचारों को ठूँसने का प्रयास किया जायेगा तो सौंदर्य तो नष्ट हो ही जायेगा साथ ही अर्थ का भी अन र्थ हो जायेगा और पाठक यह समझने में भी असमर्थ रहेगा कि वास्तव में लेखक का वास्तविक अभिप्राय क्या था? वाक्य छोटे और स्पष्ट होने से निबन्ध का सौंदर्य स दा बढ़ेगा।

शैली के गुण और दोष

गुण—शैली के सौंदर्य को बढ़ाने वाले जितने भी साधन ऊपर दिये गये हैं वह सभी शैली के गुणों से सम्बन्ध रखते हैं; परन्तु उन सबका सीधा सम्बन्ध शैली के ऊपरी भाग से है भीतरी भाग से नहीं। अब हम शैली की आत्मा को देखते हैं और उस विचार से भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर शैली के तीन प्रधान गुण माने जाते हैं। वह तीनों निम्नलिखित हैं :—

१. ओज—जो रचना तेजस्वी हो, जिसे सुनकर अथवा पढ़ कर भुजदंड फड़क उठें और शरीर में कँपकंपी आने लगे वह ओज प्रधान रचना कहलाती है। इस शैली में उग्रता की प्रधानता रहती है और इससे वीर, वीभत्स और रौद्र रस का संचार होता है।

२. प्रसाद—यह शैली का दूसरा गुण है। इस गुण में सरलता प्रधान रूप से पाई जाती है और सभी रसों की रचनाओं में इस शैली का प्रयोग किया जा सकता है। इसके लक्षण हैं सरलता, सरसता और सुगमता।

३. माधुर्य—यह शैली का तीसरा गुण है। इस प्रकार की शैली से शृंगार, शांत और करुण रस की रचनायें लिखी जाती हैं। यह माधुर्य प्रधान शैली होती है और कटुता का आभास भी इसमें नहीं मिलता। यह वह शैली है जिसे पढ़कर पाठक आनंद से खिल उठता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी कुछ-कुछ इसी प्रकार शैली के गुणों का विभाजन किया है। उनका विभाजन निम्नलिखित है :—

१. सरलता—जब लेख को व्यापक बनाने के लिये लेखक सरल भाषा, सरल शब्द और सरल विचारों का प्रयोग करता है तो वह इस प्रथम गुण से युक्त शैली में लेख लिखता है। वह न पाठक को कठिन शब्दों के जाल में फँसाने का प्रयत्न करता है और

न वाक्यों को ही ऐसा घुमाफिरा कर जाल बना देता है कि पाठक उसमें उलझकर यह तो कह उठे कि लेखक कोई पंडित है परन्तु उसके हाथ पल्ले कुछ न पड़ सके।

२. स्वच्छता—इस शैली के आधार पर लेखक गूढ़ से गूढ़ अपनी विचारावलियों को इतनी स्पष्टता से खोल कर पाठक के सामने रखता है कि वह नित्य की जीवन में आने वाली साधारण घटनाओं की भाँति उन्हें समझ लेता है और उसे समझने में कोई कठिनाई भी नहीं होती।

३. स्पष्टता—शैली का यह वह तीसरा गुण है जिससे आश्चर्य से लेखक पाठक के हृदय में घर कर लेता है; अपनी बात को उसकी बात बता कर उसके हृदय में उतारता है। स्वच्छता के साथ स्पष्टता मिला कर लेखक पाठक के बिलकुल निकट पहुँच जाता है।

४. प्रभावोत्पादन—यह गुण शैली में उस समय पैदा होता है जब किसी लेखक की रचना इतनी महत्वपूर्ण बन सके कि पाठक उसे अपने जीवन-पथ के लिये प्रभावित होकर मार्ग द्रष्टा के रूप में अंगीकार कर सके।

दोष—शैली के सौंदर्य को कम करने वाले जितने भी साधन होते हैं वह दोष कहलाते हैं। साहित्य के विद्वानों ने निम्नलिखित दोष छाँटे हैं:—

(१) कठिन भाषा और कठिन शब्दों का प्रयोग करना।

(२) निरर्थक लम्बे-लम्बे वाक्य लिखकर पाँडित्य छाँटना।

(३) वाक्यों या शब्दों से उचित अर्थों का स्पष्ट न होना।

(४) कई कई बार एक शब्द का प्रयोग करना।

(५) ग्रामीण शब्दों का प्रयोग करना।

(६) व्याकरण सम्बन्धी गलतियों का होना।

(७) वाक्यों का आपसी संबन्ध ठीक न जुड़ना।

(८) अनुच्छेद में तो कई-कई भावों का आ जाना और किसी में एक भी भाव का स्पष्ट न होना।

(९) कठोर शब्दों का बार-बार प्रयोग करना।

(१०) स्थानोपयुक्त भाषा का प्रयोग न करना।

(११) लेख का तारतम्य ठीक न बाँधना।

(१२) विचारों का ठीक प्रकार से सम्बन्ध स्थापित न करना।

शैलियों के प्रकार

जैसा कि हम ऊपर 'शैली क्या है' शीर्षक के अंतर्गत कह आये हैं शैली का विभाजन दो प्रकार से किया जाता है; एक विषय या विचार प्रधान शैलियाँ और दूसरी भाषा प्रधान शैलियां। इसका एक तीसरा विभाजन भी यहां कर देना उचित होगा और वह है व्यक्ति प्रधान शैलियाँ। कुछ शैलियाँ ऐसी मिलती हैं कि जिनमें व्यक्ति विशेष की छाप दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार की रचनायें कोई व्यक्ति विशेष ही लिख सकता है। जहां भाषा के एक दो वाक्य पढ़े और पता चला कि यह पंक्तियाँ तो हो न हो आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी की लेखनी द्वारा लिखी हुई मालूम पड़ती हैं। यह विशेषता बहुत कम लेखकों में पाई जाती है और बहुत कम लेखक ही इस प्रकार अपनी शैली पर अपनी छाप डाल सकते हैं। अब पहिले हम भाषा प्रधान शैली को ही लेते हैं।

भाषा प्रधान शैलियाँ—भाषा-प्रधान शैली वह कहलाती है कि जिसका अन्य शैलियों से पार्थक्य केवल उसकी भाषा के स्वरूप के ही कारण हुआ हो। भाषा का ज्ञान हर व्यक्ति का पृथक्-पृथक् होता है और हर लेखक का भाषा प्रयोग करने का ढंग भी दूसरे से भिन्न ही होता

है। केवल इसी तत्त्व के आधार पर यह भेद स्थापित किया गया है। भाषा-प्रधान शैली को भी पंडितों ने कई उपभेदों में विभाजित किया है। वह सब निम्न प्रकार हैं:—

१. सरल-भाषा शैली—थोड़े में बहुत कुछ कह जाने वाली इस शैली में कठिन शब्दों का प्रयोग न करके सरल शब्दों का प्रयोग किया जाता है। पांडित्य प्रदर्शन बिल्कुल नहीं होता और स्पष्ट भावों को स्वच्छता के साथ लिखा जाता है। घुमाव-फिराव के लिये इस शैली में कोई स्थान नहीं और ना ही किसी साधारण सी बात को बढ़ा-चढ़ा कर शब्द जाल में फाँस कर इतना महत्व पूर्ण ही बना दिया जाता है कि पाठक उसे चमत्कार समझने लगे। छोटे-छोटे शब्दों से छोटे २ वाक्यों का निर्माण किया जाता है और छोटे छोटे वाक्यों के छोटे छोटे अनुच्छेद बनाए जाते हैं। एक एक भाव को एक-एक अनुच्छेद में इस प्रकार पिरोया जाता है कि जिस प्रकार माली किसी धागे में फूलों को पिरो कर माला तैयार करता है।

गुम्फित-शैली—इस शैली में लम्बे-लम्बे और उलझे हुए वाक्यों का प्रयोग होता है। साधारण बात को भी घुमा-फिरा कर शब्द जाल में ऐसा बना दिया जाता है कि पाठक पर लेखक के पांडित्य की छाप लगे और फिर लगे। इस शैली का प्रयोग साधारण विद्वान् नहीं कर सकता। ऐसे लेखक का भाषा पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए और यदि ऐसा न हुआ तो उसका लेख केवल हास्य की सामग्री मात्र ही रह जाएगा।

३. मुहावरे-प्रधान शैली—इस प्रकार की शैली में निबन्धों की भाषा सरल होती है; परन्तु उसमें स्थान स्थान पर मुहावरों, उदाहरणों और सूक्तियों का प्रयोग किया जाता है। पाठक को इस शैली के निबन्ध समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती। साधारण सी बात मुहावरों और सूक्तियों का आश्रय पाकर चमत्कृत हो उठती

है। हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द जी की शैली यही थी, इसी लिये उनकी रचनाओं को पाठक बड़े चाव से पढ़ते हैं। इससे लेखक को केवल इतना ही ध्यान रखना आवश्यक है कि वह मुहावरों इत्यादि का ठीक ठीक उपयोग करे और उनकी इतनी भरमार न कर डाले कि उनकी छाया में समस्त निबन्ध और विषय ही छुप जाये।

४. अलंकार-प्रधान शैली—यह उस प्रकार की शैली होती है जिस प्रकार की भाषा में केवल अलंकरों की ही प्रधानता रहती है। इसके तीन भेद भी किये जा सकते हैं एक शब्दालंकार-प्रधान दूसरी अर्थालंकार-प्रधान और तीसरी वह कि जिसमें दोनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया गया हो। इस विषय पर हम ऊपर शैली के सहायक अंग शीर्षक के अंतर्गत प्रकाश डाल चुके हैं इसलिए यहाँ पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

५. उक्ति-प्रधान शैली—यह शैली ऊपर दी गई सभी शैलियों से गूढ़ होती है इसी लिये इसे कुछ विद्वान् केवल गूढ़ शैली के नाम से भी पुकारते हैं। इस प्रकार की शैली में लेखक शब्दों की लक्षणा तथा व्यंजना शक्ति का प्रयोग करता है। जिस बात को भी वह कहना चाहता है सीधा न कहकर किसी पर ढालते हुए ही कहता है।

ऊपर शैली के जिन प्रधान प्रकारों पर विचार किया है वह केवल भाषा के ही आधार पर हैं। शैली के इस रूप-विभाजन में केवल भाषा सम्बन्धी विशेषताओं पर ही आश्रित होना पड़ा है। अब हम पाठकों के सम्मुख विषय अथवा विचार सम्बन्धी आधार पर शैली का विभाजन करेंगे। शैली के अन्य प्रकार निम्न लिखित हैं:—

१. विचार-प्रधान शैलियाँ—इस प्रकार की शैली में भाषा का गौण स्थान होता है और विचार तथा भावों का प्रधान। विचार-प्रधान शैली में या तो व्यक्तिगत विचार होते हैं या उस विषय से

सम्बन्ध रखने वाले विचार कि जिस पर निबन्ध लिखा जा रहा है।' इसीलिये इन दोनों प्रकार की शैलियों के नाम भी व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान शैलियां रखा गया।

२. व्यक्ति-प्रधान शैली—व्यक्ति-प्रधान शैली वह है जिसमें किसी व्यक्ति विशेष के भावों का, उसकी क्रियाओं का और उसकी मनोवृत्तियों का जीता-जागता-चित्रण पाठक को मिल सके। इस प्रकार के लेखों में जीवन की वह छाप मिलती है कि पाठक के सामने उसका चित्र आकर खड़ा हो जाता है।

इस शैली में लेखक अपनी मनोवृत्तियों को प्रथम पुरुष के रूप में पाठकों के सामने रखता है। इस शैली का यह रूप हमें कहानी, उपन्यास, नाटक इत्यादि में देखने को मिलता है।

३. विषय-प्रधान शैली—विषय-प्रधान शैली में व्यक्ति की विशेषता नहीं रहती। जब लेखक अपने व्यक्ति से ऊपर उठकर विषय में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे अपनी सुधि ही नहीं रहती तो उस लेख में से व्यक्ति-प्रधानता समाप्त हो जाती है और विषय-प्रधानता आ जाती है। लेखक उस समय अपने को विषय में खो बैठता है और उसकी हर विचार शक्ति केवल विषय में ही तल्लीन हो जाती है। विज्ञान और आलोचना सम्बन्धी विषयों में हमें यह शैली प्रायः देखने को मिलती है। इस शैली में व्यक्ति छुपा रहता है और केवल विषय की प्रधानता रहती है।

४. आलोचनात्मक-शैली—आलोचनात्मक शैली के अंतर्गत केवल आलोचना ही आती है, वह चाहे व्यक्ति की हो, चाहे विषय की हो, चाहे इतिहास की हो अर्थात वह हर विषय की हो सकती है। इस शैली के क्षेत्र में कोई भी संसार की ऐसी वस्तु नहीं है जो न आ सके और आलोचना के क्षेत्र से उसे बाहर किया जा सके।

संक्षिप्त—इस प्रकार हमने ऊपर शैली का साधारण विवेचन किया है। यदि पाठक इस विवेचना पर ध्यान देंगे तो उन्हें किसी भी निबन्ध को पढ़ने पर यह निश्चय कर लेने में अधिक समय नहीं लगेगा कि यह निबन्ध किस शैली के अंतर्गत रखा जा सकता है। अब शैली का प्रकरण समाप्त करते हैं।

हिन्दी में निबन्धों का विकास

हिन्दी में निबन्धों का बाल-युग उसी समय प्रारम्भ होता है जब हिंदी गद्य का उत्थान प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी के युग से ही छोटे २ लेखों का लिखना प्रारम्भ हुआ। यहां यह कहना असत्य न होगा कि हिंदी का विकास अंग्रेजी के संपर्क से हुआ। जब उस काल के अंग्रेजी भाषा के विद्वानों का ध्यान अपनी मातृ-भाषा की तरफ़ गया तो उन्हें ध्यान आया कि इसका समुन्नत करना भी उनका कर्त्तव्य है। पाश्चात्य देश के विद्वानों ने भी इस कार्य में सहयोग दिया और खोज करके प्राचीन ग्रंथों का पता लगाया। इसी काल में मुद्रण-कलों का भी युग प्रारम्भ हुआ और अन्य भाषाओं की भांति हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन कुछ विद्वानों ने किया। इन पत्र-पत्रिकाओं में लेख छपने शुरु हुए और यहीं से हिंदी निबन्ध-कला का भी जन्म हुआ।

हिंदी साहित्य के लिये निबन्ध एक बिलकुल नई वस्तु थी। संस्कृत साहित्य में कहीं पर भी वर्तमान निबन्ध के प्रकार की रचना नहीं मिलती। कविता, कहानी, उपन्यास तथा नाटकों से हिंदी परिचित थी परन्तु निबन्ध से नहीं। यही कारण था कि निबन्ध के विकास में कला के ऊपर दिये गये अन्य भेदों की अपेक्षाकृत अधिक समय लगा और उनमें वह सौन्दर्य और परिपक्वता भी न आ पाई जो नाटक

तथा कविता इत्यादि में आई। भाषा क्यों कि शिथिल थी इस लिये निबन्ध लिखने में और भी कठिनाई हुई।

भाषा के परिमार्जन की ओर विद्वानों का पूरा २ ध्यान था परन्तु फिर भी भाषा के दोषों का एक दम दूर हो जाना कोई साधारण कार्य नहीं था। धीरे २ साहित्य की प्रगति के साथ २ भाषा की भी प्रगति चलती रही। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने ही सब से पहले हिन्दी गद्य में निबन्ध रचना की। इस युग के अन्य प्रसिद्ध निबन्धकार राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, राजा लक्ष्मणसिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बद्रीनारायण, पं० अंबिकादत्त व्यास इत्यादि हैं। इस काल में राजनैतिक, सामाजिक तथा कुछ अन्य विषयों के निबन्ध लिखे गये। साहित्यिक निबन्ध बहुत कम लिखे गये हैं। इस काल के प्रत्येक लेखक के लेखों में शैली के विचार से उसके व्यक्तित्व की छाप है। भाषा भावपूर्ण और अलंकृत दोनों ही प्रकार की है।

१. भारतेन्दु जी—आपके निबन्ध शिष्ट तथा नागरिक ढंग के हैं। आपने भाषा तथा भाव दोनों को परिमार्जित किया।

२. पं बालकृष्ण—इनकी भाषा में उर्दू फारसी तथा अंग्रेजी तीनों भाषाओं के शब्दों की भरमार है। आँख, नाक, कान, तथा कल्पना, आत्म निर्भरता इत्यादि इनके निबन्धों के विषय हैं। लेख चमत्कार प्रधान हैं। आपने मिश्रजी की अपेक्षा अधिक लिखा है। चन्द्रोदय इनका प्रसिद्ध निबन्ध है।

३. पं० प्रताप नारायण मिश्र—इनकी शैली विनोद पूर्ण है। कहावतों का प्रयोग अधिक मिलता है। गाम्भीर्य कम है। "भरे को मारै, इसे रोना समझो चाहे गाना, शाह मदार" इत्यादि इनके निबन्धों के विषय हैं। शिवमूर्ति, धरती माता, खुशामद इत्यादि सुधारात्मक निबन्ध भी आपने लिखे हैं।

४. अम्बिका प्रसाद व्यास—इनके निबन्ध विचार-प्रधान हैं। धर्म, क्षमा, ग्रामवास इनके निबन्ध के विषय हैं।

द्वितीय युग—इस काल तक भाषा परिमार्जित हो चुकी थी और लेखकों ने काफ़ी गम्भीर विषयों पर लेखनी उठानी प्रारम्भ कर दी थी। इस युग के प्रवर्तक श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी जी थे। भाषा की व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियों को द्विवेदी जी ने अपनी प्रखर लेखनी द्वारा काट छाँट कर निबन्धोपयुक्त बना दिया और साथ ही साथ अन्य लेखकों को भी इस दिशा में प्रोत्साहित किया। इस काल के प्रधान लेखक श्री पं० गोविन्द नारायण मिश्र और श्री बाल मुकुन्द गुप्त तथा पं० माधव प्रसाद जी थे।

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी—आपने भाषा की अपंगता, स्थूलता और शिथिलता को नष्ट किया। आपकी लेखन प्रणाली सरल, सुबोध और प्राञ्जल थी। इस में कल्पनाओं की उड़ान थी और थी अनुभूतियों की सरलता। आपने सैंकड़ों मौलिक निबन्ध लिखे हैं और अनुवाद भी किये हैं।

२. गोविन्द नारायण मिश्र—आप के निबन्ध विचार-प्रधान हैं। कठिन शब्दों का प्रयोग आपकी भाषा में मिलता है।

३. बाल मुकुन्द गुप्त—आरम्भ में उर्दू लेखक होने के कारण आपके निबन्धों में उर्दू की छाप वर्तमान है। 'शिव शम्भु का चिट्ठा' आपके निबन्धों का संग्रह है।

४. पं० माधव प्रसाद—आप के निबन्ध भाव-प्रधान हैं। आप की शैली सरल है और उसमें प्रवाह बहुत अच्छा है।

५. मुं० प्रेम चन्द—आपके निबन्ध बहुत कम लिखे हैं। परन्तु इनकी शैली अपनी विशेषता रखती है और जो कुछ भी उन्होंने लिखा है वह समय, भाषा, और शैली के विचार से विशेष उल्लेखनीय है।

तृतीय-युग—इस युग को निबन्धों का प्रधान युग कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। यह वह युग है जब भाषा प्रौढ़ हो चुकी थी और इसके परिमार्जन में किसी प्रकार की भी कोई व्याकरण सम्बन्धी अथवा अन्य किसी प्रकार की कोई कमी नहीं रह गई थी। यह काल सन् १६२१ के पश्चात आता है। इस काल में कला-पक्ष तथा भावना पक्ष दोनों ही प्रकार के लेख लिखे गये। लेखकों ने प्राय: सभी शैलियों और असंख्यों विषयों पर अपनी लेखनी उठाई और सफलता पूर्वक हिंदी साहित्य में निबन्धकोष की पूर्ति की। इस काल को नवीन-काल कहा जाता है। सरदार पूर्ण सिंह, पं० पद्म सिंह, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्याम सुन्दर दास बी० ए०, जयशंकर प्रसाद, वियोगी हरी, गुलाबराय एम० ए०, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, रायकृष्ण दास, रामनाथ सुमन, महा देवी वर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, जैनेन्द्र कुमार इत्यादि इस काल के प्रमुख निबन्धकार हैं।

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—ऊपर दिये गये निबन्धकारों में सब से अधिक प्रधानता आप को ही प्राप्त हुई है। इनके निबन्धों पर इनकी स्पष्ट छाप है। मानसिक विश्लेषण आप से अच्छा अन्य कोई लेखक नहीं कर पाया। आप के निबन्ध तर्क और चिंतन-प्रधान हैं। सूर तुलसी तथा जायसी की आपने विशद आलोचना की है और वह अपना पृथक् स्थान रखती है। आपके निबन्धों से गाम्भीर्य और पांडित्य टपकता है। 'चिंतामणि' इनके निबन्धों का संग्रह है।

२. पं० पद्म सिंह—आप के निबन्धों में विचारों की मार्मिक व्यंजना है और भाषा सजीव है। आप के लेखों में संवेदना का प्राधान्य होता है।

३. सरदार पूर्ण सिंह—आप के निबन्ध भावात्मक हैं। भाषा मंजी हुई है और मुहावरों का प्रयोग पर्याप्त है। भाषा में लाक्षणिक प्रयोग बहुत है।

४. श्याम सुन्दर दास—आप की शैली में प्रवाह की कमी है। भाषा कहीं कहीं कठिन और कहीं बहुत सरल भी है। इनकी शैली बल पूर्वक बनी हुई है। उसमें स्वाभाविकता का अभाव है, प्रवाह नहीं है।

५. जयशंकर प्रसाद—भाषा संस्कृत गर्भित है परन्तु शैली में प्रवाह है और जीवन भी। उनके विचार और भाषा दोनों में चमत्कार है। साधारण पाठक इनके निबन्धों को पढ़ कर आनन्द लाभ नहीं कर सकता।

६. वियोगी हरि—आपके निबन्ध सरल हैं और भाषा प्रांजल है।

७. गुलाबराय—आपके निबन्ध कला-पूर्ण हैं और उनकी भाषा में गाम्भीर्य है। निबन्धों में चिंतन के लिए भी स्थल होते हैं। आपके लेखों में स्वाभाविकता का अभाव है परन्तु फिर भी कहीं कहीं पर उनमें सहृदयता भी मिलती है। आपके निबंधों में पांडित्य प्रदर्शन अधिक मिलता है और कहीं कहीं पर तो भावों को गम्भीर बनाने के लिए ही क्लिष्ट भाषा का प्रयोग कर दिया जाता है। आपके निबन्ध विचारात्मक तथा आलोचनात्मक होते हैं।

८. रायकृष्ण दास—आपकी भाषा बहुत सुन्दर होती है और कठिन शब्दावली प्रयोग करने का प्रयत्न कम दिखलाई देता है। निबन्ध हृदय-प्रधान होते हैं।

६. महादेवी वर्मा—भाषा में प्रवाह है, सरलता है। निबन्धों में अनुभूति है। तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग आपकी भाषा में मिलता है इसलिए साधारण पाठकों के लिए वह नहीं होते।

१०. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—इनके निबन्ध गम्भीर होते हैं और उनमें अध्ययन के लिए सामग्री अधिक होती है। साहित्य, इतिहास और दर्शन इनके निबन्धों के विषय हैं।

११. जैनेन्द्र कुमार—भाषा स्वाभाविकता लिए हुए है। गम्भीर विषयों का भी सरलता पूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

नोट—ऊपर दिये गये निबन्धकारों के अतिरिक्त रामदास गौड़, सियारामशरण गुप्त, सम्पूर्णानन्द, रघुवीरसिंह, हरिभाऊ उपाध्याय, किशोरीलाल मश्रु वाला, काका कालेलकर इत्यादि ने भी विशेष दिशाओं में निबन्ध लिखे हैं।

निबन्ध-साहित्य का भविष्य:—ऊपर हिन्दी साहित्य में निबन्धों के उत्थान और प्रसार पर एकदृष्टि डाली गई है। जितने थोड़े समय में जितनी शीघ्रता के साथ निबन्ध-साहित्य ने प्रगति की है उससे यह स्पष्ट ही है कि आगामी युग में निबन्ध-साहित्य का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। मनन-शील विद्वानों की संख्या हिन्दी साहित्य में बढ़ रही है और साथ ही हिन्दी राष्ट्र भाषा होने के कारण हिन्दी का प्रचार भी सभी दिशाओं में होता जा रहा है। इसलिये भविष्य में निबन्ध भी केवल कुछ सीमित ही विषयों पर न होकर बहुमुखी होंगे और उनमें गाम्भीर्य भी पहिले की अपेक्षा अधिक आने की संभावना है। ऐसा होने पर निबन्धों के पढ़ने का क्षेत्र केवल विद्यार्थियों से बढ़कर अन्य व्यक्तियों में भी होने लगेगा। विचारकों को चाहिए कि वह ऐसी समस्याओं पर अपने विचार प्रकट करें कि जो सर्वसाधारण पढ़े-लिखों के हाथों में जाकर उनमें भी निबन्ध पढ़ने की अभिरुचि पैदा कर दें। निबन्धों की उन्नति में सरकार का रेडियो-विभाग भी काफी कार्य कर रहा है और वहाँ से विभिन्न विषयों पर सुन्दर निबन्ध पढ़े जाते हैं।

साहित्यिक-निबन्ध

वीरगाथा साहित्य पर एक दृष्टि

हिन्दी साहित्य के इतिहास-पंडितों ने भाषा के इतिहास को चार भागों में विभाजित किया है। वीरगाथा-काल, भक्ति-काल, रीति-काल तथा आधुनिक काल। इस प्रकार वीरगाथा-काल का स्थान इन चारों कालों में ऐतिहासिक दृष्टि कोण से सर्व प्रथम आता है। इस काल का समय संवत् १०५० से १३७५ तक माना गया है और यह भाषा के उत्थान और क्रमिक विकास के विचार से बहुत महत्वपूर्ण काल है।

जिस समय यह काल प्रारम्भ होता है उस समय भारतवर्ष में व्यवस्थित राज्य-सत्ता का अभाव था और समस्त देश छोटे छोटे मन-चले राज्यों मे विभाजित हो रहा था। प्रत्येक राज्य का पृथक पृथक निरंकुश राजा था और वह अपनी मनमानी आकाँक्षाओं के अनुसार राज्य करता था। राजे सभी प्राय: वीर थे परन्तु संगठन न होने के कारण देश बहुत दुर्बल बना हुआ था और इसी लिये विदेशियों की लालच भरी दृष्टि भारत की धन सम्पत्ति पर जमी हुई थी। भारत के राजाओं की शक्तियों का ह्रास आपस में लड़ भिड़ कर होता जा रहा था और एक दूसरे की कन्याओं को बल पूर्वक स्वयंम्बरों में से भगा लाना मात्र ही केवल उनके युद्ध कौशल के प्रदर्शन का क्षेत्र था। इस प्रकार आपस में वैमनस्य बढ़ाकर अपनी शक्तियों का अपव्यय करना ही उनका गौरव बन गया था।

हिन्दी कविता इस काल में केवल दर्बारों में पलती थी और कवि लोग विशेष रूप से चारण होते थे जिनका उद्देश्य अपने आश्रय दाता

वीर राजाओं का गुणगान गाना होता था। देश में फूट थी, दुर्बलता थी, विलासिता थी, आलस्य था परन्तु फिर भी वीर राजाओं का एक दम ह्रास नहीं हो गया था। इसी समय वीर पृथ्वीराज दिल्ली का राज्याधिकारी हुआ परन्तु स्वयंम्बरों से डोला उठाकर लाने वाली प्रथा से अपने को मुक्त वह भी न कर सका। संयोक्ता का डोला उठाकर लाने का मूल्य उसे क्या देना पड़ा यह भारत निवासी युग-युग तक नहीं भुला सकेंगे।

इस काल में हिन्दी का जितना भी साहित्य सृजन हुआ वह विशेष रूप से दो ही रसों से ओतःप्रोत था, एक श्रृंगार तथा दूसरा वीर रस। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस काल में वीरता का प्रदर्शन भी श्रृंगार के आश्रित ही होकर चलता है, अर्थात् श्रृंगारिक भावनाओं की पूर्ति के लिये ही वीरता का प्रदर्शन किया जाता था और कवियों ने भी अपने नायकों में दोनों ही गुणों की प्रधानता दिखलाई है। इसलिये इस काल के कवियों के नायक रसिक भी हैं और वीर भी। रसिकता उनका प्रधान गुण है और उस रसिकता के क्षेत्र में आने वाली बाधाओं को जड़ मूल से उखाड़ फैंकने के लिए उन्होंने अपने बल कौशल तथा पराक्रम का प्रयोग किया है। इस काल के प्रायः सभी ग्रन्थ नाम मात्र के सुनने तथा देखने से ऐतिहासिक से प्रतीत होते हैं परन्तु यदि उनको आद्योपाँत पढ़कर देखा जाये तो उनमें ऐतिहासिकता का अभाव पाया जाता है। इन ग्रन्थों की कथाओं में केवल नाम के लिये ऐतिहासिकता रहती तो है—परन्तु वास्तव में सब कथायें आख्यायिकाओं पर आधारित हैं। कल्पना और कवि-स्वच्छंदता को उनमें विशेष स्थान दिया गया है। इन ग्रन्थों में अतिशयोक्तियों की इतनी भरमार है कि कहीं कहीं पर तो पाठक इस संसार को भूल कर आकाश में उड़ने लगता है और वास्तविकता उस समय उसे कोरा उपहास मात्र प्रतीत होती है।

इस काल के ग्रन्थों में वीरता पूर्ण युद्धों के बहुत सजीव चित्रण मिलते हैं और उन वर्णनों में जिन छन्दों तथा जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह वीर रस को व्यक्त करने में बहुत उपयुक्त सिद्ध हुए हैं। एक विशेष बात इस काल के ग्रंथों में कई कई प्रकार की भाषाओं का प्रयोग है और कभी कभी उसमें यह भी भ्रम हो जाता है कि वह ग्रन्थ उस समय और उस लेखक का लिखा हुआ भी है अथवा नहीं कि जिस काल में जिस लेखक द्वारा लिखित उन्हें माना जाता है। यही कारण है कि इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता के विषय में बहुत सन्देह है और भाषा वैज्ञानिकों को इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता जाँचने के लिये काफ़ी खोज करनी पड़ी है।

प्रायः सभी ग्रन्थ वीरगाथा काल में देशज और अपभ्रंश भाषा में लिखे गये हैं। दोहा, छप्पय, कवित्त तथा कुण्डलियां इत्यादि छन्दों का प्रयोग इन सब ग्रन्थों में है। काव्य प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनों ही प्रकार के पाये जाते हैं। उर्दू और फ़ारसी भाषा के शब्द भी इस समय की कविता में पाये जाते हैं।

इस काल के कवि केवल कवि ही नहीं होते थे वरन वह तलवार के भी वैसे ही धनी थे जैसे लेखनी के। इन चारण कवियों का कर्म साहित्य सेवा उतना नहीं होता था जितना स्वामि-सेवा और इसी-लिये वह रणक्षेत्र में जाकर युद्ध की आग में कूदना और नंगी तलवारें मचाना अपना कर्तव्य समझते थे। इनकी ओजस्विनी कविता वीरों में उत्साह का संचार करती थी और उन्हें युद्ध-क्षेत्र में सीना तान कर मतवाला बना देती थी। उनकी कविता को सुनकर योद्धाओं के भुज-दण्ड फड़कने लगते थे और वह सिरों पर कफ़न बाँध कर रण-भूमि में जूझ जाते थे।

हम्मीर रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका इस काल के अपभ्रंश काव्य हैं तथा विद्यापति की पदावली, खुसरू की पहेलियाँ, जयचन्द-प्रकाश,

पृथ्वीराज-रासो, खुमान-रासो, बीसलदेव-रासो, परमाल-रासो इत्यादि देशज भाषा में लिखे गये प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। इस काल का सबसे प्रसिद्ध कवि पृथ्वीराज रासो का लेखक चन्द्रबरदाई है। पृथ्वीराज तथा चन्द्रबरदाई इस काल के प्रतीक हैं। इन्हीं दो व्यक्तियों पर केन्द्रित होकर इस काल का निर्माण हुआ है।

भाषा, इतिहास और साहित्य तीनों ही दृष्टिकोणों से वीरगाथा-काल बहुत महत्वपूर्ण है। यह हिंदी भाषा का प्रारंभिक काल है जिस में देशभाषा का निर्माण और वीरता-पूर्ण काव्य का सृजन हुआ। परन्तु खेद की बात है कि वीरगाथा काल होते हुए भी इस समय का कोई पूर्ण ग्रंथ हमें ऐसा नहीं मिलता जिसमें स्वतन्त्रता या राष्ट्रीय भावना से पूर्ण विचार मिलते हों। इसका प्रधान कारण यही है कि इस काल में राष्ट्रीयता का सर्वथा अभाव था और कवि अपना उत्तरदायित्व देश अथवा राष्ट्र के प्रति न समझ कर उन शृंगारिक राजाओं के ही प्रति समझते थे जिनकी वीरता का प्रदर्शन भी राज-कुमारियों के डोलों पर ही अटका हुआ था।

वीरगाथा-साहित्य की विशेषतायें :—

१. इस काल के प्रधानतया सभी ग्रंथ शृंगार और वीररस प्रधान हैं।
२. इस काल के प्रायः सभी कवि दर्बारी थे और अपने अपने आश्रय-दाताओं की प्रशंसा मात्र ही उनके काव्यों के विषय थे।
३. इस काल के प्रायः सभी ग्रंथ ऐतिहासिक से प्रतीत होते हुए भी काल्पनिक हैं।
४. काव्यों में युद्धों का सुन्दर चित्रण है।
५. इस काल के ग्रंथों की भाषा और कथायें अभी तक संदिग्ध हैं और उनकी समकालीनता के विषय में विद्वानों में मतभेद है।
६. राष्ट्रीयता की भावना का इस काल में सर्वथा अभाव मिलता है।
७. छप्पय, दोहा और कवित्त छंदों में ओजपूर्ण कविता इस काल के

कवियों ने लिखी हैं ।

८. इस काल में प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य लिखे गये हैं।

९. भारत की शासन व्यवस्था अव्यवस्थित होने के कारण इतिहास में भी उच्छृंखलता का आभास मिलता है, सुसंगठन का नहीं ।

१०. भाषा परिमार्जित नहीं है, उसमें कई भाषाओं के शब्द हैं ।

हिन्दी में निर्गुण धारा

अथवा

संत साहित्य की एक झलक

भारत में सम्पूर्ण रूप से मुसलमान शासन-सत्ता स्थापित हो जाने पर हिन्दू गौरव और वीरता के लिये बहुत कम स्थान रह गया था। स्थान-स्थान पर देव मन्दिर गिराये जा रहे थे और उनके स्थान पर मस्जिदें बन रही थीं । मुसलमान पूरी तरह भारत-भूमि में बसते चले जा रहे थे, शासक और शासित होते हुए भी दो जातियों का एक दूसरी से सर्वथा पृथक रहकर जीवन निर्वाह करना कठिन था । इसलिये दिन प्रतिदिन इन दोनों को एक दूसरे के निकट आना पड़ा और आपस के मिलन की भावना को प्रचारित करने के लिए कुछ सन्त-कवियों ने इस काल में जन्म लिया ।

ऐसी परिस्थिति में देश के अन्दर एक 'सामान्य-भक्तिमार्ग' का विकास हुआ जिसमें हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने ही सहयोग दिया । इस 'सामान्य-भक्ति-मार्ग' के विकास का मार्ग वीरगाथा काल में ही सिद्ध और नाथ पंथी योगी निर्धारित कर चुके थे परन्तु उसकाल में उसे देश की अव्यवस्थित राजनीति होने के कारण, कोई व्यवस्थित रूप रेखा नहीं दी जा सकी थी । सिद्ध और नाथ योगियों के मत से वेद, शास्त्र, पूजा, अर्चा सब व्यर्थ था, ईश्वर को वह घट-घट

मानते थे, हिन्दू मुसलमान इनके निकट एक थे और वह जात-पाँत के भेद भाव में विश्वास नहीं रखते थे। इसी समय दक्षिण से आने वाली भक्ति की लहर ने भी हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रतिपादन किया और (सं० १३२८-१४०८) महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव ने भी इसी मत का प्रचार किया।

हिन्दी साहित्य में इस विचार को लेकर एक युग का निर्माण करने वाला व्यक्ति सन्त कबीर था। कबीर ने एक ओर तो निराकार ब्रह्म के निरुपण में भारतीय वेदान्त को अपनाया और दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में प्रेमतत्त्व का निरुपण करने के लिए सूफ़ी सिद्धाँतों का प्रतिपादन किया। नाथ पन्थियों के नीरस उपदेशों से शुष्क पड़े जनता के हृदयों में कबीर ने सूफ़ी प्रेम-भावना का स्रोत बहाकर उन्हें परिप्लावित कर दिया। कबीर ने अपनी कविता में मानवता के महान आदर्शों का निरुपण किया और जनता के हृदयों से जातीयता की संकुचित भावना को नष्ट करके प्रेम भावना भरने का भरसक प्रयत्न किया।

कबीर तथा अन्य निर्गुण-पन्थी संतों ने भक्ति तथा योग का संयोग करके कर्म के क्षेत्र में नागपन्थियों के ही सिद्धांतों को अपनाया। सन्तों के लिये ईश्वर का स्वरूप ज्ञान और प्रेम तक ही सीमित रहा। धर्म के क्षेत्र में वह पदार्पण नहीं कर सके। ईश्वर के जिस धर्म-स्वरूप को लेकर लोकरंजन की महान् भावना के साथ रामभक्ति शाखा का निर्माण गोस्वामी तुलसीदास ने किया उसका संत साहित्य में सर्वथा अभाव ही बना रहा।

संत कबीर का एकेश्वरवाद इस प्रकार एक अनिश्चित रूप को लेकर खड़ा हुआ, जिसमें कभी ब्रह्मवाद की झलक दिखाई देने लगती है और कभी पैगम्बरों के खुदावाद की। सँत कबीर का यह पंथ निर्गुण पंथ कहलाया। इस पंथ में जो प्रधान प्रगति पाई जाती है वह है एकता की भावना, जातिभेद, समाज भेद, स्थान भेद और काल भेद से

रहित । निर्गुण पंथ में हिन्दू और मुसलमानों ने समान रूप से आस्था रखी है । 'राम रहीम' की एकता का वर्णन संत कवियों ने उन्मुक्त कंठ से किया है ।

संत कवियों की वाणी इतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि वैष्णव कवियों की कविता में मिलती है । इसका प्रथम कारण यही है कि वह लोग ज्ञान और प्रेम को मिला कर जो विचार प्रकट करते थे उसे अटपटी भाषा में कहना उनके लिये कठिन हो जाता था । इस मत के प्रतिपादकों में विद्वत्ता का अभाव रहा है इसलिये साहित्यिक दृष्टि से उसमें उतना सौंदर्य नहीं आ पाया है जितनी विचारों की गहनता । संत कबीर ने रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा अपने भावों का प्रदर्शन किया है और कहीं कहीं पर भाव इतने गहन हो गये हैं कि उसका सही अर्थ लगाना कठिन हो जाता है ।

कबीर, रैदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादू दयाल, सुन्दर दास, मलूकदास, इत्यादि इस धारा के प्रधान कवि हैं ।

निर्गुण धारा की विशेषतायें :—

१. इस शाखा की विचारावलि रामानन्द जी के धार्मिक प्रचार से सम्बन्धित है ।
२. इस काल के प्रायः सभी कवियों की कविता में किसी न किसी सीमा तक रहस्यवाद की पुट पाई जाती है ।
३. यह लोग जीव को दुलहिन और परमात्मा को प्रियतम के रूप में मानते हैं ।
४. प्रेम का प्रतिपादन ज्ञान-मार्ग से जनता में सरसता पैदा करने के लिए किया गया है ।
५. कबीर का राम दशरथ-पुत्र राम न होकर निर्गुण ब्रह्म है ।
६. हठयोग और वेदान्तों की झलक इन कवियों की वाणी में यत्रतत्र मिलती है ।

७. हिन्दू और मुसलमानों में एकता प्रतिपादित करने का सभी सन्तों ने समान रूप से प्रयत्न किया है।

८. इनके साहित्य में मंडन की अपेक्षा खण्डन की प्रवृत्ति बहुत अधिक है।

९. इनकी कविता में खड़ी बोली, अवधी और पूर्वी तीनों का सुन्दर सम्मिश्रण है।

१०. काव्य विषयक सौंदर्य का सन्तों की कविता में सर्वथा अभाव है।

११. इनकी वाणी में स्पष्टवादिता आवश्यकता से अधिक है।

हिन्दी में सूफी प्रेम धारा

पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर १७ वीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी साहित्य में निर्गुण तथा सगुण दोनों ही धाराओं का प्रचार समान रूप से चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। निर्गुण भक्ति के क्षेत्र में जहां संत साहित्य का प्रसार दिखाई देता है वहां उसी के साथ साथ विशुद्ध प्रेम की भावना से ओतःप्रोत साहित्य भी मिलता है। इसे और अधिक स्पष्ट शब्दों में यों समझना चाहिये कि निर्गुण भक्ति धारा के दो पृथक पृथक रूप बन गये, जिस के पहले रूप का नाम ज्ञानाश्रयी शाखा पड़ा और दूसरी का प्रेमाश्रयी शाखा।

प्रेमाश्रयी शाखा विशुद्ध सूफ़ी सिद्धांतों के आधार पर हिन्दी कवियों ने अपनाई जिस के फल स्वरूप हिन्दी में प्रेम-आख्यायिकाओं के साहित्य में प्रादुर्भाव हुआ। इस शाखा के कवियों ने अपने प्रेम-मार्ग और उसके सिद्धांतों का प्रतिपादन कल्पित कहानियों द्वारा किया। कवियों ने लौकिक प्रेम में ईश्वरीय झलक डालने का प्रयत्न किया है और अपनी कविताओं में 'प्रेम की पीर' पर विशेष रूप से लिखा है।

इन कहानियों में राजकुमार और राजकुमारियों के प्रेम को लेकर ही कवि चलता है। राजकुमार राजकुमारी के अलौकिक सौंदर्य पर आसक्त होकर संसार की सब विभूतियों, यहां तक कि अपनी स्त्री और घरबार से भी नाता तोड़ देता है, और पागल वैरागी बन कर उस राजकुमारी को प्राप्त करने के लिये निकल पड़ता है। उस राजकुमारी को प्राप्त करने में अनेकों कष्ट उठाता है और अंत में उसके लिये अपने प्राणों तक को त्यागने के लिये उद्यत हो जाता है। अंत में वह उस राजकुमारी को प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार कवि के विचार से आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है।

इन सूफ़ी कवियों ने प्रायः वही कहानियां ली हैं जिनकी कथायें हिन्दू गाथाओं में प्रसिद्ध हैं और इस प्रकार हिन्दू-कथाओं में सूफ़ी सिद्धांतों की पुट देकर उन्होंने अपने काव्यों को हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के योग्य बनाने का प्रयत्न किया है। संत कवियों की भाँति इन कवियों में भी जातिभेद-भाव के लिये कोई स्थान नहीं पाया जाता।

प्रेम मार्गी शाखा के कवि संत कवियों की अपेक्षा अधिक सहृदय थे। इनकी कविताओं में भी स्थान-स्थान पर योग की रूढ़ियाँ मिलती अवश्य हैं परन्तु फिर भी कविता के अधिकांश भाग सरसता पूर्ण ही हैं। प्रेम चित्रण कवियों ने खूब किया है और स्थान-स्थान पर मनुष्य के साथ-साथ पशु, पक्षी, पेड़-पौधों तक के साथ सहानुभूति से काम लिया है। मनुष्य के कष्ट को देख कर बन के वृक्षों में भी रोने की कल्पना करना इन कवियों की विशेषता है।

इन सूफ़ी कवियों के प्रेम-काव्यों में संत कवियों जैसी खंडन और मंडन की प्रवृत्ति नहीं मिलती। इनकी कविता आद्योपांत मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने वाली होती थी। प्रेम का जितना सजीव चित्रण इन कवियों ने किया है उतना हिन्दी साहित्य में अन्य कवि नहीं कर पाये। सरस कविता के बीच-बीच में जो इन्होंने रहस्यमय परोक्ष की

भावना का समावेश किया है वह कविता को बहुत रहस्यमय बना देता है और उससे कविता का महत्व उथलेपन के साधारण स्तर से उठकर विचार क्षेत्र के ऊंचे स्तर पर पहुँच जाता है।

प्रेम मार्ग की इस शाखा का प्रतिनिधि कवि मलिक मुहम्मद जायसी है और 'पद्मावत' इस काल का सर्व प्रसिद्ध एवं सुन्दर ग्रंथ। हिन्दी साहित्य के प्रबन्ध काव्यों में राम चरित मानस के पश्चात् पद्मावत का ही स्थान है। प्रेमाश्रयी शाखा के रहस्यवाद में भावनात्मकता का अभाव नहीं पाया जाता। जायसी के अतिरिक्त कुतबन, मंझन, उस्मान, शेखनबी, कासिमशाह और नूर मुहम्मद इस धारा के अन्य प्रसिद्ध कवि हैं।

हिन्दी में सूफ़ी धारा की विशेषतायें:—

१. इस धारा के प्रायः सभी कवि सूफ़ी थे जो स्वाभाव और जीवन में बहुत सरल थे।
२. ज्ञानाश्रयी कवियों की भाँति प्रेमाश्रयी शाखा के कवि भी गुरु को ईश्वर के ही समान मानते हैं।
३. यह कवि सर्वेश्वरवाद की ओर अधिक झुके हुए प्रतीत होते हैं।
४. 'प्रेमपीर' के साथ ही साथ संगीत और माधुर्य की भी इन कवियों में विशेषता पाई जाती है।
५. यह किसी भी धर्म के कट्टर अनुयाई नहीं थे और हिन्दू मुस्लिम एकता को अच्छा समझते थे।
६. इस धारा के ग्रंथ विशेष रूप से विशुद्ध अवधी भाषा में मिलते हैं।
७. इन कवियों की प्रेम कथाओं में हिन्दू चरित्रों को ही प्रधानता दी गई है।
८. इस धारा के कवि भी ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों ही की भाँति कम विद्वान् थे और साहित्य का उन्हें बहुत ही अल्प ज्ञान था।
९. देशज अवधी भाषा में इस धारा का साहित्य रचा गया।

हिन्दी सहित्य में राम-भक्ति

सं० १०७३ के आस-पास स्वामी रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत-वाद का वह रूप जनता के सम्मुख रखा जिसके अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंश जगत के सब प्राणी हैं, और वह सब उसी से उत्पन्न होकर उसी में लय हो जाते हैं। इसलिए इन जीवों को अपने उद्धार के लिये नारायण की भक्ति करनी चाहिये। इस सिद्धांत के आधार पर रामानुजाचार्य ने श्री सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसने देश में फैल कर नारायण की उपासना और भक्ति का प्रचार किया। इनके पश्चात् इस वैष्णव श्री सम्प्रदाय में प्रधान आचार्य श्री राघवानन्द जी हुए, और फिर उन्होंने रामानन्द जी को दीक्षा दी। भक्तमाल के अनुसार रामानन्द जी के बारह शिष्य कहे गये हैं—सनंतानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भावानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरी। इन सभी ने राम नाम की महिमा गाई है।

हिन्दी साहित्य में निर्गुण धारा के साथ साथ १५ वीं शताब्दी के अंत से लेकर १७ वीं शताब्दी के अंत तक, सगुण भक्ति धारा भी बराबर अबाध रूप से बहती चली आ रही थी। सगुण-भक्ति धारा के अंतर्गत रामभक्ति शाखा तथा कृष्ण भक्ति शाखा दोनों ही आती हैं। यहाँ हम केवल राम भक्ति शाखा पर प्रकाश डालेंगे परन्तु इनके राम में और वैष्णव सम्प्रदाय के राम में सर्वदा अन्तर रहा है। कबीर इत्यादि ने जिस मत का प्रतिपादन किया है वह निर्गुण ब्रह्म की उपासना है।

यह सत्य है कि श्री रामानन्द जी की शिष्य परम्परा द्वारा भक्ति की देश में निरन्तर पुष्टि होती चली आ रही थी और भक्तों ने अपनी छोटी-मोटी कविताओं द्वारा सरसता के साथ राम नाम को देशवासियों

के हृदय में उतारने का प्रयत्न किया था और बहुत कुछ अंशों में वह उसमें सफल भी हुए थे परन्तु हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में राम महिमा का सजीव गान करने वाला सर्व प्रथम सफल कवि तुलसी ही हुआ है। १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रतिभा हिन्दी साहित्य में प्रस्फुटित हुई। अपनी सर्वोमुखी प्रतिभा तथा कलाओं के साथ कवि ने भारत में अपने देव राम को लेकर जनता के हृदयों पर सिंहासनारूढ़ हो गया। कवि की कविता का चमत्कार अब अपने पूर्ण ओज और माधुर्य के साथ भक्तों के प्राणों में समा गया। "राम-भक्ति का परम विषद् साहित्यिक संदर्भ भक्तशिरोमणि कविवर तुलसी दास द्वारा ही संघटित हुआ, जिससे हिन्दी-काव्य की प्रौढ़ता के युग का आरम्भ हुआ।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

गोस्वामी तुलसी दास ने राम भक्ति का जो स्वरूप जनता के सम्मुख रखा है उसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी सर्वाङ्ग पूर्णता है। जीवन के सभी पक्षों पर कवि ने पूरी सहृदयता के साथ प्रकाश डाला है। कवि का न कर्म, धर्म से विरोध है और न ज्ञान से। तीनों ही विचारावलियों में आपने सामंजस्य स्थापित किया है और यही कारण है कि तुलसी का राम सबके हृदय का राम बन सका है। तुलसी की भक्ति में धन और धर्म दोनों की रसानुभूति है। योग का भी सर्वथा लोप उसमें नहीं मिलता परन्तु केवल इतना जितना ध्यान को एकाग्र करने के लिए आवश्यक है।

हिन्दी साहित्य में जिस राम-भक्ति धारा को कवि ने प्रवाहित किया है उसमें सब धर्मों के लिये समान स्थान है, विरोध किसी का भी नहीं मिलता। अपनी सामंजस्य प्रवृत्ति द्वारा कवि ने शैवों और वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेश को रोका। कवि ने एक तरफ़ लोक-धर्म और भक्ति भावना का मेल कराया है तो दूसरी ओर कर्म, ज्ञान और उपासना में सामंजस्य स्थापित किया है। भक्ति को चरम सीमा तक

पहुंचने पर भी कवि लोक को सर्वथा छोड़ा नहीं है। लोक संग्रह तुलसी दास की भक्ति का प्रधान गुण है। यह लोक संग्रह की भावना न तो कृष्ण भक्ति शाखा के ही अन्तर्गत मिलती है और न प्रेम और ज्ञानमार्गियों के अन्दर ही। कवि केवल उपास्य तथा उपासक तक ही सीमित नहीं रह गया है वरन उसने लोक-व्यापक अनेकों समस्याओं पर भी ध्यान दिया है और अपने काव्य को सब प्रकार से कल्याणकारी बनाने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि राम भक्ति शाखा की वाणी अन्य साम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक मंगलकारिणी होने से भारत की जनता में सबसे ऊंचा स्थान बना सकी है। भारतीय जनता कृष्ण-उपासना भी कम नहीं करती परन्तु जो सम्मान राम चरित मानस को प्राप्त हुआ है वह सूर सागर को प्राप्त नहीं हो सका।

इस शाखा के प्रधान कवि तुलसीदास हैं और इसके अतिरिक्त हृदय राम इत्यादि भी हुए हैं। इस धारा में हमें अधिक कवि नहीं मिलते। इसका कारण स्पष्ट ही है कि गोस्वामी तुलसी दास जी ने इस साहित्य में जिस परम्परा को अपनाया है उसमें कवि के लिये उतनी स्वच्छन्दता नहीं है जितना कृष्ण भक्ति शाखा में है। कवि को परिमार्जित क्षेत्र में ही रचना करनी होती है और उसकी कल्पनाओं को उड़ान लेने में कठिनाई होने के कारण रचना करने का साहस अन्य कवि नहीं कर पाये।

यों राम साहित्य पर लेखनी उठाने वाले दो अन्य कवियों को भी भुलाया नहीं जा सकता क्योंकि साहित्यिक दृष्टिकोण से उनके ग्रन्थ भी अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं। इनमें पहला कवि केशवदास है जिसने रामचन्द्रिका लिखी। राम चन्द्रिका पृथक् पृथक् लिखे हुए वर्णनों का संग्रह सा जान पड़ता है और उसमें कथा प्रवाह का अभाव है। यह ग्रंथ जनता में प्रसिद्धि नहीं पा सकता क्यों कि इसे समझना साधारण पाठक के लिये कठिन है। राम विषयक होते हुए भी यह ग्रंथ रामभक्ति से संबंधित है ऐसा नहीं जान पड़ता, दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ साकेत

है जिसे वर्तमान युग के प्रख्यात कवि श्री मैथिली शरण जी ने लिखा है। इस ग्रंथ में भी मानस का गाम्भीर्य नहीं आपाया और इसके पठन-पाठन का क्षेत्र भी स्कूल के विद्यार्थियों से आगे नहीं बढ़ सका।

राम भक्ति-शाखा का प्रभाव हिन्दी साहित्य में सभी दिशाओं में हुआ है। राम साहित्य न तो किसी शैली विशेष तक ही सीमित रहा और न किसी छन्द अथवा काव्य विशेष तक ही। प्रायः समय की सभी प्राचीन शैलियों में, इस साहित्य का सृजन हुआ है। वीरगाथा काल की छाप्पय-पद्धति, विद्या पति और सूरदास की गीत-पद्धति, गंग आदि भाटों की कवित्त सवैया पद्धति, कबीरदास की दोहा-पद्धति चौपाई-पद्धति सभी का प्रयोग राम-साहित्य में प्रचुरता के साथ मिलता है। काव्य क्षेत्र में मुक्तक और प्रबन्ध सभी प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये हैं और राम चरित मानस हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ आजतक माना जाता है। राम भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में नौ के नौ रसों का प्रयोग अपनी कविता में किया है और प्रायः सभी प्रकार के अलंकार भी इनकी रचनाओं में खोजने से मिल जायेंगे। इस प्रकार हर तरह से रामभक्ति शाखा ने हिन्दी साहित्य के भंडार की पूर्ति की है और हिन्दी साहित्य को इस भक्ति धारा का महान ऋणी होना चाहिए।

रामभक्ति साहित्य की विशेषतायें:—

१. इस धारा की प्रधान विचारावलि रामानन्द जी के सिद्धाँतों पर आश्रित है।

२. राम भक्ति शाखा में दशरथ पुत्र राम को इष्टदेव मान कर सगुण भक्ति का प्रतिपादन किया है।

३. भक्ति-क्षेत्र में सभी जातियों को तुलसी दास जी ने समान स्थान दिया है।

४. भक्त को कवि ने दास के रूप में देखा है।
५. कवि ने यों ज्ञान और भक्ति दोनों का प्रतिपादन किया है परन्तु ज्ञान पर भक्ति को ही प्रधानता दी है।
६. रामनाम के जाप में ही जीवन की मुक्ति मानी जाती है।
७. कर्मक्षेत्र में वर्णाश्रम धर्म को मान्य माना है और तीर्थों के महत्व का गान किया है।
८. साहित्यिक दृष्टि से सब प्रकार के छन्दों, सब रसों और सब प्रकार के काव्यों में रचना की गई है।
९. भगवान को लोक रंजक स्वरूप में कवियों ने गाया है।
१०. राम भक्ति शाखा का विशेष साहित्य अवधी भाषा में रचा गया परंतु ब्रज और खड़ी में भी इसका सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता है।

हिन्दी साहित्य में कृष्ण भक्ति

१५ वीं और १६ वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का प्रचार भारत में बड़े ज़ोर के साथ हुआ और उस समय के प्रचारकों में श्री वल्लभाचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह वेद शास्त्र में पारंगत और धुरंधर विद्वान् थे। शंकराचार्य के मायावाद ने भक्ति को जिस अविद्या की कोटि में रख दिया था और इसी से रामानुजाचार्य से लेकर वल्लभाचार्य तक सब अपने को उसी से मुक्त करना चाहते थे। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म में शंकराचार्य के मतानुसार न केवल निर्गुणसत्ता को ही माना वरन् सर्व गुण और धर्मों का समावेश उसमें किया और सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिये ब्रह्म की आत्मकृति कहा। आपने माना कि श्री कृष्ण जो परब्रह्म हैं, जो सब दिव्य गुणों से युक्त होकर 'पुरुषोत्तम' बने हैं उन्हीं में सत्-चित् और आनंद का समन्वय है। "कृष्ण अपने

भक्तों के लिये 'व्यापी बैकुंठ में (जो विष्णु के बैकुंठ से ऊपर है) अनेक प्रकार की क्रीणायें करते रहते हैं। 'गोकुल' इसी व्यापी बैकुंठ का एक खंड है जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृंदावन, निकुंज इत्यादि हैं। भगवान की इस 'नित्य-लीला-सृष्टि' में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।" रामचन्द्र शुक्ल।

रामानंद की भाँति श्री वल्लभाचार्य ने भी देशाटन करके अपने मत का प्रचार किया परन्तु हिन्दी साहित्य में वैष्णव सम्प्रदाय के इस पुष्टि मार्ग को सफलता पूर्वक लाने का श्रेय सूरदास को ही प्राप्त है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार संवत् १५८० के आस-पास सूरदास जी गऊघाट पर श्री वल्लभाचार्य के शिष्य बने और तभी उन्होंने सूरदास को अपने श्रीनाथ जी मंदिर की कीर्तन सेवा सौंपी। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलदास जी ने इस धारा के कवियों का संगठन करके 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। अष्टछाप में आठ कवि थे सूरदास, कुम्भन दास, परमानंद दास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंद-स्वामी, चतुर्भुज दास और नंददास। कविवर सूरदास इस धारा के सबसे प्रसिद्ध कवि हैं जिन्होंने सूरसागर, सूर सूरावली, साहित्य लहरी, इत्यादि कई ग्रंथ लिखे। कविवर सूरदास के बाद दूसरा नाम नंददास का आता है।

कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने रामभक्ति शाखा के सिद्धांतों के सर्वथा विपरीत लोक रंजन की भावना को भुलाकर कृष्ण की प्रेम मयी मूर्ति के ही आधार पर प्रेम तत्व का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए कृष्ण का आनंद मय स्व-रूप ही अष्टछाप के कवियों ने पाया है। इन कवियों ने अनंत सौंदर्य और हास-विलास के समुद्र में ही गोते लगाये हैं। प्रजा रक्षक और प्रजा पालक कृष्ण के रूप का निरुपण नहीं किया। यह कृष्ण भक्त कवि अपने रंग में मस्त रहने वाले प्रेमी जीव थे। संसार से मुक्त,

तुलसीदास के समान लोक का इन्हें कोई ध्यान नहीं था। उन्हें यह भी ध्यान नहीं था कि समाज किधर जायेगा? यह तो अपने भगवत्प्रेम में मस्त थे और उसकी भक्ति के लिये श्रृंगारमयी कविता ही उनका साधन थी। यह तो जनता को अपनी श्रृंगारिक कविता द्वारा रसोन्मत्त कर देना चाहते थे। यही कारण है कि जिस राधा और कृष्ण को इन विशुद्ध भक्त कवियों ने अपनी कृष्ण भक्ति का साधन बनाया वही राधा और कृष्ण रीति कालीन कवियों के लिये केवल नायक और नायिका के रूप में रह गये।

राधा-कृष्ण के चरित्रों के गान में जो गीत-काव्य की परम्परा जयदेव और विद्यापति ने चलाई थी वही अष्टछाप के कवियों ने भी अपनाई। इस प्रकार इस भक्ति और श्रृंगार के क्षेत्र में मुक्तक पदों का ही प्रचार हुआ, प्रबन्ध की ओर कवियों का ध्यान नहीं गया। इस धारा के कवि इतनी स्वच्छंद प्रकृति के थे कि वह प्रबन्ध-काव्य के झमेले में पड़कर अपने को बन्धन में बाँधना भी पसंद नहीं करते थे। बहुत बाद में संवत् १६०८ में ब्रजबासी दास ने दोहा चौपाई में एक ग्रंथ मानस की तरह लिखा भी परन्तु वह साहित्य में विशेष स्थान नहीं पा सका। कवि-स्वच्छंदता के अतिरिक्त प्रबन्ध-काव्य न लिखा जाने का दूसरा प्रधान कारण यह भी था कि कृष्ण भगवान के चरित्र का जितना अंश इन कवियों ने अपनी कविताओं में चित्रित किया है वह अच्छे प्रबन्ध काव्य के लिये पर्याप्त भी नहीं था। मानव जीवन की अनेक रूपता का समावेश उसमें नहीं हो सकता था। कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों ने अपने काव्य में केवल कृष्ण की बाललीला और यौवन लीलाओं को ही लिया है परन्तु इसमें सँदेह नहीं कि इन कवियों ने वात्सल्य और श्रृंगार रस के वर्णनों को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है।

सूरदास जी ने श्री मद्भागवत की कथा को गाया है। सूर सागर में भागवत के दशमस्कंध की कथा का विस्तार पूर्वक वर्णन है। उसमें

कृष्ण जन्म से लेकर मथुरा जाने तक का वर्णन है। कृष्ण की भिन्न-भिन्न लीलाओं पर अनेकों सुन्दर पद लिखे हैं। कवि ने सरल ब्रजभाषा का बहुत सरसता के साथ प्रयोग किया है। "जिस प्रकार रामचरित का गान करने वाले कवियों में गो स्वामी तुलसीदास जी का स्थान सर्व श्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्ण चरित का गान करने वाले भक्त कवियों में भक्त सूरदास का है। वास्तव में यह हिन्दी काव्य गगन के सूर्य और चन्द्र हैं। हिन्दी काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ, इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया।" (रामचन्द्र शुक्ल)

वात्सल्य के ही समान शृंगार के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों पर इस धारा के कवियों ने अनूठी कवितायें की हैं। जब तक कृष्ण गोकुल में रहते हैं उस समय तक तमाम जीवन संयोग-पक्ष में रहता है और मथुरा चले जाने पर वियोग-पक्ष प्रारम्भ हो जाता है। दान-लीला, माखन-लीला, चीरहरण लीला, रासलीला इत्यादि पर सहस्त्रों सुन्दर पद इस धारा के कवियों ने लिखे हैं। शृंगार वर्णन में भाव और विभाव पक्ष दोनों का ही विस्तृत और अनूठा वर्णन कवियों ने किया है। राधाकृष्ण के रूप वर्णन का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। कवियों ने काव्य सुलभ सभी उपमा उत्प्रेक्षा रूपक और अतिशयोक्तियों को समाप्त कर दिया है। प्रकृति-चित्रण भी कवियों ने किया है परन्तु वह स्वतंत्र रूप से नहीं आ पाया है। कालिंदी कूल पर शरत चाँदनी का सजीव चित्रण मिलता है। कुंज वन का भी अच्छा वर्णन किया गया है। वियोग पक्ष में सूर और नंददास के भ्रमरगीत काव्य क्षेत्र में अपनी विशेषता रखते हैं।

अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त कृष्ण भक्ति शाखा में अन्य कई उल्लेखनीय कवि आते हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ परमावश्यक है। हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, मीराबाई, सूरदास, मदन मोहन, श्री भट्ट, व्यास जी, रसखान इत्यादि का इनमें विशेष स्थान है। मीरा और

रसखान की सरसता सूर के अतिरिक्त अन्य कवियों में नहीं पाई जाती। इस प्रकार कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने अपनी अमूल्य रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य के भंडार को भरा है।

कृष्ण भक्ति-शाखा की विशेषतायें :—

१. इस धारा के सूत्रधार वल्लभाचार्य हैं और पुष्टिमार्ग का प्रतिपादन करने के लिये अष्टछाप के कवियों ने उल्लेखनीय कार्य किया है।
२. इस धारा के कवियों ने सरस ब्रज भाषा में साहित्य सृजन किया है।
३. इस धारा के कवियों ने लोक-रंजकता से दूर भगवान के वात्सल्य और शृंगारिक रूप को ही लिया है।
४. इस धारा के कवियों ने अपने मत प्रतिपादन के लिये काव्य में गीत-प्रणाली को ही अपनाया है। प्रबन्धात्मकता इस धारा के कवियों में नहीं मिलती।
५. इनके साहित्य में वात्सल्य और शृंगारिक भावना प्रधान है और रागात्मक वृत्ति पर विशेष बल दिया गया है।
६. इस धारा के कवियों ने अनूठे पद गाये हैं और इनका प्रचार भक्तों पर बहुत हुआ है।

हिन्दी-साहित्य में रीति-काल

हिंदी साहित्य के इतिहासज्ञों ने रीति-काल का प्रारंभ संवत् १७०० से माना है। हिन्दी काव्य अब प्रौढ़ हो चुका था। मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगार-सागर' शृंगार सम्बन्धी और करुणेश कवि ने 'कर्णाभरण' और 'श्रुति-भूषण' इत्यादि ग्रंथ अलंकार सम्बन्धी लिखे। इस प्रकार रस निरूपण होने पर केशव ने शास्त्र के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। परन्तु हिन्दी साहित्य में केशव की 'कवि

प्रिया' के पश्चात् ५० वर्ष तक कोई अन्य ग्रन्थ नहीं लिखा गया? और ५० वर्ष बाद भी जो रीतिग्रन्थों की अविरल परम्परा चली वह केशव के आदर्शों से सर्वथा भिन्न एक पृथक् आदर्श को लेकर चली।

केशव काव्य में अलंकारों का प्रधान स्थान मानने वाले चमत्कारवादी कवि थे। काव्यांगनिरूपण में उन्होंने हिन्दी पाठकों के सम्मुख मम्मट और उद्भट के समय की धारा को रखा। उस समय रस, रीति और अलंकार तीनों के ही लिए अलंकार शब्द का प्रयोग होता था। केशव की 'कवि-प्रिया' में अलंकार का यही अर्थ मिलता है। केशव के ५० वर्ष पश्चात् हिन्दी साहित्य में जो परम्परा चली उसमें अलंकार-अलंकार्य का भेद परवर्ती आचार्यों के मतानुसार माना गया और केशव की अपनाई हुई धारा को वहीं पर छोड़ दिया गया। हिन्दी के अलंकार ग्रंथ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर लिखे गये और कुछ ग्रन्थों में 'काव्य-प्रकाश' तथा 'साहित्य दर्पण' का भी अनुकरण किया गया। इस प्रकार संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त उद्धरण हमें हिन्दी साहित्य में मिलता है।

हिन्दी साहित्य में रीति युग का प्रवर्तक हम इस लिये केशव को न मान कर चिंतामणि त्रिपाठी को मानते हैं। इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण अपने तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-विवेक' 'कवि कुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश' द्वारा किया। इन्हों ने छन्द-शास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी है। चिन्तामणि त्रिपाठी जी के पश्चात् तो एक प्रकार से हिन्दी साहित्य में रीति-ग्रन्थों की बाढ़ ही आ गई और कवियों ने कविता ही केवल इस लिये आरम्भ कर दी कि उन्हें रीति-ग्रन्थ लिख कर उनमें उदाहरण देने होते थे। अलंकारों अथवा रसों के लक्षण उन कवियों ने अधिकतर दोहों में लिखे हैं और फिर उनके उदाहरण कवित्त या सवैयों मे दिये हैं। संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य पृथक्-पृथक् रहे हैं परन्तु हिन्दी साहित्य में कवियों ने ही

आचार्य बनने का दावा किया और फल यह हुआ कि उनमें से अनेकों आचार्य तो बन नहीं पाये और उन्हें अपनी कविता के यश से भी हाथ धोने पड़े और दूसरी ओर आचार्यत्व के लिये जिस सूक्ष्म विवेचना की आवश्यकता होती है उसका उचित विकास साहित्य में नहीं हो पाया। यही कारण है कि इस काल में न तो कोई तुलसी और सूर की टक्कर का कवि ही हो पाया और ना ही कोई प्राचीन संस्कृत आचार्यों की टक्कर का आचार्य। इस काल में गद्य का विकास न होने के कारण भी आचार्य लोगों को नये नये सिद्धांतों के निरूपण पद्य में करने में कठिनाई होती थी और इसी लिये विषयों की उचित मीमाँसा न हो पाई और न ही उन पर उचित तर्क-वितर्क हुआ।

इस लिये इस काल के सभी कवियों को जिन्होंने रीति-ग्रन्थ लिखे हैं हम आचार्यों की श्रेणी में नहीं रख सकते। पूर्ण आचार्य न होने के कारण इन कवियों के ग्रंथ भी अपर्याप्त लक्षण-सहित्य शास्त्र का ज्ञान कराते हैं। कहीं-कहीं पर तो अलंकार रस और रीतियों का स्वरूप भी ठीक-ठीक प्रकट नहीं होता। काव्य के दो भेदों श्रव्य और दृश्य में से दृश्य को तो आचार्यों ने छोड़ ही दिया है।

काव्याँगों का विस्तृत विवेचन दास जी ने 'काव्य-निर्णय' में किया है। दास जी ने अलंकारों पर भी प्रकाश डाला है और अंत्या-नुप्रास पर जो कि संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता और हिंदी साहित्य में प्रारम्भ से मिलता है, अपनी पुस्तक में विचार किया है। रीति-ग्रंथों के लेखक भावुक कवि थे इस लिए उनके द्वारा एक महत्वपूर्ण कार्य भी इसके क्षेत्र में प्रतिपादित हुआ। उन्हों ने रस और अलंकारों के बहुत सरस और सुन्दर उदाहरण अपनी कविताओं में प्रस्तुत किये हैं। इस दिशा में इन कवियों ने संस्कृत साहित्य को भी पीछे छोड़ दिया है। इन कवियों का झुकाव अलंकारों की अपेक्षा नायिका-भेद की ओर अधिक रहा है। शृंगार रस की मुक्तक रचना इस समय में

पराकाष्ठा को पहुँच गई और इस काल ने बिहारी जैसा अनूठा कवि हिन्दी साहित्य को प्रदान किया। इस काल के प्रायः सभी ग्रन्थ नायिका-भेद के ग्रन्थ हैं और उनमें कृष्ण तथा राधा को ही लेकर कविता लिखी गई है। श्रृंगार रस का आलम्बन, नायिका और वह भी विशेष रूप से राधा ही रही है। इस काल में केवल नखशिख वर्णन पर ग्रन्थ लिखे गये हैं।

इस काल में साहित्य का विस्तृत विकास नहीं हो पाया। प्रकृति की अनेक रूपता और जीवन की विस्तृत व्याख्या की ओर कवियों का ध्यान गया ही नहीं। कवि केवल नायक और नायिका के श्रृंगार में ही सीमित हो गया। कृष्ण-भक्ति शाखा के कवि लोक को तो पहिले ही भुला चुके थे परन्तु इस काल में आकर कृष्ण भक्ति के आलम्बनों को लेकर श्रृंगारिक वासना की पूर्ति के लिए उन्हें विस्तृत क्षेत्र मिल गया। काव्यों का क्षेत्र सीमित होगया, वाक्य धारा बँधगई, जीवन की अनेक-रूपता नष्ट हो गई, भाषा, शैली और विचार सीमित हो गये।

रीति-काल में सैंकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर भाषा पहुँची थी, उसे उस समय व्याकरण द्वारा व्यवस्थित हो जाना चाहिए था परन्तु वह नहीं हो पाया। भाषा में कोई स्वच्छता नहीं आई और यहाँ तक कि वाक्यदोष भी दूर नहीं हुए। शब्दों का तोड़ना मरोड़ना भी ज्यों का त्यों चलता रहा। इस काल के प्रायः सभी कवियों की भाषा सदोष है। इस काल के कवि ब्रज और अवधी का अपनी इच्छा द्वारा सम्मिश्रण कर देते थे। इस सम्मिश्रण के कारण भी भाषा परिमार्जित और व्यवस्थित रूप धारण नहीं कर सकी।

चिंतामणि त्रिपाठी, महाराज जसवंतसिंह, बिहारी, मण्डन, मतिराम, कुलपति, सुखदेव, कालिदास त्रिवेदी, देव, दास, तपोनिधि, पद्माकर, भट्ट इत्यादि इस परंपरा के प्रधान कवि हैं। इनके अतिरिक्त भी

इस काल में बहुत से कवि हुए हैं। जिन्होंने अन्य विषयों पर भी कविता की हैं परन्तु इस काल में प्रधानता इसी प्रकार के कवियों की रही है। इसी लिए इस काल को रीतिकाल नाम दिया गया है।

रीत काल की विशेषतायें:—

१. इस काल का प्रारम्भ चिंतामणि त्रिपाठी से होता है।
२. इस काल में शृंगार प्रधान मुक्तक कवितायें लिखी गई हैं। प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये परन्तु वह विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।
३. इस काल में भी वीर गाथा काल की भाँति कवि लोग आश्रयदाताओं के यहां रहते थे। इस लिये उनमें भक्ति कालीन कवियों की स्वाभाविकता और स्वच्छंदता का सर्वथा अभाव हो गया था।
४. इस काल में कवि आचार्य हो गये थे।

खड़ी बोली और गद्य का विकास

हिन्दी साहित्य के इतिहासज्ञों ने जो काल विभाजन किया है उसके आधार पर हिन्दी साहित्य में गद्य-युग का प्रारम्भ संवत् १९०० से होता है। यह अंगरेजी शासन-काल था, इसलिये जब अन्य देशों में युग-परिवर्तन हुआ और पद्य का स्थान गद्य ने लिया तो हिन्दुस्तान की अपनी भाषा हिन्दी के लिए ऐसा करने में समय लगा। इसका प्रधान कारण यह था कि सभी सरकारी कामों में अंगरेज़ी का प्रयोग होता था और इस लिये नौकरी पाने के इच्छुक पाठक केवल अंगरेजी ही पढ़ना पसंद करते थे। शासन-सत्ता हिन्दी का कोई महत्व नहीं समझती थी और प्रजा भी इसे लाभदायक न मानकर इसकी ओर ध्यान न देती थी। हिन्दी और उर्दू के कुछ मदरसे यहाँ थे अवश्य, परन्तु यह अनाथाश्रमों से कम नहीं थे। लार्ड मैकाले ने भारत में अंगरेजी का प्रचार किया। १८३९ ई० में अदालतों की भाषा उर्दू बनी। इससे जनता को अपनी बोलचाल की भाषा के कुछ निकट आने का अवसर

तो प्राप्त हुआ परन्तु अपनी वास्तविक भाषा का आभास उन्हें अभी प्राप्त नहीं हो सका। उर्दू जनता के साहित्य की भाषा से पृथक थी और इस लिये वह भी जनता द्वारा अंगरेजी की भाँति केवल काम निकालने के लिये अपनाई गई।

खड़ी बोली, जिस पर उर्दू और फ़ारसी का प्रभाव था रेखता कहलाई। मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर दिल्ली आगरे का प्रभुत्व नष्ट हो गया। यहाँ के कवियों ने लखनऊ और मुर्शिदाबाद में जाकर आश्रय लिया। इनके साथ खड़ी बोली भी वहां पहुँची और प्रचारित हुई। यह उर्दू न होकर साधारण बोलचाल की भाषा थी। रीति काल की कविता का युग जीवन की रंगीनियों के साथ समाप्त हुआ और वास्तविकता ने अपना पैर जमाया। वास्तविकता के स्पष्टीकरण के लिये एक स्वच्छ भाषा की आवश्यकता थी और वह भी गद्य के रूप में। आने वाले युग में परिवर्तित विचारों का अवधी और ब्रज साथ न दे सकीं।

यों तो खड़ी बोली और गद्य के उदाहरण यत्र-तत्र पिछले युग में भी मिलते हैं, परन्तु उस समय यह भाषा काव्य-भाषा न होने के कारण साहित्यकों द्वारा नहीं अपनाई गई। हिन्दी गद्य के चार प्रवर्तक माने जाते हैं। सदा सुखलाल जी, लललू लाल जी, सदल मिश्र और इंशा अल्लाखाँ। इन विद्वानों ने हिन्दी में सर्वप्रथम गद्य लिखा, किसी की भाषा में पूर्वीपन और संस्कृत मिश्रित पदावलि थी तो किसी ने उसमें ब्रज की पुट दे रखी थी; किसी ने फ़ारसी के शब्दों की झड़ी लगा रखी थी तो किसी ने उसमें मुहावरे और अन्त्यानुप्रास भर कर उसे रोचक बनाने का प्रयत्न किया था।

इन चार महानुभावों के अतिरिक्त गद्य के प्रचार में ईसाई धर्म और आर्य समाज ने भी काफ़ी सहयोग दिया। ईसाई पादरियों को अपने मत के प्रचार के लिये हिन्दी सीखनी पड़ी और इस प्रकार

हिन्दी का भी प्रचार हुआ। बाइबिल का खड़ी बोली में अनुवाद हुआ। स्वामी दयानन्द जी ने अपना प्रधान ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिन्दी गद्य में लिखा। इसके पश्चात् राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह जी का समय आता है। इस काल में भी हिन्दी प्रचार पर काफ़ी बल दिया गया।

इस समय तक केवल खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भिक काल चल रहा था, जिसमें किसी विशेष साहित्य का सृजन नहीं हुआ और ना ही कोई प्रतिभाशाली लेखक ही उस काल का मिलता है, जो कुछ नमूने मिलते हैं वह गद्य के उत्थान काल के होने के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। अब हिन्दी गद्य के उत्थान में दूसरा युग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का आता है। भारतेन्दु जी ने भाषा-क्षेत्र में जिस मार्ग का अनुसरण किया है वह राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह का मध्यवर्ती मार्ग था। इन्हों ने भाषा में उन सभी शब्दों का प्रयोग किया जिन्हें भाषा पचा सकती थी। न इन्हें फ़ारसी से कोई द्वेष था और न भाषा को संस्कृत-गर्भित बनाने में कोई रुचि। तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्द आप अधिक प्रयोग में लाये हैं। भारतेन्दु जी की प्रतिभा सभी दिशाओं में समान थी इसलिए आपने सभी प्रकार के साहित्य का सृजन किया है। नाटक, गद्यलेख, कविता और विविध विषयों पर आपने लिखा है। प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बाबू बाल मुकुन्द, बद्री नारायण चौधरी तथा अम्बिका प्रसाद व्यास इस काल के प्रमुख लेखक हैं। यह काल भाषा-निर्माण के लिए जितना उल्लेखनीय है उतना ही साहित्य-निर्माण के लिए भी है। शुद्ध व्यवस्थित भाषा न होने के कारण ठोस साहित्य का सृजन इस काल में भी कम अवश्य हुआ, परन्तु उसका सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता। इस काल में बँगला और अँग्रेज़ी साहित्यों से काफ़ी अनुवाद हुए। गद्य-

लेख भी इस काल में लिखे गये और पत्र-पत्रिकायें भी निकलीं जिनमें उनका ज़ोर रहा। यह समय हिन्दी प्रचार के आन्दोलन का समय था, इस लिये इस काल से हम ठोस साहित्य की आशा भी नहीं रख सकते।

इसके पश्चात् हमारे सामने महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का काल, जिसे नवीन युग कहते हैं, आता है। इस काल में हिन्दी गद्य ने व्यवस्थित रूप धारण किया और द्विवेदी जी के परिश्रम द्वारा भाषा को परिमार्जित करने में बहुत सहयोग मिला। भाषा को शुद्ध सुसंस्कृत रूप दिया, व्याकरण की अशुद्धियाँ दूर कीं, वाक्य दोषों को निकाला, विचार-शील लेखकों को हिन्दी लिखने पर मजबूर किया, भाषा के कोष में शब्दावलि की कमी पूरी की, हिन्दी में नये लेखकों को जन्म दिया। यह सभी दिशाओं में अबाध-रूप से होना प्रारम्भ हो गया। नाटक, कहानी और उपन्यास, समालोचना, निबन्ध, जीवनियाँ, इतिहास, गद्य-काव्य, नागरिक शास्त्र, यात्रायें, दर्शनशास्त्र, विज्ञान, भाषा विज्ञान, चिकित्सा- सभी विषयों पर ग्रंथ लिखे गये। गद्य का परिमार्जन और व्यवस्था होने की देर थी कि लेखकों ने अपनी लेखनियों को उठा लिया और साहित्य भंडार को भर दिया। जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककार, देवकीनंदन खत्री और मुंशी प्रेमचन्द जैसे कहानीकार और उपन्यासकार, पं० पद्मसिंह तथा रामचन्द्र शुक्ल जैसे समालोचक, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द शुक्ल और गुलाबराय एम० ए० जैसे निबन्धकार, हिन्दी साहित्य में पैदा हुए जिन्होंने सुन्दर गद्य लिख कर पठन-पाठन के लिये पर्याप्त पुस्तकें हिन्दी साहित्य को प्रदान कीं। इस प्रकार यह नवीन-काल भाषा और साहित्य दोनों की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इस काल में गद्य-साहित्य अपनी सभी दिशाओं में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ और आज हिन्दी जब कि वह राष्ट्र-भाषा घोषित हो चुकी है उसमें सभी प्रकार का साहित्य दिन प्रतिदिन दिने दूनी

और रात चौगुनी प्रगति के साथ लिखा जा रहा है। हिन्दी का गद्य-साहित्य आज किसी भाषा से पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। उसमें सभी विषयों की पुस्तकें अच्छे-अच्छे विचारवान लेखकों द्वारा लिखी हुई मिलती हैं और जिन विषयों पर अभी पुस्तकों की कमी है, उस कमी को हिन्दी के प्रकाशक बहुत शीघ्र पूरा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आशा है निकट भविष्य में हिन्दी का गद्य-साहित्य अंग्रेजी और रूसी साहित्य के समान विश्व-साहित्यों की श्रेणी में रखा जा सकने योग्य बन जायेगा। प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी को इसके लिये भरसक प्रयत्न करना चाहिये।

खड़ी बोली और उसके गद्य की विशेषतायें :—

१. गद्य-निर्माण का प्रारम्भिक-युग, सदासुख लाल, इंशाअल्ला इत्यादि का समय।
२. भारतेंदु-युग, गद्य की ओर प्रगति, भाषा का प्रसार और व्यवस्थित साहित्य सृजन।
३. द्विवेदी युग, व्यवस्थित भाषा में हिन्दी-गद्य की सब शाखाओं का प्रसार, प्राय: सभी विषयों पर विद्वानों का ध्यान देना और सुन्दर साहित्य का सृजन करना।
४. हिन्दी गद्य का भविष्य।

हिन्दी कविता का नवीन युग

हिन्दी साहित्य का नवीन युग भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्रजी के काल से प्रारम्भ होता है। इस युग को वर्तमान युग या गद्य-युग भी कहते हैं। गद्य-युग कहने का यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिये कि इस काल में पद्य का सर्वथा लोप हो गया और उसका स्थान गद्य ने ले लिया। इस युग में गद्य-साहित्य के साथ-साथ पद्य-साहित्य भी

अबाध-रूप से प्रवाहित होता चला आ रहा है। इतिहास के विद्वानों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि साहित्य लोक और काल का प्रतिबिम्ब होता है। जिस काल में जो साहित्य लिखा गया है वहाँ की व्यापक परिस्थितियों का प्रभाव प्रधान रूप से उसपर पड़े बिना नहीं रह सकता। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डाल कर देखिये कि राजपूतों के उच्छृंखल काल में वीर गाथाओं का साहित्य प्रस्फुटित हुआ, मुसलमानी राज्य-काल में निराश्रित जनता ने भक्ति का आश्रय लिया और देश में भक्ति-साहित्य का संचार हुआ, और फिर वर्तमान-काल में जब संसार बदल रहा था तो भारत भी दास नहीं रह सकता था, इस मूल सत्य को पहिचान कर भारत के आत्मसम्मानी नेताओं ने भारत की स्वतंत्रता के आँदोलन प्रारंभ किये और जनता में देश-प्रेम और स्वतंत्रता की भावना जाग्रत हुई, जिसके फलस्वरूप साहित्य में भी राष्ट्रीयता की लहर उठी और वह कवियों की वाणी बन कर जनता के हृदयों में छागई। यह पहिली प्रवृत्ति है वर्तमान युग की कविता की। इस प्रवृत्ति के अंतर्गत भारतेंदु युग से लेकर आज तक अनेकों कवियों ने सुन्दर काव्य की रचना की है। यहाँ हम मैथिली शरण जी की भारत भारती और सुभद्रा कुमारी चौहान की झांसी की रानी और माखनलाल चतुर्वेदी की सुमन के प्रति कविता को नही भुला सकते।

प्राचीन युग से एक दूसरा विशेष परिवर्तन भाषा के दृष्टिकोण से है। इस काल की कविता का विशेष साहित्य खड़ी बोली में लिखा गया है। एक प्रसिद्ध प्राचीन मत था कि खड़ी बोली में सरस कविता नहीं लिखी जा सकती। वर्तमान युग के प्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद, मैथिली शरण गुप्त, आचार्य निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा कविवर बच्चन इत्यादि ने इस प्राचीन मत की धज्जियाँ बिखेर कर उसे एक उपहास की वस्तु बना दिया। गीत गोविंद की सरसता लेकर

हिन्दी खड़ी बोली में गीत लिखे गये और कवितायें रची गईं। यहां कामायिनी का एक सरस पद देखिये।

तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन!
विकल होकर नित्य चंचल, खोजती जब नींद के पल,
चेतना थक सी रही तब, मैं मलय की वात रे मन—
जहां मरू ज्वाला धधकती, चातकी घन को तरसती
उन्हीं जीवन घाटियों में मैं सरस बरसात रे मन।

इस काल में कविता विभिन्न धाराओं में बही है। कुछ प्राचीन प्रणाली के भी कवि इस काल में हुए हैं परन्तु कोई विशेष महत्वपूर्ण पुस्तक या कविता उन कवियों की नहीं मिलती। इसीलिये विशेष उल्लेखनीय नहीं है। रत्नाकरजी इस काल के प्राचीन प्रणाली के उल्लेखनीय कवि हैं। खड़ी बोली साहित्य के इस युग में कई नवीन वादों का प्रादुर्भाव हुआ। इन वादों में दो वाद छायावाद और प्रगतिवाद बहुत महत्वपूर्ण हैं। वैसे पलायन वाद, हालावाद इत्यादि कुछ फुटकर वाद भी सामने आये परन्तु उनकी कोई महत्वपूर्ण रूप-रेखा नहीं बनसकी।

यह काल बुद्धिवाद के विकास का है इसमें रूढ़िवाद के लिये कोई स्थान नहीं। अंग्रेज़ी साहित्य के पठन-पाठन से स्वतंत्रता के विचारों का प्रचार हुआ। हिन्दी कविता केवल शृंगार, भक्ति और रीतिकालीन प्रवृत्तियों के सीमित क्षेत्र से निकल कर स्वतंत्र मानव विश्लेषण के क्षेत्र में आ गई। मानव-जीवन की कठिनाइयों और परिस्थितियों के अन्दर साहित्य ने झांका और उनके विश्लेषण की ओर अग्रसर हुआ। अंग्रेज-राज्य इस समय व्यवस्थित था, इस लिये जनता के विचारों में भी वीर गाथा काल की उच्छृंखला नहीं थी। इस लिये साहित्य में भी स्थिरता आई और काव्य में जीवन की अनेक समस्याओं के साथ अनेक-रूपता भी आई। साहित्य का क्षेत्र परिमित न रह कर विस्तृत हो चला। जातीयता और समाज-सुधार की ओर लेखकों का ध्यान

गया। काव्य ने सादगी सौंदर्य को पहिचाना और रीतिकालीन प्रवृत्ति का एक दम ह्रास हुआ।

खड़ी बोली कविता की कुछ विशेषतायें हैं जो पुरानी किसी भी भाषा में नहीं पाई जातीं। इसमें हमें संस्कृत छंदों का प्रयोग मिलता है। ब्रज भाषा के छंद इसके लिये उपयुक्त नहीं हो सके। शब्दोंद्भव रूप प्रयोग में न लाकर कवि तत्सम रूप प्रयोग में लाये हैं। कविताओं में जो तुकों की प्रधानता आ गई थी इस 'युग के कवियों ने अपने को उससे मुक्त कर लिया और बहुत सुन्दर-सुन्दर अतुकाँत कवितायें लिखीं। इस धारा को प्रवाहित करने का श्रेय महा कवि निराला को है।

नाथूराम शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिली शरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त यह एक धारा के कवि हैं। इन कवियों ने विविध विषयों पर सफलता पूर्वक लेखनी उठाई है और हिन्दी साहित्य को 'साकेत', 'प्रिय-प्रवास' और 'भारत भारती' जैसी अमूल्य रचनायें प्रदान की हैं। माखन लाल चुतुर्वेदी, 'नवीन', सुभद्रा कुमारी चौहान इत्यादि ने राष्ट्रीय कवितायें लिखी हैं।

तीसरी धारा के कवियों में जयशंकर प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी वर्मा इत्यादि के नाम बहुत उल्लेखनीय हैं। कामायिनी, और 'यामा' इस धारा की अमूल्य देन हैं और हिन्दी साहित्य को और अनेकों अन्य पुस्तकें भी। पल्लव, गंजन, अनामिका, यह सभी सुन्दर कविताओं के संग्रह हैं जिनमें अपनी-अपनी विशेषता वर्तमान है।

कविवर बच्चन ने हालावाद की अपनी पृथक धारा प्रवाहित की परन्तु वह उसी तक सीमित नहीं रहे और उन्होंने प्रगतिवादिक कवितायें तथा कुछ-कुछ छायावादी जैसी कवितायें भी लिखी हैं।

इस काल का कवि भक्ति काल की स्वतंत्रता अपने में रखता है और वीर गाथा काल की स्वच्छंदता और रीति-काल की रसिकता। इस प्रकार तीनों कालों का निचोड़ हमें इस कालमें मिलता है। इस काल

का कवि किसी का आश्रित नहीं, उसे किसी की प्रशंसा नहीं करनी है। वह अपनी इच्छा का स्वच्छंद पुजारी है। जैसा चाहता है लिखता है, उस पर किसी का कोई अंकुश नहीं। यही कारण है कि आज का साहित्य बंधन-विहीन साहित्य है जो किसी काल, विषय अथवा भावना के साथ नहीं बाँधा जा सकता। वह मुक्त है और पूर्ण वेग के साथ अबाध रूप से सर्वोमुखी होकर प्रसारित हो रहा है। संसार के सभी उच्चतम साहित्यिकों के साथ-साथ आशा है कि निकट भविष्य में ही हिन्दी कविता-साहित्य भी यदि कुछ अन्य साहित्यों से पीछे भी हो तो उनके साथ और उससे भी आगे बढ़ जायेगा।

कविता के नवीन युग की विशेषतायें:—

१. *भारतेन्दु-काल से ही इसका भी प्रारम्भ होता है।*
२. रूढ़िवाद समाप्त हो गया और विचारों मे स्वच्छंदता आगई।
३. साहित्य ने राष्ट्रीयता को अपनाया और समय के प्रचलित वादों को उचित स्थान दिया।
४. कवि किसी पर आश्रित नहीं रहा, उसने स्वतंत्र रूप से अपने विचारों का प्रदर्शन किया।
५. ब्रज भाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया। छंद संस्कृत से लिये और भाषा तद्भवता की ओर से हटकर तत्समता की ओर बढ़ी।

हिन्दी में नाटकों का विकास

हिन्दी में नाटक-साहित्य मौलिक रचनाओं द्वारा न आकर अनुवादों द्वारा प्रस्फुटित हुआ है। मुसलमान-काल में लेखकों का ध्यान इस साहित्य की ओर इसलिये नहीं गया कि देश का वातावरण अव्यवस्थित होने के कारण इसके प्रतिकूल था। मुसलमानों ने धार्मिक दृष्टि से भी इस प्रकार के साहित्य को नहीं पनपने दिया। केवल कुछ रियासतों में अवश्य नाटकों का प्रचार था और वहाँ पर रंगमँच भी थे।

गद्य का विकास न होने के कारण भी नाटक लिखने की ओर लेखकों की अधिक रुचि नहीं हुई।

यों भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से पहिले भी दो-चार नाटक हिन्दी में उपलब्ध हैं परन्तु वह रंगमंच पर सफलता पूर्वक नहीं लाये जा सकते। इसलिये भारतेन्दु बाबू को ही हिन्दी का प्रथम नाटककार मानते हैं। आपके छोटे बड़े १८ नाटक मिलते हैं। यह मौलिक तथा अनुवाद दोनों प्रकार के हैं। 'मुद्राराक्षस' और 'भारत दुर्दशा' आपके प्रधान नाटक हैं। भारतेन्दु बाबू ने अपने नाटक प्राचीन नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखे हैं और परन्तु उन पर बङ्गला की प्रणाली का भी प्रभाव स्पष्ट है। रंगमंच के विचार से भी यह सफल नाटककार सिद्ध हुए हैं।

'केटोकृतांत' के लेखक श्री तोताराम, 'रणधीर-प्रेम' के लेखक श्री लाला श्री निवासदास, केशोराम, गदाधर, भट्ट बद्रीनारायण चौधरी, राधाकृष्ण दास जी, अम्बिकादत्त व्यास, सत्यनारायण कविरत्न, राजा लक्ष्मणसिंह, राधेश्याम इत्यादि इस काल के प्रमुख नाटककार हैं।

अन्य क्षेत्रों की भाँति प्राचीन प्रणालियाँ परिवर्तित होने लगीं। यह नाटक का दूसरा युग आया। नाटकों में पात्र देवताओं के स्थान पर साधारण साँसारिक मनुष्य बनने लगे। नाट्यशास्त्र के व्यर्थ के नियमों से भी नाटककारों ने अपने को मुक्त किया। रंगमंच के महत्व को समझ कर नाटक ऐसे लिखे जाने लगे जिन्हें मंच पर प्रदर्शित किया जा सके। पद्य की अपेक्षा नाटकों में गद्य का अधिक प्रयोग हुआ। लेखकों ने सामाजिक कथाओं के आधार पर रचनायें कीं और राष्ट्रीयता को भी नहीं भुलाया। इस काल में समस्यात्मक नाटक लिखे गये।

इस दूसरे युग के प्रतिनिधि नाटककार हैं श्री जयशंकर प्रसाद जी। आपने प्राचीन रूढ़िवाद के विरुद्ध लेखनी उठाई और पूर्ण सफलता के

साथ प्राचीन संस्कृति का प्रतिपादन करते हुए नाट्यशास्त्र के रुढ़िवाद को आपने अपने नाटकों में स्थान नहीं दिया। आपके नाटकों के अधिकतर कथानक भारत के प्राचीन इतिहास पर अधारित हैं। काल्पनिक नाटकों में भी प्राचीन भारत की सभ्यता झांकती दिखलाई देती है। अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त इत्यादि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। जयशंकर प्रसाद जी के साथ भी नाटक-साहित्य में सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा कि उनके नाटक मंच के विचार से सफल नहीं बन पाये। उनका महत्व केवल साहित्यिक क्षेत्र में ही प्रसारित होकर रह गया। जयशंकर प्रसाद जी ने पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया है और उनके नाटकों में अंतद्वन्दों का समावेश प्रचुरता के साथ मिलता है।

इस काल ने नाटक-साहित्य की एक प्रकार से भाषा ही पलट गई और एक नई विचार-धारा के साथ मुक्त कवियों ने नाटक-रचना में स्वतंत्रता पूर्वक भाग लिया। नाट्य शास्त्र के बंधन ढीले पड़ने पर नाटक साहित्य में स्वाभाविकता को स्थान मिला और रंगमंच को विचार में रखते हुए रचनायें की गईं। इस कार्य में नाटक कंपनियों ने भी सहयोग दिया परन्तु उनका सहयोग मंच तक ही सीमित रह गया साहित्यिक क्षेत्र में नहीं आ पाया। इसका प्रधान कारण यही रहा है कि नाटक कम्पनी तथा सिनेमा वालों ने अच्छे साहित्यिकों को नहीं अपनाया और अच्छे साहित्यिकों ने उस गंदगी में जाने से संकोच किया और जो गये भी, वह उस वातावरण को अपने को अनुकूल नहीं बना सके।

बद्रीनारायण भट्ट, माखन लाल चतुर्वेदी, मिलिन्द जी, गोविन्दवल्लभ पंत, हरिकृष्ण प्रेमी, जी० पी० श्री वास्तव, रामकुमार वर्मा सुमित्रानंदन पन्त, सेठ गोविन्ददास तथा उदयशंकर भट्ट इत्यादि इस कला के प्रमुख नाटककार हैं। आज का नाटक-साहित्य काफ़ी

उन्नति कर रहा है और भविष्य में उन्नति की सम्भावना है। बँगला और अंग्रेजी के अनुवादों ने भी हिंदी साहित्य को सुन्दर पुस्तकें प्रदान की हैं और उनका यहां की मौलिक रचनाओं पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है। सजीव सामाजिक-चित्रण, मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण, अभिनय योग्य कथानक तथा भाषा,सरलता के साथ गीतों का माधुर्य, बस यही इस युग के नाटकों की विशेषताएं हैं जिनके कारण इस साहित्य को समाज के पाठकों ने प्रोत्साहन दिया। हिंदी नाटक-साहित्य का भविष्य बहुत आशा-पूर्ण है। नई से नई रचना साहित्य में आ रही है। लेखक अपनी अपनी विशेषताओं के साथ नाटक साहित्य का सृजन कर रहे हैं और गद्य के विकास ने उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सहयोग दिया है। सिनेमाओं में भी अब अच्छे लेखक पहुंचने लगे हैं। हरिकृष्ण प्रेमी, सुदर्शन, नरेन्द्र शर्मा, इत्यादि के नाम इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी नाटकों पर संक्षिप्त विचार:—

१. संस्कृत और अंग्रेजी के अनुवाद हिन्दी में आये।
२. भारतेन्दु जी ने १८ नाटक लिखे।
३. नाटक-साहित्य प्राचीनता से नवीनता की ओर अग्रसर हुआ।
४. जयशंकर प्रसाद जी ने नाटक-युग में क्रांति पैदा कर दी।
५. नाटक-क्षेत्र में रंगमंच का महत्व बढ़ा और साथ २ जन-साधारण में नाटक साहित्य का प्रचार भी।

हिंदी गल्प और उपन्यास

हिन्दी गद्य का उत्थान हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने तीन कालों के अन्तर्गत विभाजित किया है। भारतेन्दु से पहिला काल, भारतेन्दु-काल और फिर द्विवेदी काल। गल्प और उपन्यास-साहित्य का प्रारम्भ हमें निबन्धों की भाँति भारतेन्दु से पूर्व के काल में न मिल

कर उन्हीं के काल से मिलता है। भारतेन्दु बाबू से पूर्व जो कथायें मिलती भी हैं उनका साहित्यिक महत्व कुछ नहीं है।

नाटक-साहित्य की भांति कथा-साहित्य भी हिंदी में सर्व प्रथम मौलिक रचनाओं द्वारा न आकर अनुवादों के ही रूप में आया। संस्कृत-साहित्य में उपन्यास या कहानी के प्रकार का साहित्य नहीं मिलता। इसलिये संस्कृत से अनुवाद होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। प्रथम अनुवाद बंगला और अंग्रेजी से हुए परन्तु इनकी भाषा अधिक रोचक नहीं बन पाई क्योंकि उस समय तक भाषा में ही रोचकता का अभाव था और वह धीरे २ सुधर रही थी। गदाधर-सिंह, रामकृष्ण वर्मा, और कार्तिक प्रसाद खत्री इस काल के प्रधान अनुवादक थे।

लाला श्री निवास को हम हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास लेखक मानते हैं। आपके 'परीक्षा गुरु' उपन्यास का शिक्षित समाज में काफ़ी आदर हुआ। इसके पश्चात् तो मौलिक तथा अनुवादों की हिंदी में झड़ी लग गई। बाबू राधाकृष्ण जी का "निःसहाय हिन्दू" बालकृष्ण भट्ट, का "नूतन ब्रह्मचारी" गोपालराम गहमर के बंगला के अनुवाद, अयोध्यासिंह उपाध्याय की "ठेठ हिन्दी का ठाठ" तथा देवकीनन्दन खत्री की "चन्द्रकाँता सन्तति" इस काल की प्रमुख रचनायें हैं।

इस काल में उपन्यास केवल दिलचस्पी के लिये या चमत्कार प्रधानता के लिये ही लिखे गये। उनमें ना तो चरित्र-चित्रण ही किसी काम का है और ना सामाजिक समस्या और उस पर विवेचना ही। भाषा में भी कोई विशेष आकर्षण नहीं है, केवल देवकीनंदन खत्री की भाषा में प्रवाह अवश्य है और कथा की तारतम्यता तो उसकी विशेषता है। इसकाल के मौलिक उपन्यास उच्च कोटि के साहित्य की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। उनकी विदेशी अनुवादों

से कोई तुलना नहीं। देवकीनंदन खत्री के अतिरिक्त किसी अन्य लेखक ने जनता को अपनी ओर आकर्षित नहीं किया।

इस काल के पश्चात् हिंदी उपन्यासों तथा कहानियों का नवीन काल प्रारंभ होता है और यह काल बहुत महत्व-पूर्ण भी है। इस युग का संचालक तथा प्रतीक हम मुंशी प्रेमचन्द को मानते हैं। मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य के प्रथम उपन्यासकार हैं जिन्होंने तिलस्म और अय्यारी को छोड़ कर सामाजिक समस्याओं के मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण की ओर ध्यान दिया। आपने हिन्दी के उपन्यास-साहित्य के अभाव को पहिचाना और अपने भरसक प्रयत्नों द्वारा उस अभाव की पूर्ति की। यहाँ हम कथा के इस युग को शैली के विचार से तीन धाराओं में विभक्त करते हैं। इन तीनों के प्रवर्तक मुं० प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद तथा पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' हैं।

प्रथम धारा जो प्रेमचंद ने बहाई उसकी भाषा विशुद्ध होते हुए भी अपने अन्दर से उर्दू के शब्दों को बिलकुल नहीं खो पाई। यह मुहावरेदार कुछ उर्दू-मिश्रित हिन्दुस्तानी का चलता स्वरूप है जो उपन्यासों के लिये उपयुक्त ही रहा और लोकप्रिय भी बन गया। इस भाषा में रवानी है और गाम्भीर्य भी। इस धारा के लेखकों में नवीनता अवश्य पाई जाती है परन्तु प्राचीनता का भी सर्वथा अभाव नहीं है। सामाजिक समस्याओं को लेकर इस धारा के लेखकों ने लेखनी उठाई है और सफलता-पूर्वक उन समस्याओं पर प्रकाश डाला है, परन्तु फिर भी इनकी लेखनी द्वारा समाज का वह स्पष्ट और सत्य चित्रण नहीं हो पाया, जो आज का समालोचक चाहता है। इस धारा के लेखकों के चित्रण बहुत लम्बे होते हैं और उन में वर्णनों की भरमार रहती है। अंग्रेजी साहित्य के विक्टोरिया काल की झलक इनके साहित्य में मिलती है। संक्षेप में कुछ कह जाने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। इन लेखकों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति भी थी। मानो

लेखक होने के नाते उपदेशक होने का भार भी इन्होंने अपने सिर ले लिया था। उस धारा के प्रधान लेखक मुंशी प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ कौशिक पं० सुदर्शन इत्यादि हैं।

दूसरी धारा को प्रचारित करने वाले थे बाबू जयशंकर प्रसाद हैं। इनके उपन्यास और कहानियों में आदर्शवाद को प्रधानता दी गई है। इनके चित्रण बहुत सजीव और मार्मिक हैं परन्तु इनकी भाषा उपन्यासों और कहानियों के अनुकूल नहीं है। इनकी भाषा में तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग मिलता है इसलिए कम हिन्दी जानने वाले पाठकों में आपकी रचनायें अधिक प्रसारित नहीं हो सकीं। भावुकता इनकी रचनाओं में कूट-कूट कर भरी थी। कहीं कहीं पर तो कहानियों में कविता का मिठास आजाता है और साथ ही साथ गाम्भीर्य भी। इनकी कथाओं में बौद्ध-कालीन संस्कृति का चित्रण मिलता है। ग्रामीण दृश्यों का भी चित्रण है परन्तु बहुत कम। कथाओं में कथनोपकथन अधिक मिलते हैं। चरित्र-चित्रण बहुत सजीव हैं। चंडीप्रसाद जी हृदयेश इत्यादि इस धारा के अन्य लेखक हैं। इस धारा में प्रवाहित होने के लिए पांडित्य की आवश्यकता थी और कथा लेखकों में इसका अभाव होता है। इसलिए इस धारा में बहने वाले बहुत कम लेखक-साहित्य में पैदा हो सके। इस धारा के साहित्य का मूल्य साहित्य की दृष्टि से बहुत अधिक है।

तीसरी धारा जिसके प्रवर्तक उग्रजी थे बहुत चटपटी भाषा तथा विचारों के साथ साहित्य में आई। मनचले नौजवानों और प्रेम के पुजारियों ने इसका हाथों हाथ आगे बढ़कर स्वागत किया और इस धारा का प्रचार भी बहुत हुआ; परन्तु यह धारा हिन्दी साहित्य का कुछ अधिक हित नहीं कर सकी। इस धारा का साहित्य उच्चकोटि के साहित्य की श्रेणी में नहीं आ सका और समाज के चरित्र को सुधारने तथा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में भी इसने कोई सहयोग

नहीं दिया। इस धारा के लेखकों ने समाज के नग्न-चित्र प्रस्तुत किये हैं और जीवन की कमज़ोरियों को ज्यों का त्यों खोल कर रख दिया है। लेखकों ने कमजोरियों को केवल खोलकर रख देना ही अपना कर्तव्य समझा। कोई सुझाव वह प्रस्तुत नहीं कर सके। इस धारा की रचनाओं में गाम्भीर्य का अभाव रहा। यही कारण था कि इनकी रचनायें केवल एक ही वर्ग द्वारा अपनाई गईं। पं० उग्र, आचार्य चतुरसेन शास्त्री इत्यादि इस धारा के प्रमुख लेखक हैं।

इस प्रकार इन तीन धाराओं में बहता हुआ साहित्य (उपन्यास तथा कहानी) उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ। आज के युग का हिन्दी कथा-साहित्य बहुत समुन्नत दशा में है और वह किसी भी अच्छे साहित्य के सम्मुख तुलना के लिए रखा जा सकता है। आज हिन्दी में कई बहुत अच्छे लेखक हैं जो इस साहित्य को निरंतर उन्नति देने में जुटे हुए हैं और अपनी एक से एक अच्छी रचना पाठकों को प्रदान कर रहे हैं। इस साहित्य का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

हिन्दी गल्प और उपन्यासों की संक्षिप्त रूपरेखा:—

१. भारतेन्दु-युग में अनुवाद तथा कुछ मौलिक उपन्यासों का प्रादुर्भाव।
२. द्विवेदी-युग में तीन प्रमुख धाराओं में विभाजित होकर आगे बढ़ना और उन्नति करना।
३. भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

हिन्दी में समालोचना साहित्य

यों तो समालोचनायें अपने पुरातन ढंग पर बहुत दिनों से हिन्दी साहित्य में चलती चली आ रही थीं, परन्तु आज के युग में समालोचना ने जो रूप धारण कर लिया है उसकी प्रथम झलक हमें भारतेन्दु

युग में ही मिलती है। प्रारम्भिक समालोचनायें पुस्तकाकार रूप में न मिल कर पत्र-पत्रिकाओं में ही मिलती हैं।

बद्रीनारायण चौधरी ने 'आनंद कादम्बिनी' में अपने कई समालोचनात्मक लेख लिखे। भारतेन्दु-युग में केवल यही समालोचनायें उल्लेखनीय हैं। इसके पश्चात् द्विवेदी जी का काल आजाता है, जब उन्होंने खोज खोज कर हिन्दी के लेखक और समालोचक पैदा किये। पं० पद्मसिंह जी हिन्दी समालोचना-क्षेत्र में एक नवीन शैली लेकर आये। उन्होंने इस क्षेत्र में एक क्रांति पैदा कर दी और समालोचकों को एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया। पं० पद्मसिंह जी हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत और अंग्रेज़ी के अच्छे विद्वान थे। यही कारण था कि आपने सभी साहित्यों का अच्छा अध्ययन किया था। आपने प्रथम बार हिन्दी साहित्य को तुलनात्मक समालोचना की झांकी दिखाई और वह बाद में इतनी प्रचारित हुई कि अनेकों समालोचकों ने उसे अपनाया। आपने बिहारी सतसई की समालोचना की।

इसके पश्चात् कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी', ला० भगवान दीन ने 'देव और बिहारी', विश्वप्रसाद मिश्र ने 'बिहारी वाग् विभूति'; बस बिहारी पर समालोचनाओं की झड़ी लग गई। इसी काल में भुवनेश्वर नाथ मिश्र ने 'मीरा की प्रेम साधना' नामक एक समालोचनात्मक पुस्तक लिखी।

समालोचना का नया युग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से प्रारम्भ हुआ। वर्तमान हिन्दी समालोचकों में शुक्ल जी का सर्वप्रथम स्थान है। तुलसीदास और जायसी की पद्मावत पर जो कुछ आपने लिखा है वहाँ विराम लगा दिया है। दूसरे समालोचक उलट-पलट कर उसी के चारों ओर घूम जाते हैं, कोई नवीन विचार प्रस्तुत नहीं कर पाते। शुक्ल जी की समालोचनाओं पर विदेशी प्रभाव है। आपका विषय का विश्लेषण पुराने ढंग का न होकर नवीन ढंग का होता है।

आपने लेखक का कर्तव्य और उसके काव्य की सफलता दोनों विषयों की तुलनात्मक रूप से विवेचना की है। गम्भीर विषयों को सुलझाने के लिये शुक्ल जी ने उपयुक्त भाषा का प्रयोग किया है।

आज के युग में हिन्दी का समालोचना-साहित्य दिन प्रति दिन उन्नति करता जा रहा है और भविष्य में बहुत उन्नति की सम्भावना है। प्राय: सभी प्राचीन ग्रन्थों पर विद्वानों ने लेखनी उठाई है और उनकी समालोचनायें करके उन्हें इस योग्य कर दिया है कि पाठक उन्हें पढ़ कर उचित अर्थ समझ सकें। बाबू श्यामसुन्दर दास जी, श्री व्यास जी, शांतिप्रिय द्विवेदी जी, नरोत्तम प्रसाद नागर, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी इत्यादि लेखकों ने इस दिशा में महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है।

आज के युग में समालोचना विश्लेषणात्मक ढंग की होती है जिसमें रचना के प्रति किसी विशेष प्रतिपादन की दृष्टि को लेकर नहीं चला जाता वरन् उसके गुण और दोषों पर समुचित रूप से विचार किया जाता है। समालोचक का कर्तव्य है कि वह रचना को पाठकों के निकट पहुँचाने में सहयोग प्रदान करे और आज के हिन्दी साहित्य के समालोचक अपने इस कर्तव्य को निभाने में पूर्ण-रूप से कटिबद्ध हैं। आशा है इस से हिन्दी साहित्य की उन्नति में सहयोग मिलेगा।

समालोचना साहित्य संक्षिप्त में:—

१. प्राचीन समालोचनायें।

२. पं० पद्मसिंह जी ने तुलनात्मक समालोचना को जन्म दिया।

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विश्लेषणात्मक समालोचना को जन्म दिया।

४. समालोचना-साहित्य उन्नति कर रहा है और इसका भविष्य बहुत उज्जवल है।

पृथ्वीराज-रासो पर एक दृष्टि

पृथ्वीराज-रासो वीरगाथा-काल का उसी प्रकार प्रतिनिधि ग्रंथ है जिस प्रकार चन्द्रवरदाई इस काल का प्रतिनिधि कवि। पृथ्वीराज रासो ६९ समय (अध्याय) का एक वृहद् ग्रंथ है यह ग्रंथ दोहा, तोमर, त्रोटक तथा रोला इत्यादि आर्ष छन्दों में लिखा हुआ है। इस ग्रंथ के लेखक के रूप में जिस कवि का नाम आता है वह महाकवि चन्द्रवरदाई ही हैं; परन्तु इस विषय में बहुत से मतभेद भी हैं। पहिले हम ग्रंथ की विवेचना करके फिर उसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता पर विचार करेंगे।

इस ग्रंथ में आद्योपांत कवि द्वारा महाराज पृथ्वीराज के यश का गान किया गया है। यह इस काल के ग्रंथ के लिये कोई नई बात नहीं थी। किसी न किसी का यह वर्णन होना तो उसमें आवश्यक ही था और फिर इसमें तो हिन्दुत्व के उस काल के प्रतीक का चरित्र-चित्रण था फिर क्यों न यह ग्रंथ हिन्दू जनता में प्रसिद्धि पाता? कल्पना की उड़ानों के साथ २ उक्तियों और अलंकारों का इस ग्रंथ में विशेष प्रयोग किया गया है। अनेकों स्थलों पर युद्ध-कला का बहुत सजीव चित्रण मिलता है। वीर और वीभत्स का बहुत सुन्दर प्रवाह इस पुस्तक में मिलता है।

समस्त ग्रंथ के पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि वह ग्रंथ एक ही काल में नहीं लिखा गया। उसकी भाषा में भी स्थान २ पर बहुत अन्तर है। कहीं पर विशुद्ध संस्कृत गर्भित हो जाती है तो कहीं पर उसमें ग्रामीणता आ जाती है कहीं पर उर्दू का सा ठाठ दिखलाई देने लगता है तो कहीं कबीर कालीन शब्दावलि मिल जाती है।

इस ग्रंथ की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता एक ऐसा विषय है जिस पर हिन्दी के विद्वानों में सर्वदा से मत-भेद रहता चला आया

है। दोनों ही पक्ष में टक्कर के विद्वान हैं इसीलिए हम दोनों ही मतों को यहाँ पर प्रकट करेंगे। पहिला मत जो इस ग्रंथ को अप्रामाणिक मानता है उसे धारण करने वाले प्रधान व्यक्ति पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, श्यामलदास और मुरारीदास हैं। वह अपने मत की पुष्टि में उसी काल के काश्मीरी कवि जयानक चरित नाटक 'पृथ्वीराज-विजय' को प्रस्तुत करते हैं। इस नाटक के आधार पर यदि देखा जाए तो चन्द्रवरदाई उस काल के कवि ही नहीं ठहरते। जयराज ने अपने काल के सभी प्रसिद्ध कवियों का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है परन्तु उसमें कहीं पर भी राजकवि पृथ्वीराज का नाम नहीं आया। दूसरा प्रमाण जो वह देते हैं वह यह है कि उस काल के शिला-लेखों और दान-पात्रों पर जो संवत् दिया है वह रासो के संवतों से मेल नहीं खाता। तीसरी बात जो रासो में लिखा है कि पृथ्वीराज ने गौरी को सात बार रण में हराया वह ऐतिहासिक सत्य नहीं है। चौथा प्रमाण इसकी भाषा है। भाषा ग्रंथ की स्थान स्थान पर बदल कर ऐसी जान पड़ती है कि इस ग्रंथ की पूर्ति कई कालों में जाकर हुई और जब जब यह लिखी गई उस काल की भाषा की छाप इसमें आ गई। पाँचवां प्रमाण जो पहिलों से अधिक प्रबल है वह यह है कि इस ग्रंथमें चंगेज़ तथा तैमूर के भी नाम आते हैं और यह लोग भारत में इस काल के पश्चात् आये हैं। छटा प्रमाण यह है कि 'पृथ्वीराज विजय' के आधार पर संयोगिता-हरण और पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना दोनों ही असत्य हैं। सातवाँ प्रमाण यह है कि हाँसी के शिला लेख और 'पृथ्वीराज-विजय' के अनुसार पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूर देवी है यह बात रासो द्वारा प्रतिपादित नहीं होती।

जिस प्रकार अप्रमाणिक मानने वाले विद्वान् तर्क देते हैं उसी प्रकार प्रामाणिक मानने वाले भी उनसे पीछे नहीं हैं। इस ग्रंथ की

प्रामाणिकता सिद्ध करने वाले प्रधान व्यक्ति हैं पं० मोहनलाल विष्णुलाल जी, मिश्र बन्धु और बाबू श्यामसुन्दर दास जी। इनका मत है कि यह ग्रंथ पूर्ण रूप से प्रामाणिक है, हाँ इतना अवश्य है कि अधिक पुराना होने कारण और साहित्य प्रेमियों द्वारा गाया जाने के कारण इसकी भाषा में कुछ अंतर अवश्य आ गया है। कश्मीरी नाटककार जयानक ने अपने 'पृथ्वीराज-विजय' में जो चन्द्रवरदाई के विषय में कुछ नहीं लिखा इसका कारण कलाकारों का आपस का द्वेष हो सकता है। संवतों के अन्तर के विषय में मोहनलाल विष्णुलाल जी कहते हैं कि अन्तर सब संवतों में ६० वर्ष का है और प्रत्येक स्थान पर यह अंतर निश्चित होने से यह सिद्ध होता है कि कवि ने इसे जानबूझ कर रखा है। नन्द वंशीय शूद्र राजाओं का ६० वर्ष का काल कवि ने अपने संवतों में नहीं गिना। मिश्रबंधु कहते हैं शाहबुद्दीन गौरी का सात बार हराया जाना मुसलमान इतिहासज्ञों द्वारा स्वीकार न करना उनकी कमज़ोरी है। बाबू श्यामसुन्दर दास जी चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं परन्तु उनका यह मत है कि इस ग्रंथ का कुछ अंश प्रक्षिप्त अवश्य है, कितना है इसका आज निर्णय करना कठिन है। फ़ारसी शब्दों के विषय में ओझाजी की शंका का समाधान मिश्र बन्धु इस प्रकार करते हैं कि मुसलमान यहाँ पहिले से ही आए हुए थे और चन्द क्यों कि लाहौर के निवासी थे इस लिये उनकी भाषा पर उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।

इस प्रकार दोनों ही मत प्रबल हैं। पृथ्वीराज-रासो इस काल की ही नहीं, हिन्दी साहित्य की एक अनुपम कृति है जिस पर साहित्य को गर्व है और रहेगा।

रासो पर संक्षिप्त विचार:—

१. यह डिंगल भाषा का सर्व प्रथम महत्त्वपूर्ण वीर महाकाव्य है।

२. इसमें पृथ्वीराज का यश-गान किया गया है।

३. इस ग्रंथ की अप्रामाणिकता अथवा, प्रामाणिकता के विषय में दो प्रबल मत हैं ।

४. उपसंहार ।

पद्मावत पर एक दृष्टि

पद्मावत हिन्दी साहित्य की प्रेमाश्रयी शाखा का प्रधान ग्रंथ है। इस शाखा के सभी सिद्धान्तों का समावेश हमें पद्मावत में मिलता है। इस ग्रंथ के लेखक मलिक मुहम्मद जायसी हैं, जिन्होंने विशुद्ध अवधी भाषा में इस ग्रंथ की रचना की है। इसकी भाषा मानस जैसी परिष्कृत अवधी नहीं है उसमें ग्रामीणता की झलक आ जाती है। हिन्दी साहित्य में मिलने वाले प्रबन्ध काव्यों में रामचरित मानस के पश्चात् पद्मावत का ही स्थान है और प्रेम काव्यों में इसका स्थान सर्व प्रथम है। हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों का मत है कि कुछ दृष्टि कोणों से देखने पर यह हिन्दी साहित्य का सर्व-प्रथम ग्रंथ ठहरता है।

प्रेम तत्व का प्रतिपादन इस ग्रंथ में सूफ़ी सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है और आत्मा का सम्बन्ध स्त्री प्रेम के रूप में ही ईश्वरीय शक्ति के साथ कवि ने प्रदर्शित किया है। कवि का मत है कि सच्चे प्रेम से स्त्री प्रेम ही ईश्वरीय प्रेम में परिवर्तित हो जाता है यदि मनुष्य माया से अपने को मुक्त कर ले। पद्मावत का नायक रत्नसेन अपनी रानी नागमती रूपी माया से अपने को मुक्त करके अनेकों कष्टों को सहन करता हुआ पद्मनी को प्राप्त करने के लिये जाता है और उसके प्रेम में योगी हो जाता है। पद्मावती उसकी परीक्षा करके अपना प्रेम उसके ऊपर अर्पित कर देती है। यह सब सूफ़ी सिद्धान्तों के आधार पर होता है। कवि ने भौतिक प्रेम में सफलता पूर्वक पारलौकिक प्रेम प्रदर्शित किया है।

ग्रंथ की कथा ऐतिहासिक है परन्तु कवि ने कल्पना के क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्रता से काम लिया है और काव्यात्मक सौंदर्य लाने में वह

बहुत सफल हुआ है। विरह का वर्णन जायसी की विशेषता है। रत्नसेन के चले जाने पर नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य मे अपने ढंग की अनोखी रचना है। इसकी तुलना केवल सूर के किये गये गोपियों के विरह-वर्णन से ही की जा सकती है परन्तु प्रबन्धात्मकता में बंध कर भी जिस मुक्त-प्रवाह के साथ जायसी ने वर्णन किया है वह सराहनीय है। सूर और जायसी के लिए वर्णन में साहित्यक सौंदर्य का अंतर नहीं, अंतर केवल यह है कि सूर का वर्णन पूर्ण रूप से भारतीय ढंग पर हुआ है, और जायसी का उदू ढंग पर। विरह-वर्णन में अत्युक्तियां अवश्य हैं परन्तु जायसी की शैली और वातावरण के दृष्टि-कोण से वह दोष प्रतीत नहीं होता।

पद्मावत आद्योपांत भाव और भावनाओं के निर्मल साँचे में ढला हुआ है। शब्द, अलंकार और भाषा का चमत्कार कवि ने काव्य में पैदा करने का प्रयत्न नहीं किया। ऐसा न करने का एक प्रधान कारण यह भी था कि कवि पहिले थे और विद्वान् बाद में। कवि ने स्वयं विद्वान होने का दावा भी नहीं किया। उन्होंने लिखा है:—"हौं पंडित न केर पछु लगा............।"

कवि ने स्वाभाविक अनुभूति और हृदय की मार्मिकता का निचोड़ पद्मावत में आदि से अंत तक भरने का प्रयत्न किया है। जिस विषय को भी लिया है उसका पूर्ण रूप से रसास्वादन वह अपने पाठकों को कराने में हर प्रकार से सफल हुआ है।

ज्योतिष, योग, शतरंज इत्यादि के सुन्दर वर्णन इस काव्य में मिलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को उन विषयों का पूर्ण ज्ञान था। कवि के वर्णन बहुत सजीव और सुन्दर हैं। ज्ञान और प्रेम का जो सम्मिश्रण इस काव्य-ग्रंथ में किया गया है वह हिन्दी के अन्य किसी ग्रंथ में नहीं मिलता।

कबीर के काव्य में जिस प्रकार ज्ञान को प्रधान स्थान दिया गया है उसी प्रकार जायसी ने अपने काव्य में प्रेम को प्रधानता दी है। ज्ञान, योग और प्रेम के सम्मिश्रण से यह विषय भी चिंतन का बन गया है और इसलिये इसे भी विद्वान् रहस्यवाद के अन्तर्गत ही गिनते हैं। कवि का दर्शन इसी रहस्य में छिपा हुआ है। यह दर्शन कबीर पन्थी ज्ञान, वैष्णव भक्ति और सूफी प्रेम का मिला-जुला स्वरूप है। भावनायें बहुत स्पष्ट हैं। रूपकों को समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती। यह सब होते हुए भी प्रेम तत्व को समझने में कठिनाई होती है। सूफ़ी सिद्धांतों का पूर्ण ज्ञान हुए बिना प्रेम तत्व को समझना कठिन हो जाता है।

पद्मावत सुन्दर साहित्यक ग्रंथ होते हुए भी जनता में अधिक प्रचारित नहीं हो सका। इसका प्रधान कारण यही था कि उस काल में जन-साधारण साहित्य को साहित्य के लिये न पढ़ कर धार्मिक दृष्टि-कोण से अधिक पढ़ते थे। जायसी का धार्मिक दृष्टिकोण उसकी अपनी कल्पना थी, जो भारतीय जनता का धर्म सिद्धाँत नहीं बन सकी। यही प्रधान कारण था कि इस ग्रंथ का भी अधिक प्रचार नहीं हो सका। परन्तु उस काल में इसका प्रचार न होते हुए भी आज का साहित्यक समुदाय इस महान् ग्रन्थ के मूल्यांकन में भूल नहीं कर सकता। हिन्दी साहित्य में इस ग्रंथ का बहुत बड़ा मूल्य है और इसने एक युग की एक विशेष धारा का प्रतिनिधित्व किया है।

पद्मावत पर संक्षिप्त विचार :—

१. विशुद्ध अवधी का यह प्रथम प्रेम ग्रन्थ है।
२. प्रेमाश्रयी शाखा का यह प्रतिनिधि ग्रंथ है जिसमें उस धारा के सभी सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है।
३. इस ग्रंथ की कथा ऐतिहासिक है परन्तु कवि ने अपनी कल्पना से उसे अपने अनुकूल बना लिया है।

४. काव्य में भाषा-सौंदर्य की अपेक्षा भावों पर कवि ने विशेष बल दिया है।

५. इस ग्रंथ का हिन्दी साहित्य में विशेष मान है और इस ग्रन्थ ने एक साहित्यिक-धारा का प्रतिनिधित्व किया है।

रामचरित मानस पर एक दृष्टि

प्राचीन भाषाओं में कालिदास कृत 'रघुवंश' 'बाल्मीकीय रामायण' होमरकृत 'ईलियड', वर्जिल कृत 'ईनियड', फिरदौसी कृत 'शाहनामा' और आधुनिक भाषाओं में मिल्टन का 'पैराडाइज लोस्ट' दांते का 'डिवाइन कमेडी' माइकेल मधुसूदन दत्त का 'मेघनाद वध' इत्यादि प्रमुख काव्य माने जाते हैं। रामचरित मानस को हम बहुत सुगमता से उक्त काव्य ग्रंथों की श्रेणी में रख सकते हैं। भाषा, भाव, काव्य-सौंदर्य, दूरदर्शिता, दर्शन, हृदय-ग्राहिता, पाठकों में सम्मान और व्यापकता सभी दृष्टि-कोण से मानस एक अलौकिक ग्रंथ है जिस की तुलना संसार के किसी भी महाकाव्य से की जा सकती है। मानस मानस संसार के उन अमर काव्यों में से है जिसमें क्षण-भंगुर काव्य का सृजन कवि ने नहीं किया बल्कि मानव के उन गूढ़ भावों का विवेचन किया है जिन के द्वारा कवि ने अपनी सूक्ष्म-दृष्टि से मानव समाज का जीता-जागता स्वरूप सामने रख दिया है।

महाकाव्य भाषा और भाव का संयोग है। गोस्वामी तुलसीदास ने मानस में प्रेम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इत्यादि मानव के सभी विकारों का सुन्दर भाषा में चित्रण किया है। मानस की भाषा भारत के अधिकांश वासियों की भाषा है, इस लिये इस ग्रन्थ का लाभ केवल कुछ इने-गिने साहित्य प्रेमी ही न उठाकर सभी काव्य प्रेमी तथा भक्तों ने उठाया है। हिन्दी साहित्य के इस ग्रंथ ने जितनी ख्याति प्राप्त की है उतनी अन्य कोई ग्रन्थ नहीं प्राप्त कर सका। यह भारत की

जनता के हृदय का अंग बन गया और गले का कंठ हार। इसके बिना आज हिन्दू जाति की गति नहीं। फिर हो भी भला क्यों नहीं, आप मानस को आद्योपांत पढ़िये और बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक का आनंद-लाभ करिये। बचपन में राम हमारे भाई हैं, कौशल्या हमारी माता है, दशरथ हमारे वृद्ध पिता हैं।" गुरु के साथ जाने की आज्ञा देने पर दशरथ को उसी प्रकार दुःख होता है जिस प्रकार वृद्ध पिता को होना स्वाभाविक है परन्तु पुत्र आज्ञा-पालन में संकोच नहीं करता। राम धनुर्विद्या सीखते हैं, वन-वन विचरते हैं, यौवनावस्था में कुमारी के प्रेम पाश में फंसते हैं, सीता दर्शन होने पर राम और लक्ष्मण का वार्तालाप सुन्दर है। यह सौंदर्य स्वयं वाल्मीकि भी अपनी रामायण में नहीं ला पाये हैं राम का गार्हस्थ्य जीवन कंटकमय है, सम्भवतः इस लिये क्योंकि इस जीवन के प्रति कवि स्वयं भी उदासीन था। राम की वन-यात्रा का कवि ने बहुत सजीव चित्रण किया है। लंकाकांड में युद्ध-वर्णन पुराने ढंग का है और बहुत योग्यता के साथ किया गया है। यहां मंदोदरी का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक है। तुलसीदास ने मानसिक चित्र खींचने में जितनी निपुणता बालकाँड और अयोध्या कांड में दिखलाई है उतनी अन्य किसी कांड में नहीं दिखला पाये हैं, उत्तरकांड तो बालकों और युवकों की समझ में ही आना कठिन है। ज्ञान का वर्णन है त्यागी मनुष्यों के लिये। इस प्रकार यह ग्रन्थ आद्योपाँत अपने-अपने स्थान पर सुन्दर है।

इस महाकाव्य में कवि ने समाज के प्रायः सभी पात्रों का सृजन किया है। पुत्र के रूप में 'राम', 'लक्ष्मण', 'भरत', पुत्री 'सीता' पिता 'दशरथ, जनक', माता कौशल्या' 'सुमित्रा, कैकेई', भाई 'राम, लक्ष्मण, भरत' 'विभीषण' 'सुग्रीव' सुमित्र 'सुग्रीव' 'विभीषण', स्त्री 'सीता' जनता 'अयोध्या की जनता', राजा 'दशरथ', शत्रु 'रावण', देशद्रोही 'विभीषण', दुष्ट भाई 'बाली' इस प्रकार समाज में जितने प्रकार

भी चरित्र उपलब्ध हो सकते हैं कवि ने खोज-खोज कर इस महाकाव्य में सफलतापूर्वक चित्रित किये हैं।

मानस कवि की हिन्दी साहित्य को एक अनूठी देन है। इस महाकाव्य में तुलसी ने अपने काव्य और दर्शन दोनों का समन्वय किया है। महाकवि तुलसीदास ने इस ग्रंथ द्वारा उस लोकधर्म का प्रतिपादन किया, जिस की निर्गुण पँथ के कवि अवहेलना करते चले आ रहे थे। पारस्परिक सम्बन्धों की उदासीनता को दूर कर कवि ने पति-प्रेम, मित्र-भक्ति, मातृ-स्नेह, कुल-मर्यादा, अत्याचार का दमन इत्यादि भावनाओं से भारतीय समाज को एक बार फिर से भर दिया। जनता को कर्तव्य की वेदी पर लाकर खड़ा कर दिया और जीवन को जीवन मान कर चलने का आदेश दिया। कवि ने जनता के भूले हुए लौकिक कर्तव्यों की ओर ध्यान दिलाया। मानस की रचना करके आपने मानव के अँग प्रत्यंग पर प्रकाश डाला है। व्यक्तिगत साधना और भक्ति के बहाव में मनुष्य को लोकधर्म ठुकराने की आज्ञा कवि ने नहीं दी। सीता के दुबारा बनवास के पश्चात् राम साधू हो सकते थे परन्तु नहीं,उन्हें अपना कर्तव्य पालन करना था। इस प्रकार तुलसी दास जी ने मानस की रचना करके समय के भूठे वेदांतियों को अपनी भक्ति के बहाव से पाखँड फैलाने से रोका और ज्ञान तथा भक्ति के बीच में एकता स्थापित की।

रामचरित मानस की कथा आज जनता के जीवन की अपनी कथा है। काव्य में उसका तारतम्य कहीं टूटने नहीं पाया। व्यर्थ का चित्रण जैसा जायसी के पद्मावत में मिलता है उसका मानस में अभाव है। जिस बात को मानस में कवि ने कहना चाहा है उसका आभास हमें पहिले से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। इसलिये जब वह सामने आती है तो भार-स्वरूप नहीं मालूम देती। ग्रन्थ में जहाँ जहाँ भी दुष्ट पात्रों का समावेश हुआ है वहाँ वहाँ उनपर कवि अपना

क्रोध प्रकट करने में नहीं चूके हैं। ब्राह्मणों की महिमा का कवि ने गान किया है। स्त्री की निंदा की है परन्तु प्रमदा के रूप में नारी अथवा अन्य किसी रूप में नहीं। यदि हम महाकाव्य की एक पँक्ति को काव्य से बाहर निकाल कर विचार करना प्रारम्भ कर देते हैं तो वह कवि के साथ अन्याय होता है। क्योंकि हमें उस पंक्ति का अर्थ उसी स्थान पर लगाना चाहिये जहाँ जिस पात्र के लिये कि उसका प्रयोग किया गया है। यदि तुलसी ने "ढोर गंवार शूद्र अरु नारी, यह सब ताड़न के अधिकारी" लिख भी दिया है तब भी सीता का चरित्र-चित्रण क्या संसार की माता के रूप में उन्होंने नहीं किया ?

काव्य की दृष्टि से मानस एक अनुपम काव्य है। इसमें अच्छे काव्य के सभी गुण वर्तमान हैं। प्रायः नौ के नौ रस इस ग्रन्थ में कहीं न कहीं पर मिलते हैं और यदि अलंकारों को खोज कर निकालने का प्रयत्न किया जाये तो वह भी एक रीति-कालीन ग्रंथ की पूर्ति के लिये पर्याप्त हैं। अर्थालंकार के साथ-साथ अनुप्रासों पर कवि ने विशेष बल दिया है। ग्रन्थ दोहा और चौपाइयों में लिखा गया है। तुलसीदास जी ने यों सभी रसों में रचना की है परन्तु इनका विशेष रस शांत ही रहा है। जायसी की ही भांति मानस की भाषा भी कवि ने अवधी चुनी है। शास्त्र पारंगत विद्वान् होने के कारण गोस्वामी जी की शब्द-योजना साहित्यिक और संस्कृत-गर्भित है।

कथा-काव्य या प्रबन्ध-काव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तु व्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद, ये अवयव होते हैं, अयोध्यापुरी की बाल-लीला, नख शिख, जनक-वाटिका के वर्णन-कहीं पर भी कवि ने इतिवृत्त की शृंखला को टूटने नहीं दिया है। जिस मर्यादा का पालन कवि ने रामचरित रचने में किया है काव्य-रचना में भी उसे भुलाया नहीं है। न कहीं आवश्यकता से अधिक वर्णन है और न कहीं आवश्यकता से कम। मानस में कवि ने प्रसंगों के अनुकूल भाषा

और रसों के अनुकूल शब्दों का प्रयोग किया है समाज और परिस्थिति के अनुसार ही संस्कृत-गर्भित हिन्दी और ठेठ ग्रामीण भाषा का प्रयोग काव्य में किया गया है। घरेलू प्रसंग होने के कारण कैकेई और मंथरा के सम्वाद ठेठ बोली में हैं। काव्य में शृंगार का लोप नहीं है परन्तु मर्यादा के साथ उसे कवि ने कुशलता पूर्वक निभाया है।

इस प्रकार मानस पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने मानस की रचना केवल अपने दृष्टिकोण से नहीं की वरन् समस्त संसार पर दृष्टि फैलाकर की है। इसमें जीवन के मार्मिक चित्रण हैं, प्रकृति का असीम सौंदर्य है, द र्शन की पैनी साधना है, काव्य का अलौकिक सौंदर्य है, भक्ति की मर्यादा है, हिन्दू मात्र के सब धर्मों का समन्वय है, मानव जीवन की एकता का महान आदेश है और सब से सुन्दर है शांत रस का अथाह सागर जिसमें डुबकियां लगाकर मानव अपने जीवन की, अपने हृदय की और अपने शरीर की जलन को सर्वदा के लिये बुझा सकता है। मानस को पढ़ कर हृदय और मन को शान्ति मिलती है और यह भूले-भटके जीवन-राही का पथ-निर्देशन करता है। मानस की रचना करके कवि ने न केवल हिन्दी भाषा भाषियों का ही वरन मानव समाज का महान हित किया है।

मानस पर संक्षिप्त विचार:—

१. संसार के महाकाव्यों में मानस का विशेष स्थान है।
२. समाज के सभी मिलने वाले चरित्रों का चित्रण इस ग्रंथ में उपलब्ध है।
३. साहित्य और दर्शन दोनों को कविने इस ग्रन्थ में सफलता पूर्वक निभाया है।
४. काव्य, भाषा, और चित्रण तीनों प्रकार का सौंदर्य इस काव्य में वर्तमान है।

९. कवि ने यह ग्रन्थ एक काल के लिये नहीं वरन् सब कालों के लिये समान रूप से लिखा है ।

विनय-पत्रिका पर एक दृष्टि

विनय-पत्रिका गोस्वामी जी की अन्तिम और साहित्य की दृष्टि से सबसे प्रौढ़तम रचना है । इसकी शैली उनकी सभी रचनाओं से पुष्ट है । इस रचना में भावों की पुष्टि के लिए कवि को कई भाषाओं का आश्रय लेना पड़ा है ! यह समस्त पुस्तक गीति-काव्य है और विनय भावना के इतने सुन्दर पद समस्त सूर-सागर में भी देखने को नहीं मिलते । आत्म-विस्मृति, तन्मयता, भाव-संचय और गीत-माधुर्य इस रचना में कूट-कूट कर कवि ने भर दिये हैं । तुलसी का दर्शन और उसके आध्यात्मिक विचार इस ग्रंथ में बहुत पुष्ट होकर भक्त पाठकों के सम्मुख आये हैं । कुछ विद्वान समालोचक तो आध्यात्मिक-क्षेत्र में विनय-पत्रिका को मानस से कहीं प्रौढ़ रचना मानते हैं । इस पुस्तक में कवि के लौकिक जगत पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है ।

स्तोत्र, पद और कवित्त तीन प्रकार की शैलियों में इस रचना को विभक्त किया जा सकता है । जहाँ तक साहित्यिक दृष्टि का सम्बन्ध है तुलसीदास जी के स्तोत्रों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता । उनमें संस्कृत स्तोत्रों की छाया सी प्रतीत होती है इनकी भाषा बहुत क्लिष्ट है, और इतनी संस्कृत-गर्भित है कि साधाराण हिन्दी पाठकों के लिए उन्हें समझना कठिन हो जाता है । इनमें अनेकों देवी देवताओं की लीलाओं का सुन्दर वर्णन दिया गया है । इनमें पुनरावृत्ति की भरमार है, इसलिये साहित्यिक रोचकता नष्ट हो जाती है इनमें अनेकों देवी देवताओं की उपासना राम के निमित्त ही की है । तुलसी के लिये सब देवता उपास्य हैं परन्तु स्वतंत्र रूप से नहीं ।

विनय-पत्रिका में कवि ने भक्ति की दीनता को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। दास्य-भावना के साथ कवि देवेच्छा के प्रतिकूल कुछ न कहने का संकल्प करता है, भगवान की रक्षा में विश्वास रखता है, भगवान् को मुक्ति प्रदान करने वाला और भक्त-वत्सल बतलाता है। इस रचना में आत्म समर्पण की भावना प्रचुरता के साथ कवि ने प्रदर्शित की है। भगवान् के सामने कवि इतना दीन है कि वह तो अपनी विनय-पत्रिका को लेकर भी स्वयं नहीं जा सकता। उसे लेकर जाने के लिये भी उसे हनुमान जी का आश्रय लेना होता है। वैष्णव सम्प्रदाय के विनय सम्बन्धी सिद्धांतों के प्रतीक स्वरूप हम विनय-पत्रिका को ग्रहण कर सकते हैं। दीनता, मान-मर्षता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य, विचारण विनय की यह सातों प्रकार की भूमिकाएं इस ग्रँथ में उपलब्ध है। यही कारण है कि तुलसी के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का अध्ययन करने से पूर्व विनय-पत्रिका का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

यह ग्रन्थ वृद्धावस्था का लिखा हुआ होने के कारण कवि की धार्मिक कल्पनाओं, धारणाओं और सिद्धांतों का एक निश्चित आदर्श बन गया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में जो पुष्टि मानस में भी नहीं आ पाई वह इस रचना में आ गई है। मानस लिखने के पश्चात् कवि की भावनाओं में जितना विकास हुआ है वह सब इस रचना में आ गया है। मानस में कवि की भावना भक्ति ज्ञान और कर्म के साथ-साथ चलती है, परन्तु विनय-पत्रिका की भक्ति अनन्य है, वृद्धावस्था में आकर कवि अपने को एक अनन्य भक्त के रूप में देखता है और उसके अन्दर से कर्म तथा ज्ञान का सर्वथा लोप सा ही हो जाता है। यहाँ उसका एक देवता है और एक उपासना पद्धति। कवि भक्ति की ओर ही अग्रसर है, कर्म तथा ज्ञान की ओर नहीं। अपने उपास्य को प्राप्त करने के लिये केवल भक्ति ही उसका साधन है और साध्य भी। यहां आकर कवि

प्रत्येक देवता से राम की भक्ति कराना चाहता है। अन्तिम काल में कवि संसार से सम्बन्धविच्छेद करके राम-चरणों में लग्न लगाते हैं। संसार के सब सम्बन्ध वह राम से ही जोड़ लेते हैं:—

ब्रह्म तू, हौं जीव, तुम्हीं ठाकुर हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा, तू सबविधि हितु मेरो॥

राम के शील का मनन, रामनाम का स्मरण, राम के सम्मुख आर्त भाव से निवेदन, रामभक्तों का सत्संग और अन्त में हरि-स्वकृपा। यह सब गोस्वामी तुलसीदास जी के हरि उपासना के साधन विनय पत्रिका में बतलाये गये हैं। हरि कृपा को कवि ने सबसे प्रधान साधना बतलाया है जिसके बिना अन्य सब साधन व्यर्थ हो जाते हैं और जीव को गति प्राप्त नहीं होती। भक्त पर भगवान् जब करुणा करके द्रवित होते हैं, यह कृपा तभी सम्भव है और वह द्रवित तभी हो सकते हैं जब भक्त फल की इच्छा न रखते हुए दास्य भावना से भगवान् की भक्ति में अपना तन, मन, धन लगा लेता है। मानव जीवन की शाँति के लिये हरिभक्ति की आवश्यकता है। मनकी शुद्धि से शांतिप्राप्त होती है, और मन की शुद्धि से ही भक्ति हो सकती है। शाँति-पूर्वक शुद्ध मन से भक्ति करने पर ही हरि कृपा प्राप्त होती है। राम चरणों में अनुरक्ति होने से ही कलि-काल में मानव पापों से मुक्त हो सकता है और उसके चित्त की प्रवृत्ति शुद्धि की ओर हो सकती है। संसार का रमणीक अथवा भयानक लगना भ्रम और अविवेक के ही कारण है। यह भ्रम और अभिवेक हरि कृपा के बिना दूर नहीं होता।

इस प्रकार हमने देखा कि विनय-पत्रिका की रचना प्रधानतया कवि ने साहित्यिक दृष्टि-कोण के लोक धर्मस्थापना अथवा पांडित्य प्रदर्शन के लिये नहीं की। यह रचना कवि ने अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रतिपादन के लिये की है। इसमें जीवन-निर्माण के उच्चतम आदर्शों को कवि ने प्रस्तुत किया है। "सन्तोष, परहित चिंतन मृदुभाषण रागद्वेष

हीनता, मानहीनता, शीतलता, सुखदुख में समबुद्धि" इत्यादि गुणों की ओर भक्तजनों का ध्यान आकर्षित किया है और अपने इस ध्येय में कवि पूर्णतया सफल रहा है।

विनय-पत्रिका पर संक्षिप्त विचार :—

१. विनय-पत्रिका में तीन साहित्यिक शैलियों का प्रयोग मिलता है।
२. इस रचना में राम-भक्ति को कवि ने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है।
३. विनय पत्रिका तुलसी के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतीक है।
४. ग्रन्थ को ललित साहित्यिक रचना न कहकर यदि धार्मिक रचना कह दिया जाये तो उचित ही होगा।
५. यह कवि की अन्तिम बहुत प्रौढ़तम रचना है।

सूर-सागर पर एक दृष्टि

'सूर सागर' महाकवि सूरदास की प्रधान रचना है। सूर के जीवन की महानता और उनके काव्य का मूल्यांकन इसी महान् ग्रंथ द्वारा किया जासकता है। 'सूर सागर' का जो रूप इस समय उपलब्ध है उसे देखने से ज्ञात होता है कि 'सूर-सागर' की कथा कुछ बिखरे रूप में श्रीमद् भागवात की ही भांति स्कंधों में बँटी हुई है। पहिले नौ स्कंधों और अंतिम दो स्कंधों का क्रम भागवत से बिलकुल मिलता है। 'सूर सागर' में भागवत की सभी कथाओं का समावेश नहीं है और जितना है वह संक्षेप में किया गया है। कहीं-कहीं पर साहित्यिक सौन्दर्य लाने के लिये कथाओं में कुछ परिवर्तन भी कवि ने कर दिया है। नवम स्कंध में रामकथा पदों में गाई गई है और वह बहुत सुन्दर काव्य है। दशम् स्कंध के अतिरिक्त शेष कथा वर्णनात्मक चौपाइयों में लिखी गई है। सूर की कला का प्रदर्शन चौपाई छंद में उतना सुन्दर नहीं हो पाया जितना पदों में हुआ है। यह कथायें

सुन्दर न लिखी जाने पर भी कवि ने पुष्टि-मार्ग के धार्मिक दृष्टिकोण से उन्हें लिखा है। श्रीमद् भागवत् का भाषा मे प्रचार करना वह अपना धर्म-कर्तव्य समझते थे। यह कथायें कवि ने अपनी और अपने साथियों की प्रेरणा से लिखी होंगी। सूर सागर के दशम स्कंध के पूर्वार्ध में सुन्दर वर्णात्मक छंद मिलते हैं और यहाँ पर कहीं-कहीं पर कथाओं की पुनरुक्ति भी हो गई है। सम्भवतः कवि ने पहिले इस समस्त ग्रंथ की रचना की है और बाद में जो सुन्दर पद उन्होने लिखे हैं उन्हें भी विषयानुकूल इसी ग्रंथ में रख दिया है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस ग्रंथ में अन्य भक्त कवियों द्वारा लिखे हुए पद भी हैं। सूरदास ने खंडिता, फाग, मान आदि के जो नवीन प्रसंग लिये हैं इनका वर्णन कवि ने पदों में किया। यह समस्त ग्रंथ सरल और मधुर ब्रज भाषा में लिखा हुआ है।

यदि साहित्यिक दृष्टि और सूरदास के महत्व को लेकर सूर-सागर को देखा जाय तो सूर-सागर के दशम स्कंध का पूर्वार्ध पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण भाग ठहरता है। यह भाग पदों में गाया गया है। इन पदों का पहिला भाग कृष्ण की उन लीलाओं से सम्बन्धित है जिनमें उन्होंने असुरों का बध किया है। इन पदों में वर्णनात्मकता ही पाई जाती है, कवि की प्रतिभा का कोई चमत्कार नहीं दिखलाई देता। केवल कालिय-दमन और इन्द्र-गर्व-हरण की कुछ लीलाओं का वर्णन सुन्दर है। इनके वर्णन में कवि की उच्चतम प्रतिभा का आभास मिलता है। इन कथाओं में सूरदास ने भागवत की कथाओं को ज्यों का त्यों नहीं रख दिया है वरन् उनमें कलात्मक परिवर्तन किया है, और उनमें सरल स्थान पैदा किए हैं। इन अलौकिक कथाओं के अतिरिक्त कृष्ण की अन्य लीलाओं में कवि ने कृष्ण की लौकिक लीलाओं का ही चित्रण किया है।

कृष्ण की लौकिक लीलाओं का जो चित्रण सूर ने किया है वह अमर है और उन्हीं के आधार पर सूर को भाषा के पंडितों ने सूर्य की

ढवी प्रदान की है। बाल-काल और किशोरावस्था सम्बन्धी पद सूरदास ने अपनी मौलिक कल्पनाओं के आधार पर लिखे हैं। इनमें भागवत् से कवि ने कुछ नहीं लिया। कृष्ण का बाल-चित्रण और नन्द यशोदा का वात्सल्य वर्णन करने में कवि की अद्वितीय प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। किशोर कृष्ण की प्रेम-लीलायें कुछ भागवत् पर अवश्य आधारित हैं परन्तु उनसे भी कवि ने अपनापन पूर्ण रूप से भर दिया है। दानलीला, मान, खंडिता, हिंडोलाफाग और राधा की कल्पना यह सब सूर के मौलिक प्रसंग हैं। राधा का प्रथम मिलन, फिर वियोग और फिर मिलन यह कथा कवि ने बहुत विस्तार और सौन्दर्य के साथ वर्णित की है। भागवत् में तो कहीं राधा नाम भी नहीं मिलता।

सूर सागर का भ्रमर-गीत प्रसंग बहुत सुन्दर है। भागवत् के भ्रमर-गीत और सूर के भ्रमर-गीत में आकाश-पाताल का अंतर है। भ्रमर-गीत का आकार कवि ने श्रृंगार शास्त्र के आधार पर खड़ा किया है। राधा-कृष्ण के प्रसंगों को लेकर कवि ने वंशी उद्दीपन विभाव प्रस्तुत करके काफी लिखा है। वाग्वैदग्ध्य के सुन्दर उदाहरण, रूप सौन्दर्य और उद्धव के प्रसंगों में मिलते हैं। कवि ने मुरली और नेत्रों के प्रसंग में सुन्दर कूटपद लिखे हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि 'सूर सागर' की समस्त कथा भागवत् से ली हुई होने पर भी उसमें मौलिकता का अभाव नहीं है। वल्लभाचार्य के कहने पर ही सूरदास ने भागवत् लीला का गान किया था। सूर के साहित्य में सरलता केवल धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं है वरन् साहित्यिक सौन्दर्य और प्रतिभा की भी इनमें कमी नहीं है। भ्रमर गीत, नेत्रों और मुरली के पदों में जो रूपक कवि ने प्रस्तुत किये हैं उनमें सुन्दर साहित्य के दर्शन होते हैं और रीतिकाल की भीनी-भीनी महक आने लगती है। सूर ने विद्यापति की भांति सरस पदों की

रचना की है, परन्तु सूर की विशेषता यह है कि उसका आधार धर्म होते हुए भी उसमें विद्यापति के श्रृंगार से कम सरसता नहीं आ पाई है। सूर ने श्रृंगार और रीति का आश्रय अवश्य लिया है। परन्तु अपने साहित्य को उनके अर्पण नहीं कर दिया है; वरन् उन्हें अपने साहित्यिक सौन्दर्य में प्रभावोत्पादक बनाने के लिये प्रयोग किया है। मान और खंडिता के प्रसंग जो सूर ने लिए हैं वह लौकिक रूप में न लेकर आध्यात्मिक रूप में लिए हैं। यदि वह लौकिक रूप में लेते तो नायिका भेद, अभिसार और परकीया जैसे रसोत्पादक विषयों को न छोड़ते। कवि ने काव्य-शास्त्र का उपयोग भक्ति साहित्य में कोमलता, सरसता, माधुर्य और सौन्दर्य लाने के लिए किया है।

सूर-सागर में राधा कृष्ण के संयोग, रति-विलास इत्यादि का जो चित्रण मिलता है उनमें आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध स्थापित करने का कवि ने प्रयत्न किया है। इसमे गीत-गोविंद की झलक आती है। सूर की गोपियों का आध्यात्मिक भावना के कारण श्रृंगार में कम विकास हो पाया है। सूर की गोपियाँ राधा के प्रति ईर्ष्या न करके उस पर मोहित होती हैं। यह श्रृंगार-काव्य की धारणा के विपरीत भाव है। सूर-सागर के यह पद फुटकर होते हुए भी कथाबद्ध होकर चलते हैं और पाठक भी उनसे आनन्द-लाभ तभी कर सकता है जब इसे प्रसंग वश पढ़े। इस प्रकार सूर सागर में गीतात्मकता और प्रबन्धत्मकता का ऐसा सम्मिश्रण मिलता है जैसा हिन्दी के अन्य किसी काव्य में नहीं मिलता।

सूर-सागर एक बृहद् ग्रंथ है परन्तु इसे हम रामायण की भाँति महाकाव्य नहीं कह सकते क्योंकि इसमें जीवन के विविध प्रसंगों और दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण नहीं मिलता। जीवन की विविध परिस्थितियों को भुलाकर केवल कुछ अंशों पर ही बल दिया गया है। परन्तु जीवन के जिन भागों का चित्रण सूर सागर में हुआ है वह

बहुत पूर्ण हैं। बाल-चित्रण, संयोग और वियोग इन तीन जीवन की परिस्थितियों पर कवि ने इतना सुन्दर लिखा है कि हिन्दी का कोई अन्य कवि नहीं लिख पाया। इस प्रकार सूर-सागर का महत्व हिन्दी साहित्य में महान् है। यदि हिन्दी के समस्त साहित्य को उसका जीवन मान लिया जाये तो उसके तीन भागों की पूर्णतया पूर्ति हमें सूर-सागर में मिलती है।

सूर-सागर की विशेषतायें:—

१. समस्त ग्रंथ कथाबद्ध होते हुए भी फुटकर पदों का संग्रह सा प्रतीत होता है।
२. कथा का आधार भागवत है पर कवि ने अपनी मौलिकता को भी पूर्ण स्वच्छंदता दी है।
३. बाल-लीला, संयोग और वियोग का चित्रण सूर साहित्य की विशेषता हैं।
४. काव्य ब्रज भाषा में चौपाई और पदों में लिखा गया है।
५. यह सूर की प्रधान रचना है और इसी के आधार पर सूर हिन्दी-काव्य जगत का सूर्य कहा जाता है।

बिहारी-सतसई पर एक दृष्टि

हिन्दी-साहित्य के ग्रंथों में बिहारी-सतसई अपना विशेष स्थान रखती है। ग्रंथ की सर्व-प्रियता न धर्म के कारण है और न किसी अन्य प्रभाव के ही कारण। इसे सर्वप्रिय बनाने वाली हैं कवि कला, कवि का साहित्य और काव्य का साहित्यिक सौन्दर्य। इस काव्य ने किसी बाहर की भावना से बल नहीं प्राप्त किया वरन् बल स्वयं इसके अन्दर निहित है और जब तक हिन्दी साहित्य और इसके प्रेमी संसार में रहेंगे, बिहारी सतसई का महत्व कम होने की सम्भावना नहीं।

यह ग्रंथ ब्रज भाषा में लिखा हुआ है और दोहा छंद का इसमें प्रयोग है। प्रत्येक दोहा स्वतंत्र है। किसी कथा के आधार पर इस ग्रंथ का निर्माण नहीं हुआ है। कवि ने स्वच्छंदता पूर्वक काव्य की रचना की है और यदि यह कह दिया जाये कि गागर में सागर भरने में वह सफल हुआ है तो यह कथन सत्य ही है। बिहारी सतसई की प्रसिद्धि कवि के जीवन-काल में ही होनी आरम्भ हो गई थी। मतिराम जैसे प्रसिद्ध कवि पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा और उस काल से ही बिहारी सतसई पर टीकायें लिखनी आरम्भ हो गईं। आधे शतक से ऊपर टीकायें बिहारी सतसई पर लिखी गईं। हिन्दी साहित्य में जगन्नाथ प्रसाद 'रत्नाकर' जी के शब्दों में "बिहारी सतसई से अधिक टीकायें आज तक किसी अन्य ग्रंथ पर नहीं लिखी गईं।"

जिस प्रकार कबीर के पश्चात् अनेकों संत हुए, पद्मावत के पश्चात प्रेमकाव्य लिखे गये, मानस के पश्चात राम-साहित्य की रचना हुई और सूर-सागर के पश्चात कृष्ण-साहित्य की झड़ी लगी, इसी प्रकार 'बिहारी सतसई' के पश्चात् हिन्दी साहित्य में सतसइयों का प्रादुर्भाव हुआ। ब्रज भाषा के प्राय: सभी कवियों पर किसी न किसी रूप में 'बिहारी सतसई' का प्रभाव पड़ा है। दोहे, सवैये और कवित्तों में रीति-काल में जो साहित्य रचा गया उनमें होने वाली स्वच्छंद कविता का 'बिहारी सतसई' प्रधान आधार रही है। बहुत से कवियों ने तो बिहारी के एक-एक दोहे पर कई-कई छंद लिखे हैं। पं० पद्मसिंह जी ने अपनी तुलनात्मक समालोचना में इसके अनेकों उदाहरण दिये हैं।

'बिहारी सतसई' का रचनाकाल १६६२ ई० माना जाता है। ग्रंथ में ७०० दोहे हैं, जो समय-समय पर लिखे गये हैं। राजा जय-

सिंह की आज्ञा से आपने इन सब दोहों को संग्रहीत करके सतसई का रूप दिया :—

हुकम पाइ जयसिंह को, हरि राधिका प्रसाद ।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सँवाद ॥

सतसई के दोहे इतने प्रभाव-शाली हैं कि एक जनश्रुति के अनुसार राजा जयसिंह नई रानी से विवाह करने पर अपने राज्य के प्रति कर्त्तव्य को भुला बैठे थे । हर समय महलों में ही रहने लगे थे और और राज-कार्य में हानि होने लगी थी । उस समय कवि के निम्नलिखित दोहे की रचना की जिसे पढ़कर राजा राज-महलों से बाहर निकल आये और उन्होंने अपने राज-कार्य को पूर्ववत् सँभाल लिया ।

नहिं पराग नहिं मधुर रस, नहिं विकास इहि काल ।
अली कली सों ही बिंध्यो आगे कौन हवाल ॥

इसी प्रकार कवि ने अन्य बहुत से दोहे लिखे हैं । कहते हैं राजा जयसिंह प्रत्येक दोहे पर कवि को एक अशर्फी देता था । बिहारी ने सतसई के दोहों में सातवाहन, गोवर्धनाचार्य और अमरुक आदि प्राचीन कवियों की रचनाओं से भाव लिये हैं परन्तु उनमें इस प्रकार अपनापन ला दिया है कि पुरानी गंध भी शेष नहीं रह गई है । बिहारी ने उनमें बहुत चमत्कार पूर्ण परिवर्तन किये हैं ।

बिहारी सतसई के दोहे व्यंजना-प्रधान हैं । इस प्रकार के काव्य को मुक्तक, उद्भट-काव्य या सूक्ति-काव्य कह सकते हैं । जीवन और साहित्य को ध्यान में रखते हुए कवि ने चमत्कारात्मक काव्य की रचना की है । सतसई का प्रधान विषय श्रृंगार है । यत्र-तत्र भक्ति, दर्शन, नीति और ऐतिहासिक दोहे भी हैं परन्तु प्रधानता श्रृंगार की ही है । संत-साहित्य, भक्ति-साहित्य और रीति-काल तीनों काल के साहित्यों की झलक हमें सतसई में देखने को मिल जाती है । श्रृंगार के अतिरिक्त अन्य विषयों के दोहे साग में नमक की ही भाँति हैं और इस

ग्रंथ का आज जो कुछ भी साहित्य में मान है वह भी शृंगार के ही दोहों के कारण है। सतसई में ६०० दोहे शृंगार के हैं। नायिका सौंदर्य, दीप्ति, कांति, नखशिख, हावभाव, अनुभाव, केलि-विलास सभी का सजीव-चित्रण इस ग्रंथ में मिलता है। नेत्रों, हावों और अनुभावों के चित्रण में सूर के बाद बिहारी ही आते हैं। एक-एक दोहे में अनेकों भावों को सुन्दर ढंग से सजाना बिहारी जैसी विशेषता हिन्दी के अन्य किसी भी कवि में नहीं पाई जाती। एक दोहा देखिये :—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनु हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

प्रेम की शास्त्रीय रीति का बिहारी को हम पंडित मानते हैं। प्रेम की तन्मयता, उसमें लीन हो जाना, अपनत्व को उसमें खोकर बेबस हो जाना, इन सबका कवि ने सुन्दर चित्रण किया है। एक दोहा देखिये :—

कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेसनु लजात।
कहि हैं सब तेरो हियौ मेरे हिय की बात॥

बिहारी सतसई में सुन्दर शब्द-चयन, मधुर शब्द-योजना, उचित और भावपूर्ण शब्दों का प्रयोग, आनुप्रासिक शब्द-संग्रह, नाद-सौंदर्य-पूर्ण शब्द संकलन इतना व्यवस्थित मिलता है, इसमे बिहारी के अतिरिक्त अन्य कोई हिन्दी कवि सफल न हो पाया है। बिहारी ने प्रकृति-चित्रण भी सुन्दर किया है। एक दोहा देखिये :—

चुवत सेदु मकरंद कन तरु-तरु तर बिरमाय।
आवत दच्छिण देस तो थक्यौं बटोही बाय॥

बिहारी सतसई पर फ़ारसी विरह-निरूपण का भी स्पष्ट प्रभाव है। नायिका का विरह में दुर्बल होजाना, निश्वासों के साथ छै-छै सात-सात हाथ आगे-पीछे झूलना, विरह-ताप में राधिका पर सखियों

द्वारा शीतकाल में भी गुलाब जल छिड़कवाना इत्यादि कल्पनायें विदेशी ही हैं।

बिहारी सतसई भाषा, भाव, चित्र-सौंदर्य, प्रेम-चित्रण, तथा हाव-भाव वर्णन में अद्वितीय है। हिंदी साहित्य को इस रचना पर अभिमान है। भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं में बिहारी सतसई के समान रचना देखने को नहीं मिलती। साहित्य में यदि शृंगार और प्रेम का स्थान प्रधान है तो हिन्दी साहित्य में बिहारी सतसई का भी स्थान प्रधान ही रहेगा।

बिहारी सतसई की विशेषतायें :—

१. हिन्दी काव्य में बिहारी सतसई का स्थान, विश्लेषण और शृंगार वर्णन।
२. सतसई में प्रकृति-चित्रण तथा नायक-नायिका का प्रधान-चित्रण।
३. बिहारी की रसिकता, आचार्यत्व और कला-प्रियता।
४. उपसंहार।

साकेत पर एक दृष्टि

साकेत बाबू मैथिली शरण जी का वह अमर काव्य है जिसमें उन्होंने एक ऐसे पात्र का चरित्र-चित्रण किया है जिसके प्रति आज तक का हिन्दी साहित्य सर्वदा ही उदासीन रहा है। यों साकेत में रामायण की पूरी ही कथा आ जाती है परन्तु उर्मिला का चित्रण कवि ने पूरे दो सर्गों में किया है। अयोध्या में प्रधानतया होने वाली घटनाओं को ही इस काव्य में महत्व दिया गया है इसी लिये इस ग्रंथ का नाम कवि ने साकेत रखा है। राम के राज्याभिषेक से लेकर चित्र-कूट में राम-भरत मिलन तक की कथा आठ सर्गों में चलती है। फिर नौ और दस सर्ग में उर्मिला के वियोग का नाना परिस्थियों में कवि ने

चित्रण किया है। कवि ने उर्मिला की अंतर्वृत्तियों का विस्तार के साथ वर्णन किया है।

साकेत प्रबन्ध काव्य है परन्तु यह कवि ने उस समय लिखना प्रारम्भ किया था जब उनकी प्रवृत्ति गीत काव्य की तरफ़ हो चली थी। मुक्तक कवितायें गीतों के रूप में हिन्दी साहित्य के अन्दर प्रविष्ट हो चुकी थीं और कविवर मैथिली शरण जी भी उस धारा के प्रवाह से अपने को न बचा सके। गीतों के इसी बहाव के कारण कवि के साकेत में वैसी प्रबन्धात्मकता नहीं आ पाई जैसी कि इस ग्रंथ के लिये आवश्यक थी।

साकेत में उर्मिला का विरह-वर्णन एक विशेष चीज़ है जिसमें कवि ने पुरानी पद्धति के अलंकारिक चमत्कार के साथ सजीव वर्णन किया है। आज की गीतात्मकता, नवीन वेदना और लाक्षणिक वैचित्र्य वाली कविताओं ने साकेत की कविता में प्राण फूंक दिये हैं। साकेत की उर्मिला विरह में पागल होकर भी आदर्श और कर्तव्य को नहीं भुलाती। जब स्वप्न में उसे लक्ष्मण सामने खड़े दिखलाई देते हैं तो वह प्रसन्न नहीं होती, बल्कि कह उठती है :—

> प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे ?
> हम गिरे, अहो ! तो गिरे, गिरे !

दंडकारण्य से लेकर लंका तक की घटनायें शत्रुघ्न के मुंह से मांडवी और भरत के सम्मुख वर्णन कराई गई हैं। यह कथा बहुत रसात्मक और रोचकता के साथ कही गई हैं। कवि ने हिन्दी काव्य में रामायण के पात्रों के चरित्रों का जो आदर्श पुराने समय से मिलता है उसे निभाने और उसी में आधुनिकता की पुट देने का सफल प्रयत्न किया है। किसानों और श्रमजीवियों के साथ सहानुभूति, राज्य की व्यवस्था में प्रजा का हाथ, सत्याग्रह, मानवता के अटल सिद्धांतों के

अनुसार विश्वबंधुत्व इत्यादि पर कवि ने प्रकाश डाला है। कवि ने ग्रंथ में आधुनिकता लाने का भरसक प्रयत्न किया है।

समय और काल के अनुसार उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं के साथ काव्य प्रणालियों को ग्रहण करते हुए चलना मैथिलीशरण की विशेषता है। इसीलिये साकेत का लेखक इस काल का प्रतिनिधि-कवि कहलाया है। साकेत मे कवि ने बहुत साफ़ और सुथरी भाषा का प्रयोग किया है। भाषा में माधुर्य लाने के लिये कवि ने बंग-भाषा के कवियों का अनुसरण किया है। "साकेत गुप्त जी की सामंजस्यवादी रचना है, मद में झूमने वाली रचना नहीं।" इस काव्य में सभी प्रकार की उच्चता प्राप्त होती है। सरसता, सरलता और माधुर्य की त्रिवेणी के संगम पर इस ग्रंथ की सृष्टि हुई है और यही कारण है कि इसकी प्रत्येक पंक्ति से रस टपकता है। जिस समय चित्रकूट पर सीता जी बहाने से लक्ष्मण को उर्मिला के पास झोंपड़ी में भेज देती हैं और लक्ष्मण सहम कर लौटने लगता है तो कवि ने उर्मिला के मुँह से कितने सुन्दर शब्दों में प्रेम रस प्रवाहित किया है :—

मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी।
मैं बाँध न लूंगी तुम्हें, तजो भय भारी॥

साकेत के लक्ष्मण और सीता रामचरित मानस के राम और सीता नहीं हैं। जिस मर्यादा का पालन कवि तुलसीदास ने किया है वह बंधन गुप्त जी ने ढीले कर दिये। साकेत के पात्र आज के पात्र हैं जिनमें सीता भाभी हैं और लक्ष्मण उसका देवर, फिर क्यों न उनमें कहीं न कहीं हास्य की, उपहास की और व्यंग्य की पुट आ जाये? कवि ने कवि-कल्पना के आधार पर भाभी और देवर का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। इस चित्रण में भारतीय आदर्शवाद को भी हाथ से नहीं जाने दिया और वर्तमान सामाजिक दृष्टि में भी लाकर कवि ने अपने काव्य के पात्रों को खड़ा कर दिया है। साकेत को पढ़कर

हम केवल कल्पनाओं और आदर्शवाद में ही नहीं घूमते वरन दुनिया के महान चरित्रों की कलात्मक कल्पना करते हैं।

साकेत का नायक हम राम को न मानकर लक्ष्मण को मान सकते हैं, क्योंकि इस ग्रंथ में प्रधान चित्रण लक्ष्मण और उर्मिला का ही है। परन्तु लक्ष्मण के चरित्र का विकास राम के ही साथ हो सकता है इसलिये राम के महत्व को भी कम नहीं किया जा सकता। लक्ष्मण की सेवा-भावना और त्याग का कवि ने बहुत सुन्दर चित्रण किया है। साकेत की कैकेई मानस की कैकेई से भिन्न है। साकेत की कैकेई को अपनी भूल ज्ञात होने पर बहुत खेद होता है। साकेत अपने ढंग का अकेला महाकाव्य है। इसमें स्थान-स्थान पर गीत और छंदों की अनेक-रूपता होते हुए भी प्रबन्धात्मकता को कवि ने खूब निभाया है। घटनाओं का तारतम्य साकेत में कवि ने बहुत सुन्दर दिया है।

खड़ी बोली साहित्य का यह प्रथम महाकाव्य है जिसमें हम राम-भक्ति शाखा की वर्तमान प्रगति के दर्शन करते हैं। इसमें खड़ी बोली का वह मँजा हुआ स्वरूप है जिसमें माधुर्य के साथ-साथ अलंकार शास्त्रों की भी पूरी निपुणता प्राप्त होती है। कवि ने इस काव्य में अपनी कला, पांडित्य और भावुकता का सुन्दर सम्मेलन प्रस्तुत किया है। यह इस युग की वह अनुपम देन है जो हिन्दी साहित्य में एक अमर रचना बनकर आई है और ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जायेगा, हिन्दी के पाठकों में इसकी सर्व-प्रियता बढ़ती ही जायेगी। बाबू मैथिलीशरण गुप्त की यह वह प्रतिनिधि रचना है जिसके आधार पर कि कवि को पूर्ण-रूप से समझा जा सकता है।

साकेत के विषय में संक्षिप्त विचार:—

१. यह खड़ी बोली का प्रधान महाकाव्य है जिसमें उर्मिला के चरित्र का सुन्दर विकास कवि ने किया है।

२. इस ग्रंथ का नायक हम राम को न मान कर लक्ष्मण को मान सकते हैं।
३. साकेत के लक्ष्मण और सीता रामचरित मानस के राम और लक्ष्मण नहीं हैं उनसे भिन्न हैं।
४. साकेत की कैकेई और मानस की कैकेई में भी बहुत अन्तर है।
५. साकेत भाषा, भाव, कथा, साहित्य और अलंकार-शास्त्र सभी विचारों के बहुत सुन्दर ग्रन्थ है।
६. ग्रंथ में चरित्र-चित्रण कवि ने बहुत सुन्दर किया है।
७. उपसंहार।

कामायनी पर एक दृष्टि

कामायनी हिन्दी साहित्य के वर्तमान युग की एक सुन्दरतम देन है। कवि 'प्रसाद' ने हिन्दी साहित्य को कामायनी देकर क्या कुछ नहीं दिया? कामायनी की कथा कवि ने वैदिक उपाख्यान से ली है। इस काव्य का नायक आदि पुरुष मनु है और ग्रंथ में यह चित्रित किया गया है कि नवीन सभ्यता की प्रतिष्ठा किस भाँति हुई और मानवता के सर्वथा नूतन-युग का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ?

नायक मनु महा प्रलय से बच कर चिंतित बैठे हैं कि इसी समय कामगोत्र की पुत्री श्रद्धा (कामायनी) से उनका परिचय होता है। श्रद्धा और मनु साथ रहने लगते हैं। श्रद्धा मनु में मानवीय संस्कार पैदा करना चाहती है परन्तु मनु में दैवी संस्कार जागृत हो जाते हैं, और वह यज्ञ, बलि इत्यादि के लिये शिकार करने लगता है। श्रद्धा माता होती है और उसका प्रेम बंट जाता है इससे मनु के मन में ईर्ष्या होती है और उनका मन उचाट हो जाता है। वह श्रद्धा को छोड़ कर चल देता है और सारस्वत-प्रदेश की रानी इड़ा से उसकी भेंट होती है। इड़ा देवों की बहन थी और मनु के अन्न से पली थी परन्तु मनु इस

भेद से अनभिज्ञ थे। इड़ा को एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो सारस्वत प्रदेश के राज्य-कार्य को सँभाल सके और मनु ने उसे सँभाल लिया। राज्य ने उन्नति की। मनु राज्य-सत्ता पाकर संतुष्ट नहीं हुए और उनका मन इड़ा की तरफ़ दौड़ने लगा। मनु प्रमाद में बलात्कार पर उतारू हो गये। इधर देव भी क्रुद्ध हुए और प्रजा ने विद्रोह कर दिया। मनु युद्ध में घायल होकर बेहोश हो जाते हैं। दूसरी ओर श्रद्धा स्वप्न में मनु की इस दशा का स्वप्न देखकर अपने बच्चे को ले खोज के लिये चल देती है। श्रद्धा बेहोश मनु को अनेक उपचारों द्वारा, वहाँ आकर, होश में लाती है। मनु फिर श्रद्धा की ओर आकर्षित होते हैं परन्तु उनका मन उन्हें धिक्कारता है और वह फिर भाग निकलते हैं। इड़ा भी दुखी है और वह श्रद्धा से उसका पुत्र माँगती है। श्रद्धा इड़ा को लोक-कल्याण का उपदेश देकर अपना पुत्र उसे दे देती है और स्वयं मनु की खोज में चल देती है। एक घाटी में उसकी मनु से भेंट होती है। मनु अपनी भूल समझ चुका था। वह श्रद्धा का अनुसरण करता है और उसके पीछे-पीछे संसार के विविध रूप देखता हुआ एक ऊंचे स्थान पर पहुँच जाता है। यही ऊंचा स्थान कैलाश है। एकात्म्य की अनुभूति यहाँ पहुँच कर मनु को होती है और विराट् नृत्य के दर्शन होते हैं। वहाँ जीवन के सब रहस्य आनन्द में लय हो जाते हैं।

प्रागैतिहासिक महाकाव्य होते हुए भी 'प्रसाद' जी ने कामायनी में मनोवैज्ञानिक तत्वों को पूर्ण रूप से संवादों में रख कर काव्य की रचना की है। व्यष्टि और समष्टि रूप से जीवन की क्रमिक भावनाओं में से होकर जीवन का विकास कवि ने किया है। कामायनी में किसी भी तत्व की सीधी व्यंजना न करके प्रतीकात्मक रूप से की गई है। आध्यात्मिक अथवा रूपक के रूप में मनोवैज्ञानिक व्याख्या में कवि ने ऐतिहासिकता का आधार लिया है। कामायनी के सब शीर्षकों के अन्तर्गत

इन शीर्षकों के भाव तथा उनसे सम्बन्धित भावनाओं का विश्लेषण कवि ने बहुत रोचकता के साथ किया है। मानव जीवन की सब भावनाओं का क्रमिक-विकास कामायनी में मिलता है। प्रथम सर्ग चिन्ता है सो मानवता के प्रारम्भ में चिंता है भी अनिवार्य। चिंता समाप्त होने पर मानव के जीवन में आशा का उदय होता है। आशा के स्वर्णिम प्रभात का कवि ने बहुत सजीव-चित्रण किया है। आशा के पश्चात् श्रद्धा जीवन में आती है, और श्रद्धा के मिल जाने पर काम का प्रभाव होता है। कितने सुन्दर क्रमिक विकास के साथ कवि चल रहा है? काम के पश्चात् वासना और फिर लज्जा जीवन का प्रधान गुण बनकर आ जाती है। इसी समय जीवन में कर्म की प्रधानता होती है और साथ ही साथ नासमझी के कारण ईर्ष्या भी होने लगती है। ईर्ष्या से मानव पथ-भ्रष्ट हो जाता है और वह अंधा होकर उचित-अनुचित को भूल जाता है। बहन उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है परन्तु वह मदांध है। मदांध होकर उसे टक्कर खानी पड़ती है परन्तु श्रद्धा उसे फिर आकर सँभाल लेती है और शाँति का मार्ग दिखलाती है। यह जीवन का क्रमिक विकास है जिसमें चिंता, मिलन, वासना, संघर्ष क्लेश, शाँति सभी कुछ कवि ने निहित किया है। मानव के विकास की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति कामयानी में मिलती है। हिन्दी साहित्य में अपने ढंग का यह अकेला ही ग्रंथ है और अन्य साहित्यों में भी इस प्रकार का कोई ग्रन्थ देखने में नहीं आता। मानव-सृष्टि का उदय, विकास और उसकी चरम सिद्धि इस ग्रंथ में मिलती है। कवि ने कामायनी की रचना बौद्धिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही की पृष्ठ-भूमि पर की है। कामायनी में शैव-तत्त्वज्ञान की प्रधानता है। सृष्टि का प्रारम्भ, उसका स्थिरता और उसकी निर्वाण सब कुछ आनन्दमय है। शिव विश्वात्मा के चिरमंगल का तत्त्व है। एकाँत प्रेम और मंगल में

भी शिव की कल्पना करनी होती है। कामायनी में मनु का प्रकृति के साथ महान सामंजस्य स्थापित किया गया है।

कामायनी एक महाकाव्य है क्योंकि इसमें मानव-जीवन की सम्पूर्ण व्याख्या मिलती है। जीवन की नाना परिस्थितियों का उत्थान और पतन कामायनी में मिलता है। इसमें एक ऐसे नायक का चरित्र-चित्रण किया गया है जो मानव जाति का नायक है, जिससे मानवता का उदय होता है, कामायनी विश्व के सम्मुख एक आदर्श भी प्रस्तुत करती है और इतिहास भी। 'साहित्य दर्पण' के मतानुसार महाकाव्य की कथा कल्पित न होकर ऐतिहासिक अथवा पौराणिक होनी चाहिये और उसका नायक एक देवता। यह गुण भी कामायनी में मिलता है। महाकाव्य शृंगार, वीर या शाँत रस-प्रधान होना चाहिये और उसमें आठ से अधिक सर्ग होने चाहियें। इस दृष्टि से तो कामायनी एक उच्च कोटि का महाकाव्य ठहरता है। कामायनी में संध्या, सूर्योदय रात्रि, प्रातः, अन्धकार, वर्षा इत्यादि के सुन्दर चित्रण हैं। संयोग और वियोग-शृंगार की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

कामायनी में चरित्रों का विकास बहुत सुन्दर हुआ है। श्रद्धा काव्य की नायिका है और वह मनु को भी 'शक्तिशाली और विजयी' बनने का आदेश करती है। कामायनी इड़ा और मानव को भी इसी प्रकार संदेश देकर कहती है:—

> तुम दोनों देखो राष्ट्र नीति,
> शासक बन फैलाओ न भीति ॥

समस्त ग्रंथ में श्रद्धा का चरित्र प्रधान है। एक प्रकार से मनुष्य-चरित्र का भी उदय और विकास श्रद्धा के ही सम्पर्क में आकर होता है। श्रद्धा इस प्रकार इस महाकाव्य का आधार है।

कामायनी शृंगार तथा शाँत-रस प्रधान है। 'वासना' सर्ग में शृंगार का सुन्दर चित्रण दिया गया है। संयोग और वियोग का

आधुनिक गीतात्मक शैली-चित्रण है। नायिका और नायक एकांत में मिलते है और प्रेमालाप होता है। 'कर्म' के अंतिम छन्दों में शृंगार का बहुत सुन्दरतम स्वरूप कवि ने प्रस्फुटित किया है।

कामायनी में प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण किया है। जल प्लावन में प्रकृति के पाँचों तत्वों का संघर्ष कवि ने दिखलाया है। प्रातः काल और रात्रि के अन्तिम प्रहर का कितना सुन्दर-चित्रण कवि ने किया है:—

उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई॥
नव कोमल आलोक बिखरता हिम-संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग।

इसी प्रकार है प्रकृति का चित्रण बहुत सजीवता के साथ कवि ने किया हैं। प्रकृति को मानव-जीवन के साथ-साथ तथा स्वतंत्रता से, दोनों प्रकार कवि लेकर चला है। मानव-प्रकृति का बहुत सुन्दर चित्रण कामायनी में मिलता है। कामायनी के १५ सर्गों में कवि ने शृंखला-बद्ध कथा के अंतर्गत प्रकृति, मानव-प्रकृति और काव्य गुणों का सुन्दर समावेश किया है। कामायनी में उपमा उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों का प्रधानतया प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार हमने कामायनी की संक्षिप्त विवेचना करके देखा कि उसमें कवि ने दर्शन-शास्त्रीय-विवेचना, महाकाव्य विषयक सिद्धान्तों, चरित्र-चित्रण, बुद्धिवादिता, प्राकृतिक-चित्रण इत्यादि सभी गुणों का बहुत कलात्मक ढंग से चित्रण किया है। कामायनी कवि की वर्तमान युग की काव्य-धारा का वह प्रतीक है जिसमें वर्तमान गीतात्मकता और जिसे छायावाद कहा जाता है उस वाद की सम्पूर्ण सृष्टि मिलती है। कामायनी वर्तमान युग के काव्य का वह दर्पण है जिसमें पाठक हर प्रकार की छाया का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं।

कामायनी के विषय में संक्षिप्त विचार:—

१. कामायनी में मानव के क्रमिक विकास का चित्रण कवि ने किया है।
२. कामयनी में महाकाव्य होने के सभी गुण वर्तमान हैं।
३. कामायनी में प्रकृति तथा मानव दोनों का ही सुन्दर-चित्रण कवि ने किया है।
४. कामायनी में दर्शन और बुद्धिवाद दोनों को ही लेकर कवि ने काव्य में काव्यात्मकता के साथ निभाया है।
५. कामायनी आज के कविता-काव्य का प्रतीक है।
६. उपसंहार

सेवा सदन पर एक दृष्टि

सेवासदन मुंशी प्रेमचंद जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में है। इसमें वेश्या का चरित्र-चित्रण उपन्यासकार ने बहुत कलात्मक ढंग से किया है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों मे समाज-सुधार पर विशेष बल दिया है। अपने इसी आदर्श को सम्मुख रखते हुए लेखक ने इस उपन्यास का भी निर्माण किया है। उपन्यास में चरित्रों का चित्रण लेखक ने विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के साथ किया है और ऐसे सुन्दर चरित्र पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किए हैं कि वह वास्तविक से ही जान पड़ते हैं। वेश्याओं के बाज़ार में लेखक अपने पाठकों को ले जाता अवश्य है परन्तु उनकी भावनाओं को इतना संतुलित करके रखता है कि कलुषित होने की हवा तक भी नहीं लगने देता। पाठक के सामने पद्मसिंह या बिट्ठलदास ही रहते हैं। सदन या भोली के प्रति पाठक के मन में सहानुभूति नहीं उत्पन्न होने पाती। कालीदास कपूर एम० ए० एल० टी लिखते हैं:—

"वारवनिताओं का आदर होने से गृहस्थाश्रम का अधःपतन होता है। सेवासदन में कही गई कहानी के द्वारा उसके उद्धार की रीति

बताई गई है। इस उपन्यास का प्रधान उद्देश्य यही है। परंतु इसके प्रत्येक पात्र के चरित्र से एक न एक शिक्षा मिलती है। कृष्णचंद्र सच्चे हैं, परंतु उन्हें अपने सत्य को देश की दहेज-प्रथा-रूपिणी भीषण दुर्देवी के चरणों में बलिदान करना पड़ता है। अपनी दुलारी और शिक्षिता लड़की के विवाह के लिए दहेज की रक़म जुटाने को वह रिश्वत लेते हैं, पकड़े जाते हैं, क़ैद भुगतते हैं। घर मटिया-मेट हो जाता है। एक लड़की निर्धन वर के गले मढ़ी जाती है, दूसरी दासी होकर अपना समय काटती है, स्त्री मानसिक क्लेश का शिकार बन कर बहुत शीघ्र संसार से कूच कर जाती है। इस अग्नि-परीक्षा में हरिश्चंद्र ही का सत्य टिक सकता था। जेल से लौटने पर कृष्णचंद्र के चरित्र का अच्छी तरह पतन हो गया है। लेखक महोदय बहुत देर तक उनको हमारे सामने नहीं रहने देते। विपत्ति-सागर में दो-चार और गोते लगाकर वह हमारी दृष्टि से लुप्त हो जाते हैं।

कृष्णचंद्र का सा शोकमय अंत और किसी का नहीं हुआ। बाक़ी चरित्रों के चित्रण में कहीं आनंद है, कहीं शोक और कहीं विप्लव परंतु अंत शांति-पूर्ण है। इन चरित्रों में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य चरित्र सुमन का है।

अत्युक्ति न समझिए, सुमन ही के चरित्र-चित्रण में उपन्यास का गौरव है। उसी में उपन्यास के प्राण हैं। सुमन के चरित्र में यदि कहीं भी बट्टा लग जाता तो उपन्यास किसी काम का न रहता। लेखक महाशय उसे पढ़ा-लिखा कर, और शारीरिक सुख का शौक़ीन बना कर, पंद्रह रुपये महीने पर नौकर एक अधेड़ ब्राह्मण के साथ ब्याह देते हैं। चरित्र-चित्रण में सुमन को एक बात ने बचा लिया है कि वह भारतीय नारी है, वह पतिव्रता है सही; परंतु आत्म-गौरव और शारीरिक सुख की लालसा उसको वह व्रत निबाहने नहीं देती। इधर वह देखती है कि समाज में पतिव्रता की कोई क़दर नहीं। घर

के सामने ही वह देखती है कि पतिता भोली का आदर-सम्मान बड़े-बड़े मर्मज्ञ करते हैं, पर उसके लिये इतना भी नहीं कि वह अपनी मर्यादा को एक नीच सिपाही के हाथ से भी बचा सके। पति महाशय (गिरजाधर जी) क्या करें। पत्नी के वस्त्राभूषण और मान-प्राप्ति की लालसा को वह कुछ और ही समझे। एक दिन आग लग ही तो गई, सुमन गृहिणी के उच्च पद से गिर गई।

परंतु अभी कुछ और पतन होना बाक़ी है। दूसरे दृश्य में उसे हम दालमंडी के एक कमरे में देखते हैं। यदि लेखक महाशय ज़रा भी चूक जाते तो सुमन के पतन की पराकाष्ठा हो जाती। सदनसिंह के प्रेम-पाश में सुमन फँस जाती है, परंतु पतित नहीं होने पाती। इसके पहले ही समाज-सुधारक विट्ठलदास उसके उद्धार के लिये पहुँच जाते हैं पर उसका उद्धार नहीं होता। विधवा-आश्रम में उसका बहुत शीघ्र लाया जाना, समाज की कृपा से उसके उद्धार-विरुद्ध कठिनाइयों का पड़ना, शाँता की विपत्ति, उसके भावी श्वसुर मदनसिंह का विरोध—इनमें से किसी एक का भी काम कर जाना सुमन को गिरा देने के लिये काफ़ी था। परंतु लेखक उसको हर तरफ़ से बचा कर अंत में सेवासदन की संचालिका का पद तक दे देते हैं। सुमन ने अपने ही को नहीं, उपन्यास को भी गिर जाने से बचा लिया।

स्त्री-पात्रों में यदि प्रधान चरित्र सुमन का है तो पुरुष-पात्रों में पद्मसिंह का मानने योग्य है। कथा-प्रसंग में वह कुछ देर बाद दिखाई देते हैं परंतु फिर वह दृष्टि के सामने से नहीं हटते। पद्मसिंह एक साधारण समाज-सुधारक हैं। विचारों के बहुत ऊंचे हैं, हृदय के बहुत कोमल हैं, परंतु हैं बड़े दब्बू। ऐसे पुरुष लेख चाहे जितने लिख मारें, वक्तृताएं चाहे जितनी झाड़ आयें परंतु मौका पड़ने पर रहेंगे सबके पीछे। नाच के बड़े विरोधी, परन्तु मित्रों ने दबाया तो जलसा करा बैठे। इसका उन्हें बहुत प्रायश्चित्त भी करना पड़ा—न

यह नाच होता, और न सुमन घर से निकाली जाती। वह विट्ठलदास की शरण लेते हैं। परन्तु उससे पद्मसिंह की नहीं बनती। जैसे वह कर्म में कच्चे हैं वैसे ही विट्ठलदास विचार में कच्चे हैं, चंदा वसूल करने में कठिनाई, वारांगनाओं को शहर के बाहर जगह देने के प्रस्ताव का म्यूनीसिपैलिटी के मेंबरों द्वारा विरोध, इधर घर में सदनसिंह की ज़ियादती, उधर सुमन की बहन शांता के साथ सदनसिंह के विवाह में विघ्न पड़ने की चोट—पद्मसिंह बिलकुल ढीले पड़ गये। परंतु विचार-शक्ति में कमी नहीं पड़ी। उन्हीं के द्वारा लेखक महाशय ने अपना विचार प्रकट किया है कि वार-नारियों को निकाल देने ही से सुधार न हो जायगा। क्यों न उनको और उनकी संतान को अच्छे मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जाय? इस विचार को विट्ठलदास सेवा-सदन के रूप में परिणत करते हैं। परन्तु पद्मसिंह के हृदय में अंत तक भय की लता बनी रहती है। झेंप के मारे वह सेवा-सदन में नहीं जाते, कहीं ऐसा न हो जो सुमन से चार आँखें हो जाँय।

ऐसे और भी अनेक पात्र हैं। परन्तु लेख बढ़ जाने के भय से हम उनका वर्णन न करेंगे। सरला, शांता को अनेक कष्ट सहन करके भी, अन्त में, सौभाग्यवती गृहिणी का सुख भोगना बदा था। चंचला परन्तु पतिव्रता सभद्रा, अनेक आपदाएँ झेल कर भी, पति के सामने हँसती ही रहती है। गृहस्थ गजाधर के सन्यासाश्रमी अवतार गजानंद, अन्त में, बहन के घर से निकाली हुई किसी समय की अपनी पत्नी को शोक-सागर से उबार कर शांति-प्रदान करते हैं। पुराने विचार के दिहाती रईस मदनसिंह नाच कराने में अपनी मर्यादा समझते हैं। दुलार से बिगड़े हुए नवयुवक मदनसिंह का पतन, और अपनी ही मेहनत द्वारा उद्धार; म्यूनिसिपैलटी के मेम्बरों में से कोई गान-विद्या और हिंदी का शौकीन है; किसी को अंगरेज़ी बोले बिना चैन नहीं; किसी के दुर्व्यसन वैसे ही हैं जैसे उसके दुर्विचार—इन

सबके लिए इस उपन्यास में स्थान है, सबके चित्र देखने को मिलते हैं; सबसे किसी न किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होता है।

उपन्यास के पात्रों से दृष्टि हटा कर यदि वह उसके उद्देश्य की ओर प्रेरित की जाय तो एक बहुत बड़ा समाजिक प्रश्न सामने आ जाता है। क्या वह 'सेवासदन', जिसकी झलक हम इसउपन्यास-स्वप्न में देखते हैं, कभी प्रत्यक्ष देखना भी नसीब होगा? प्रश्न कठिन है। शहरों की आबादी दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। इस काम को म्यूनीसिपैलटियों के भरोसे छोड़ देने से सफलता होने की नहीं। देखें, हमारी व्यवस्थापक-सभायें इस प्रश्न को क्योंकर हल करती हैं। लेखक के विचार यदि उपन्यास के बहाने पाठक-जनता पर कुछ भी असर करें तो समाज एक बड़े बुरे रोग से मुक्त हो जाय।

उपन्यास में दोष दिखाने के लिए बहुत कम जगह हैं। मुसलमान पात्रों की उर्दू बहुत क्लिष्ट है। यदि सरल हो सकती तो बहुत अच्छा था; टिप्पणी में कठिन शब्दों के अर्थ ही लिख दिये जाते तो पाठकों को बहुत सुभीता हो जाता।"

सेवा सदन के विषय में संक्षिप्त विचार:—

१. सेवासदन प्रेमचन्द्र जी का प्रथम सुन्दर उपन्यास है।

२. इस उपन्यास में लेखक ने वेश्या-चित्र उपस्थित करके भी समाज-सुधार की ओर पाठकों को आकृष्ट किया है।

३. उपन्यास का चरित्र-चित्रण बहुत सुन्दर और मार्मिक है।

४. भाषा में कुछ उर्दूपन अधिक है; यदि कुछ कम होता तो अच्छा होता।

५. यह हिन्दी का अपने ढंग का प्रथम सफल उपन्यास है।

प्रेमाश्रम समालोचना क्षेत्र में

'प्रेमाश्रम' सेवा सदन के पश्चात् मुन्शी प्रेमचन्द जी का दूसरा सुन्दर उपन्यास है। प्रेमाश्रम में उपन्यासकार ने किसी एक चरित्र का निर्माण नहीं किया वरन् अनेकों चरित्रों का निर्माण किया है। प्रेमचन्द जी चरित्र-चित्रण कला में इतने प्रवीण थे कि कहीं पर भी उनके चरित्र-चित्रण में शिथिलता देखने को नहीं मिलती।

प्रेमाश्रम में समाज के साथ-साथ लेखक ने राजनीति के क्षेत्र में भी पदार्पण किया है। देश-प्रेम-भावना से उपन्यास के प्रधान पात्र ओतः प्रोत होकर चलते हैं। समय की प्राय सभी प्रचलित विचार धाराओं का समावेश हमें इस उपन्यास में मिलता है। समाज और राजनीति की प्रतिनिधि विचार धाराओं को लेकर ही उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास का निर्माण किया है और यही कारण है कि प्रेमाश्रम को पढ़ कर उस समय का प्रत्यक्ष चित्र पाठक के नेत्रों में झूलने लगता है। "प्रेमाश्रम के विषय में 'प्रेमाश्रम' की समालोचना करने के लिए किस पद्धति का प्रयोग करें? बंकिमचन्द्र जी के उपन्यासों को देखकर अंगरेज़ी-साहित्य से परिचित समालोचक तुरंत कह सकते हैं कि यह स्काट के ढर्रे के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। रवींद्रनाथ जी के उपन्यासों को आप सामाजिक कहते हैं। आपको अंगरेज़ी-साहित्य में इनकी जोड़ के बहुत से उपन्यास-लेखक मिलेंगे। जार्ज इलियट, थैकरे, या डिकेंस—इनके तथा रवींद्रनाथजी के उपन्यास-क्षेत्र में कोई भारी भेद नहीं है। परन्तु प्रेमचन्दजी के उपन्यास इन श्रेणियों में से किसी में नहीं आ सकते। इन उपन्यासकारों का काम यह है कि किसी समय के समाज का चित्र खींच दिया, और पात्रों से सहानुभूति दिखाकर, उनकी हंसी उड़ाकर, या उन्हें नीचा दिखाकर, पाठकों के चरित्र सुधारने का प्रयत्न किया। परन्तु इनमें भविष्य का चित्र नहीं है। कला में शायद यह प्रेमचन्दजी से अधिक निपुण हों; परन्तु

इनमें वह उत्तेजना-शक्ति नहीं, उतना कल्पना का विकास नहीं। वे समाज के सामने एक आइना रख सकते हैं जिसे देखकर वह हंसे या कुढ़े, परन्तु उस आइने के पीछे कोई चित्र नहीं, जिसकी सुन्दरता तक पहुँचने के लिए उसके हृदय में उत्तेजना हो।

'प्रेमाश्रम' के उपन्यास-पट पर सामने तो १९२१ के भारतीय समाज का स्पष्ट चित्र है, और पीछे किसी भावी भारत की छाया है। ऐसे चित्र का क्या नामकरण हो? क्या 'प्रेमाश्रम' दार्शनिक उपन्यासों की श्रेणी में रक्खा जाय?"

प्रेमचन्दजी दिहाती झगड़ों का करुणा-जनक दृश्य दिखाने में सफल हुए हैं। यों तो राय कमलानंद, गायत्री, विद्या, ज्ञानशंकर, ज्वालासिंह, डा० इर्फ़ानअली के राग-रंग नगर-निवासियों के हैं; परन्तु उनका अस्तित्व दिहात ही पर है। सुक्खू, बिलासी, मनोहर, बलराज, क़ादिर मियाँ—ये सब तो पूरे दिहाती ही हैं।

चरित्र-चित्रण-कला को जाने दीजिए। शायद किसी और समय, दिहाती और बेगार, मुक़द्दमेबाज़ी और नौकरी के प्रश्न इतने रुचिकर न होते, पर यह उपन्यास सन् १९२१ का लिखा हुआ है और उस वर्ष के अन्दर जितना आँदोलन और राजनैतिक ज्ञान दिहातों में पहुँच गया, उतना शायद ही साधारणतः ५० वर्ष में पहुँचता।

प्रेमाश्रम हाजीपुर का दूसरा नाम है, परन्तु उपन्यास की नींव में लखनपुर है। वह बनारस के पास हो या कलकत्ते के—इससे कोई प्रयोजन नहीं। सुक्खू चौधरी के से पंचों के खंडहर, क़ादिर मियाँ के से नरम दिहाती नेता, मनीपुर के से अक्खड़ किसान, बलराज के से उदार-हृदय और बलिष्ठ नवयुवक भारतवर्ष के प्रत्येक गाँव में मिलते हैं। उनके प्रभाशंकर के से ज़िमींदार थे, जो अभ्यागतों के सम्मान में अपनी इज्जत समझते थे, आसामियों के प्रति सहानुभूति

थी, और उनके विरुद्ध अदालत जाने में संकोच होता था। ऐसे ज़िमींदार भी सुखी थे और उनके किसान भी।

परन्तु इधर पाश्चात्य सभ्यता के साथ मालिकों की आवश्यकताएं भी बढ़ीं। जिन जमींदारों के पुरखे बहलियों पर चढ़ते थे, घुटने के ऊपर तक धोती और चार आने सिलाई का अंगरखा या मिर्ज़ई पहनते थे, उनकी संतानों के लिए मोटर की सवारी, लंबी रेशमी किनारे की धोती और साहबी ठाठ की आवश्कता पड़ने लगी। दिहात की उन्नति कौन करता है इज़ाफ़ा और बेदख़ली का अत्याचार होने लगा।

अभी तक लखनपुर पर सिर्फ़ उन लोगों का अत्याचार है, जो वर्षा-ऋतु के बाद गाँवों पर धावा करते हैं। अभी ज्ञानशंकर ने ज़िमींदारी पर हाथ नहीं लगाया। इसलिए अभी मनोहर के साथियों का यही विचार है कि अँग्रेज़ हाकिम अच्छे होते हैं। परन्तु इधर प्रभाशंकर का बुढ़ापा, जमींदारी की आमदनी से ज्यादा खर्च, और उधर ज्ञानशंकर पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव और यौवन की उमंग। ज्ञानशंकर ने हर तरफ़ हाथ बढ़ाना शुरू कर दिया। बस इनके पदार्पण से उपन्यास का प्रादुर्भाव होता है।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि इस उपन्यास में कोई नायक या नायिका है या नहीं? यदि है, तो कौन है, और नहीं है तो क्यों नहीं है?

यह तो मान ही नहीं सकते कि इस उपन्यास में नायक और नायिकी हैं ही नहीं। यदि चरित्र की उज्ज्वलता पर ही ध्यान दिया जाय, तो एक ओर प्रेमशंकर और दूसरी ओर विद्या—यही पात्र लेखक के आदर्श मालूम पड़ते हैं। इस उपन्यास में ज्ञानशंकर का चरित्र आदरणीय नहीं है। गायत्री भी विद्या के सामने तुच्छ मालूम पड़ती है। परन्तु हैं ये ही उपन्यास के नायक और नायिका। ज्ञानशंकर न होते तो कोई लखनपुर का नाम ही न सुनता।

ज्ञानशंकर का चरित्र बहुत जटिल है। एक भारतीय नवयुवक पर पश्चिमी शिक्षा की नई रोशनी का प्राथमिक प्रभाव क्या पड़ता है? यह बहुत ही खूबी के साथ दिखलाया गया है। उक्त शिक्षा ने उसकी भारतीय आत्मा को ही नष्ट कर दिया। जब कभी किसी पवित्र आत्मा के सामने उसकी ऐश्वर्य-लोलुपता का परदा हट जाता है, तो हमें उसकी अन्तरात्मा के मधुर प्रकाश की झलक देख पड़ती है, परन्तु फिर परदा गिर जाता है और ज्ञानशंकर फिर उसी ऐश्वर्य-छाया की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। ज्ञानशंकर नायक होते हुए भी अपने भाग्य का विधाता नहीं है। वह समझता है कि अपनी चतुरता के बल पर वह अपना भविष्य आनन्दमय बना सकेगा, परन्तु काल उसे भी नचाता है। प्रभाशंकर की भलमनसाहत प्रेमशंकर के त्याग, गायत्री की लालसा, ज्वालासिंह का स्वाभिमान, राय कमलानन्द की निष्काम संसार-परता—सभी से वह लाभ उठाता मालूम होता है। परन्तु किसलिए?

उपन्यास के दो अंग हैं। एक सामाजिक, दूसरा राजनैतिक। ज्ञानशंकर दोनों को बाँधे हुये हैं। पर इन दोनों में एक एक प्रधान पात्र भी हैं। सामाजिक अंग पर गायत्री का प्रभुत्व है और राजनैतिक अंग के विधाता प्रेमशंकर हैं।

गायत्री के चरित्र का इज़ाफे से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह एक बड़ी भारी ज़िमींदारी की मालकिन अवश्य है। उसके प्रबन्ध के लिए वह ज्ञानशंकर को बुलाती है परन्तु इन बातों का उसके चरित्र से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। गायत्री का पतन धर्म-जाल की ओट से होता है। उसे नहीं मालूम होता कि वह किधर जा रही है और जब अकस्मात उसके सामने पाप का अन्धकार-मय गढ़ा दिखाई देता है, तो फिर वह समाज को अपना मुँह नहीं दिखाती। हिन्दू विधवा का पतन यों ही होना स्वाभाविक है।

उपन्यास का वह अंश अधिक करुणामय है, जिसमें लखनपुर की गाथा है। इस अंश के प्रधान पात्र प्रेमशंकर हैं। यदि पश्चिमी शिक्षा का एक फल ज्ञानशंकर की ऐश्वर्य-लोलुपता में है, तो दूसरा फल प्रेमशंकर की निष्काम जाति-सेवा में है। जिस समुद्र में हलाहल विष है, उसमें अमृत भी है। प्रेमशंकर उस शिक्षा के अमृतरूपी फल हैं। कुछ मित्रों का खयाल है कि प्रेमशकर में गाँधीजी की छाया है। हम लेखक के मन की थाह लेने का साहस तो नहीं कर सकते, हमें तो इस पात्र में महर्षि टाल्स्टाय के चरित्र की छाया दिखलाई पड़ती है।

ज्ञानशंकर चाहते हैं कि प्रेमशंकर को गाँव का आधा हिस्सा न देना पड़े। इसके लिए क्या क्या जाल रचे, श्रद्धा को कहाँ तक भरा, बिरादरी को कहाँ तक उभाड़ा। परन्तु प्रेमशंकर अमेरिका से और ही पाठ सीख आये हैं। उन्हें साम्यवादियों के मतानुसार एक आदर्श कृषक-संस्था तैयार करनी थी, गाँव को तिलांजलि दे दी और जाति-सेवा में लीन हो गये। श्रद्धा छूट गई, उसका उन्हें समय-समय पर शोक होता है। भाई से बिगाड़ हो गया, इसके लिए भी उनकी आत्मा को क्लेश होता है। पर वह अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होते। इसीलिए लेखक ने भी भविष्य की बागडोर को उनके हाथ से नहीं जाने दिया।

प्रेमशंकर हाजीपुर को एक साम्यवादी गाँव बना देते हैं। लखनपुर का उद्धार करते हैं और मायाशंकर को आदर्श जिमींदार का पद देने में सफल होते हैं। प्रेमशंकर के संसर्ग में जो पात्र आया, उसको उन्होंने पवित्र कर दिया। उद्दण्ड मनोहर, स्वार्थी ज्ञानशंकर और लालसामयी गायत्री इस योग्य नहीं थे, इसीलिए लेखक ने इनका अन्त ही कर दिया। सुक्खू चौधरी बैरागी हो गया, ज्वालासिंह डिप्टी-कलक्टरी छोड़कर जाति-सेवा में रत हुए, डाक्टर इर्फानअली

ने वकालत छोड़ दी और डा० प्रियानाथ एक सर्व-प्रिय डाक्टर होगये; यहाँ तक कि पतित दयाशंकर का भी उन्होंने अपनी सुश्रूषा से उद्धार कर दिया। प्रेमशंकर का जीवन एक प्रकार श्रद्धा के बिना अपूर्ण सा था, सो श्रद्धा और प्रेम का ज्वाला द्वारा सम्मिलन भी होगया।

और भी पात्र हैं। गाँव के अत्याचारी अँगरेज़ नहीं हैं। मनोहर और सुक्खू को गौसखाँ तथा साहबों के अहलकारों से ही शिकायत है। ज्वालासिंह न्याय करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु धोखा खाते हैं और उन्हें स्तीफा देना पड़ता है। गौसखाँ का भी वही अन्त हुआ जो अत्याचारी ज़िलेदारों का होता है। मनोहर की उद्दंडता का भी फल उसे मिल गया। सुक्खू को मनोहर के खेतों की बड़ी लालसा थी, परन्तु गाँव पर विपत्ति आने पर वह उनका नेता हो गया। कादिरमियाँ गाँव के सच्चे सेवक बने रहे। दुखरन भगत पर विपत्ति का दूसरा ही असर हुआ। निराशा ने उसके हृदय में जन्म भर की संचित शालिग्राम के प्रति श्रद्धा उखाड़ कर फेंक दी। बलराज गांव के भविष्य का युवक है। उसमें स्वतन्त्रता है, वह किसी में नहीं, क्यों कि उसके पास जो परचा आता है उसमें लिखा है कि रूस में किसानों का राज्य है। यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुईं तो वह भविष्य का बालशेविक होगा। मनोहर की पतिव्रता गृहिणी विलासी इनके झगड़ों को शाँत करने का प्रयत्न करती रहती है, पर गाँव में विप्लव उसी के द्वारा होता है। न उस गाँव की द्रौपदी पर गौसखाँ का अत्याचार होता, न विद्वेष की आग इतनी भड़कती। इस विप्लव के शांत होने पर जो बचते हैं, वे उपसंहार में भावी गवर्नर हिज़ एक्सलेंसी गुरदत्त राय चौधरी और भावी जिमींदार मायाशंकर के समय में रामराज्य का सुख भोग करते हुए दर्शन देते हैं।

कथा-प्रसंग के परे और भी पात्र हैं। राय कमलानन्द का चित्र विशेषकर भावमय है। मालूम नहीं कि यह उपन्यास लेखक के

मस्तिष्क से निकले हैं या इनकी जोड़ के संसार में कोई हैं भी। इनका जीवन सांसारिक विलास में मग्न है। पर इससे इनके पौरुष में कोई अन्तर नहीं आता। इनकी भोग-क्रियाएँ इसीलिए थीं कि जीवन की चरम सीमा तक सुख भोग कर सकें। इनका आत्मबल इतना प्रखर था कि ज्ञानशंकर भी उनके सामने नहीं ठहर सका। परन्तु जीवन का आदर्श त्रुटियों से भरा है।

विद्या और श्रद्धा के चित्र भी उल्लेखनीय हैं। दोनों साधारण हिन्दु-रमणियाँ हैं। विद्या के चरित्र में जटिल समस्या ही कभी नहीं आई, और जब उस पर कष्ट पड़ता है तो लेखक उसे बरदाश्त करने योग्य न समझ कर उसका अन्त ही कर देता है। कुटिल ज्ञानशंकर की पतिव्रता पत्नी का यही अन्त होना था। श्रद्धा के सामने पहले से ही धर्म और प्रेम की समस्या मौजूद है। पर प्रेमशंकर के चरित्र का अंत में उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि धर्म की श्रृंखलायें ढीली पड़ गईं। लेखक ने श्रद्धा को प्रेम से मिला कर दोनों का जीवन सार्थक कर दिया।

पात्रों का अवलोकन करके अब लेख-शैली पर विचार कीजिए। प्रेमचंदजी की यह पुरानी आदत है कि भाषा हिंदी ही रहती है, पर शब्दों का रूप पात्रानुसार बदलता रहता है। 'प्रेमाश्रम' में दिहाती पात्र भी हैं, इस लिए उनके काम में आने वाले शब्द भी वैसे ही हैं। रिसवत, सरबंस, सुदा, मसक्कत, मूरख, सहूर, अचरज, कागद, ये सब दिहातियों के ही शब्द हैं। भाषा सिर्फ करतार की बिगड़ गई है। वह ठेठ गँवारू है। और जितने दिहाती हैं, उनकी भाषा में पूर्वोक्त प्रकार के शब्द आने से लालित्य बढ़ ही गया है।

प्रेमचंद जी ने अपनी लेख-शैली में "इनवर्टेड कामाज़" का प्रयोग न करके प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया है। पुरानी हिंदी में इनवर्टेड कामाज़ नहीं थे। वार्तालाप में पात्र का नाम और उसके

बाद बस कामा आ गया। कोई आंतरिक विचार हुए या कोई लंबी बातचीत हुई तो इसकी भी आवश्यकता नहीं।

मनोविकार के चित्र तथा विचित्र उपमाएं उपन्यास-धारा की तरंगों पर कमल के फूलों की तरह दर्शन देती चली जाती हैं।

यह उपन्यास अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है जिसे देकर उपन्यासकार ने हिन्दी-साहित्य-निधि के कोष को भरा है। यह उपन्यास हिन्दी साहित्य के उन उपन्यासों में से है जिन्हें लेकर हिन्दी साहित्य अन्य भाषा के उपन्यासों में सगर्व खड़ा हो सकती है और उनके सम्मुख अपनी महत्ता प्रस्तुत कर सकता है।

प्रेमाश्रम के विषय में संक्षिप्त विचार:—

१. प्रेमाश्रम समाज और राजनीति दोनों की समस्याओं के आधार पर भारत की १९२१ की डायरी है।
२. प्रेमाश्रम में किसी एक पात्र का विकास न होकर समाज के विविध अंग प्रत्यांगों के साथ विविध पात्रों का विकास हुआ है।
३. उपन्यासकार की भाषा मंजी हुई और सर्व-साधारण की समझ में आने वाली है परन्तु हिन्दी होते हुए भी उसमें उर्दू शब्द बहुत हैं।
४. उपन्यास में वर्तमान का चित्र और भविष्य की सुन्दर कल्पना है।
५. लेखक सब प्रकार से अपने आदर्श में सफल रहा है और जो आदर्श वह प्रस्तुत करना चाहता है उसे उसने पूर्ण-रूप से प्रस्तुत किया है।

रङ्ग-भूमि पर एक दृष्टि

रंग-भूमि मुंशी प्रेमचन्द का चौथा उपन्यास है। इस उपन्यास में भारत के अन्दर कल-कारखानों का उदय और ग्रामीण उद्योगों का पतन दिखलाया है। शहर और ग्रामों की यह समस्या उस समय

पश्चिमीय देशों में समाप्त हो चुकी थी और पूर्वी देशों में चल रही थी। कारखानों के प्रताप से ग्राम शहरों में परिवर्तित होते जा रहे थे और उसी के विपरीत विद्रोह की भावना को लेकर उपन्यासकार ने रंग भूमि की रचना की है। इसी समय भारत में गांधी जी अपनी चर्खा-प्रणाली का प्रचार कर रहे थे। इस चर्खे के प्रचार के साथ-साथ चल रहा था महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन। यही कारण था कि यह गांधी जी की चर्खा विषयक प्रस्तावना संपत्ति-शास्त्र वेत्ताओं को उतना आकृष्ट न कर सकी और देहातों में कर्घे इत्यादि की योजनायें अधिक प्रस्फुटित नहीं हो सकीं। भारत के देहाती बराबर कल-कारखानों के चक्कर में फंसते रहे। सरकार ने समाज को सहयोग नहीं दिया और ना ही देहाती उद्योग-धंधों को। जिसका स्पष्ट फल यह हुआ कि देहातों में जो बचे-कुचे देहाती धंधे थे वह भी समाप्त होने लगे और कलों का प्रसार भारत में बढ़ने लगा। अंगरेज़ी कारखानों में बनी हुई कलों को बेचने के लिये भारत का बाज़ार खुल गया और भारत का रुपया विलायत को जाने लगा। रंग-भूमि सरकार की इस नीति के विरुद्ध उस काल में एक खुला हुआ विद्रोह था। भारत की राजनीति को यह एक सुझाव भी था।

"रंग-भूमि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के विषय में कालिदास कपूर एम० ए० लिखते हैं :—

"विनय और सोफ़ी के चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक हैं मनुष्य और स्त्री की प्रेम-भावना में क्या अन्तर है? क्या यह सत्य है कि मनुष्य का प्रेमोपासना-मार्ग आदर्श प्रेम के आकाश से लालसा के पाताल तक है, और स्त्री का उससे उलटा, लालसा के पाताल से आदर्श प्रेम के आकाश तक। यदि ऐसा है तो चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता का अंश अवश्य है। विनय में जो कुछ देश-सेवा का अंकुर है वह उसकी माता जाह्नवी की कृपा से। सोफ़ी के प्रेमपाश में फँस कर

उसमें अधर्मता आ जाती है। विनय आदर्श प्रेम से गिर कर इंद्रिय-भोग की लालसा में अपनी आत्मा को हानि पहुँचाता है। सोफी का दूसरा हाल है। वह आदर्शवादिनी है। यों तो वह अबला है परन्तु विनय के प्रति अंकुरित प्रेम उसे कर्मवीरांगना बना देता है। उपन्यास के दूसरे भाग में उसी का राज्य है।

प्रेमचन्दजी ने भारतीय स्त्रीत्व तथा मनुष्यत्व का वास्तविक चित्र खींचा है। मनुष्य लालसा और लोभ के वश तो कर्मण्य रहते हैं पर आदर्श उन्हें अकर्मण्य और आलसी कर देता है। स्त्रियाँ भी लालसा और लोभ के पाश में फँस जाती हैं, पर अपना धर्म नहीं खोतीं।

प्रेमचन्दजी देहाती जीवन का करुणामय चित्र खींचने में दक्ष हैं। सेवा-सदन, प्रेमाश्रम और रंग-भूमि में प्रेमचन्दजी का प्रेम शहर से देहात की ओर अधिक है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्दजी ने 'सेवासदन' की भाँति एक आदर्श ग्राम की सृष्टि की है। पर साथ ही वास्तविक लखनपुर की भी पूरी व्याख्या की है। 'रंग भूमि' का पाँड़ेपुर 'प्रेमाश्रम' का लखनपुर है 'रंग-भूमि' में वह हृदय-विदारक दृश्य हैं कि कल और कारखाने किस प्रकार इस ग्राम का विनाश करते हैं और उसके साथ ही अधर्म का प्रचार बढ़ाते हैं। इसकी सूरदास ने कारखाने बनने की प्रस्तावना पर पहले से ही सूचना दे दी थी। "सरकार बहुत ठीक कहते हैं। मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायगी, रोज़गारी लोगों को फ़ायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो प्रचार बढ़ जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी, परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे कितना अधर्म होगा? देहात के किसान अपना काम छोड़कर नौकरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपने गाँवों में फैलायेंगे। देहातों की लड़कियाँ बहुएँ मजूरी

करने आयेंगी और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है, वही रौनक यहाँ हो जायगी।" बजरंगी और जगधर के मकान मिट गये, सूरदास को झोंपड़ी के लिए सत्याग्रह करना पड़ा। परन्तु यह दृश्य उतने कष्टमय नहीं हैं जितना कि वह जिसमें देहात के नवयुवक घीसू और विद्याधर का नैतिक पतन होता है। ठीक ही है "धन का देवता बिना आत्मा का बलिदान पाये प्रसन्न नहीं होता" इस उपन्यास पर देहात के जीवन का साम्राज्य है। नायक और नायिकायें शहर के हैं, पर वे देहात पर अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं। 'रंग-भूमि' में देहाती जीवन के विनाश का करुणा-मय दृश्य है। क्षेत्र काशी से उदयपुर तक है। उपन्यास के पात्र देशी और विदेशी, देहाती और शहर के—गांव का नायक सूरदास है और उसके ही चरित्र में देहात के जीवन का चित्र है। देहातियों की सरलता धर्म-भीरुता साहस सहन-शक्ति, प्रकृति, घरेलू झगड़े, संगठन-शक्ति इन सब का प्रतिबिम्ब सूरदास में मिलता है।

'सेवासदन' मे दिहात के उदय, 'प्रेमाश्रम' में उसके मध्याह्न और रंग-भूमि में उसके अस्त होने का दृश्य है। प्रथम उपन्यास में आशा, दूसरे में आशा और निराशा, दोनों का मेल, और तीसरे में अन्धकार और निराशा, रंग-भूमि में करुणा की पराकाष्ठा है। इस उपन्यास का हास्य भी करुणा से घिरा हुआ है।

प्रेमचन्दजी के चरित्र-चित्रण में एक दोष है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। आपको जब पात्रों की आवश्यकता नहीं रहती, जब उनमें रंग भरते-भरते आप थक जाते हैं तब झट उनका गला घोंट डालते हैं। 'सेवासदन' में कृष्णचंद नदी में डूब कर आत्म-हत्या करता है, 'प्रेमाश्रम' में गायत्री पहाड़ से गिर कर जान देती है और 'रंग-भूमि' में विनय पिस्तौल द्वारा अपनी हत्या करता है।

हमें यह ढंग दोषपूर्ण मालूम होता है। आत्महत्या का नीति तथा धर्मशास्त्र दोनों में निषेध है और धर्म और नीति दोनों की अवहेलना करना न कवि के लिए योग्य है और न उपन्यास-लेखक के लिए। उपन्यास लेखक को भी कवि की भाँति अपनी कला में निरंकुशता का अधिकार प्राप्त है पर इतना नहीं कि जिस कर्म का शास्त्र तथा नीति में निषेध हो उसका लेखक द्वारा सम्मान किया जाय।

इतना सब कुछ होते हुए भी प्रेमचंद जी के उपन्यासों का महत्व कम नहीं होता, हम हेमचंदजी जोशी की प्रेमचंद के प्रति आलोचनाओं से सहमत नहीं हैं। यह उपन्यास क्षणभंगुर नहीं हैं। हिंदी के दुर्भाग्य से इनका अनुवाद, अभी तक किसी पाश्चात्य भाषा में नहीं हुआ है। यदि कभी हो, और योरोप के विद्वान् प्रेमचंद की रवींद्रनाथ ठाकुर और टालस्टाय से तुलना करें तब हम भी समझने लगेंगे कि ये उपान्यास भी कुछ महत्व रखते हैं। प्रेमचंद का यथासमय भारतीय साहित्य में वही सम्मान होगा जो डिकेंस और टालस्टाय को योरपीय साहित्य में प्राप्त है। भारत का हृदय कलकत्ते की गलियों में नहीं है, न वह शिक्षित बंगालियों की अट्टालिकाओं में है। उसका हृदय देहात में है, किसानों के टूटे-फूटे झोंपड़ों में है। हरे-भरे खेतों को देख कर उसे शांति मिलती है। अनावृष्टि से अन्न सूख जाता है। उस हृदय का मार्मिक चित्र जिसने खींचा है वह देश भर का धन्यवाद-पात्र है। अभी भारतीय किसानों में शिक्षा का अभाव है। जिस समय यह समझेंगे कि कोई साहित्यक ऐसा भी हुआ था जिसने उस समय अपने जीवन की अनुभूतियों को हमारी झोंपड़ियों में लाकर बिठलाया था और हमारा उस समय का चित्रांकन करके आनंद लाभ लिया था जब देहाती असभ्य समझे जाते थे। वह काल प्रेमचंद के विकास का काल होगा, जब उसके उपन्यासों के पात्र भारत के भाग्य-विधाता बनकर अपने पूर्वज को सम्मान के उच्चतम आसन पर बिठला कर उसकी पूजा करेंगे।

रंग-भूमि के विषय में संक्षिप्त विचार :—

१. भाषा और भाव की दृष्टि से सेवासदन और प्रेमाश्रम की अपेक्षा यह उपन्यास अधिक परिपक्व अवस्था में है।
२. ग्रामोद्योग और कल-कारखानों का संघर्ष इसमें लेखक ने दिखलाया है।
३. पात्रों का सुन्दर-चित्रण है भाषा प्राँजल है। यह उपन्यास करुणा-प्रधान है जिसमें ग्रामों के पतन का चित्रांकन लेखक ने किया है।
४. उपसंहार।

हिन्दी साहित्य में रहस्य-वाद

भारतीय चिंतन में रहस्य-वाद कोई नई वस्तु नहीं है। यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य में इसका प्रादुर्भाव कबीर और जायसी के साहित्य द्वारा ही सर्व प्रथम धार्मिक क्षेत्र में इसका पूरा-पूरा ब्यौरा हमें मिलता है। ऋग्वेद के "नासि देय-सूत्र" और पुरुष बलि की कथा में सर्व-प्रथम रहस्यवाद की झलक मिलती है। उपनिषदों में तो इस प्रकार की उक्तियों की भरमार है।

रहस्य-वाद ईश्वर जीव के चिंतन का एक ढंग है, जो कि निर्गुण पंथियों ने अपनाया। इसका एक प्रकार का चिंतन वह है जो भागवत इत्यादि रूपक ग्रंथों में मिलता है और दूसरा वह है जो उपनिषदों में प्राप्त होता है। एक में प्रेम को आधार माना है और दूसरे में ज्ञान को। हिन्दी साहित्य में दोनों ही प्रकार के रहस्य-वाद के दर्शन होते हैं।

रहस्य-वाद की प्रारम्भिक धारा उपनिषदों की है जिसका प्रचार सिद्ध-साहित्य द्वारा हुआ। फिर उसे नाथ पंथियों ने अपनाया और अन्त में वह कबीर के निर्गुण-पंथ का प्रधान-चिंतन का विषय बन

गया। कबीर और दादू इस धारा के सब से प्रसिद्ध कवि हैं, जिन्होंने अपने रहस्य-वाद द्वारा ही अद्वैत-वाद का प्रतिपादन किया। रहस्य-वादी कवि जीव और ईश्वर को अभिन्न मानते हैं। उनका मत है कि जीव और ईश्वर में यदि कुछ भेद दृष्टिगत होता है तो वह माया के कारण है। माया को पहिचानने पर यह भेद स्वयं नष्ट हो जाता है। जीव ईश्वर हो जाता है और ईश्वर जीवात्मा। कबीर दास जी लिखते हैं :—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कथा गियानी॥

कबीर अपने को ही ब्रह्म मानते हुए लिखते है :—

ना मैं बकरी, ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरी गंडास में,
ढूंढना होय तो ढूंद लै बन्दे मेरी कुटी मवास में।

यहाँ कवि ने आत्मा और परमात्मा का भेद-भाव सर्वथा नष्ट कर दिया है। अपनी उलट बासियों में आप ने कहा है—नदी समुद्र में जा मिली या समुद्र नदी में आ मिला—दोनों कवि के लिये समान हैं क्योंकि दोनों में माया के दूर हो जाने पर कोई भेद-भाव नहीं रहता।

ऊपर जिस रहस्य-वाद का चित्रण हमने किया है उससे प्रेमा-श्रयी शाखा का रहस्य-वाद समानता नहीं रखता। प्रेमाश्रयी शाखा में सूफी धर्म का प्रभाव है। सैद्धांतिक रूप से उसमें भागवत की प्रेम-मूलकता के दर्शन होते हैं। इस विचार-धारा के अंतर्गत जब जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त करने के सब प्रयत्न समाप्त करके उसे अपने हृदय में स्थान देता है और प्रेम-भावना द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है तभी रहस्य-वाद का उद्घाटन होता है। यह रहस्यवाद मस्तिष्क की वस्तु न होकर हृदय की वस्तु है। जीव अपने हृदय में ईश्वर की एक मधुर कल्पना करके उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता

है और उसकी प्राप्ति में अनेकों कष्ट उठाता है। परस्पर आकर्षण और मिलने की आकांक्षा केवल एक ही ओर नहीं होती वरन् दोनों ओर एक ही तत्व होने के कारण दोनों ओर समान रूप से वर्तमान रहती है। जायसी ने पद्मावत में दिखलाया है कि यदि राजा रत्नसेन पद्मावती को प्राप्त करना चाहता था तो रत्नसेन की परीक्षा कर लेने के पश्चात् पद्मावती के हृदय में भी रत्नसेन के लिए उतनी ही प्रबल आकाँक्षा उत्पन्न हो जाती है। इस धारा के अंतर्गत स्त्री पुरुष के लौकिक प्रेम को ही अंत में पारलौकिक कहा गया है और सच्चे हृदय से प्रेमिका को प्राप्त कर लेने पर ही ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि वह प्रेमिका में ईश्वरीय शक्ति का आभास पाकर ही उसे प्राप्त करने के लिए दीवाना होता है और अपनी समस्त शक्तियाँ उसके लिए लगा देता है। कबीरदास ने एक जगह जायसी के विपरीत अपने को इष्टदेव राम की बहुरिया कहा है:—

हरि मोर पीउ मैं राम की बहुरिया।

यही प्रेम-भावना भागवत में भी मिलती है, परन्तु मलिक मुहम्मद जायसी ने इसका जो रूप लिया है वह उससे मेल नहीं खाता। भारतीय साहित्य में, स्त्री, प्रेम-दीवानी होकर अपने इष्टदेव के लिए कष्ट सहती है और उसमें लय होने का प्रयत्न करती है। कबीर की ऊपर दी गई पंक्ति में इस भावना का आभास मिलता है। गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में पागल हो जाती हैं। परन्तु जायसी की सूफी विचारावलि में सेमेटिक भाषाओं की प्राचीन प्रणाली मिलती है। वहाँ जीवात्मा पुरुष है और परमात्मा स्त्री। भारतीय लोक-कथा के आधार पर काव्य-रचना करके भी जायसी ने सिद्धांत रूप से अपनी ही प्रणाली को अपनाया और सूफी प्रेममय रहस्य-वाद के आधार पर बहुत सुन्दर व्यंजनाओं के साथ काव्य में मार्मिक स्थल उपस्थित किये। पद्मावती के सौन्दर्य वर्णन में कवि ने ईश्वरीय सौन्दर्य की

कल्पना की है। विरह का बहुत सुन्दर चित्रण हमें जायसी की पद्मावत में मिलता है और वह हृदय-स्पर्शी भी है। प्रेमात्मक रहस्यवाद का प्रादुर्भाव वास्तव में सूफ़ी सिद्धाँतों के सम्मिश्रण से ही हुआ है।

सगुण-भक्ति काव्य में भागवत के रहस्य-वाद की झलक नहीं मिलती। भक्त-कवियों ने मुक्त-कंठ से उस भगवान का गाना किया है जिसमें कोई रहस्य नहीं है, जो उनका सखा है, साथी है, और जिसके साथ वे हँस-खेल सकते हैं। सूर साहित्य में रुपकों को स्थान अवश्य मिला है, परन्तु उनमें भी कृष्ण का जो चित्रण है उसमें दर्शन का वह गाम्भीर्य नहीं आ पाया जो कबीर की कविता में पाया जाता है। वहाँ तो ईश्वरीय सत्ता दृष्ट है, उनके सामने है फिर क्यों वह रहस्य की कल्पनाओं से अपने मस्तिष्क को परेशान करें? उनका इष्टदेव रहस्य की वस्तु नहीं भक्ति की वस्तु है और भक्ति के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं। वहाँ तो सच्चा और सरल हृदय चाहिए। फिर भी सूर के साहित्य में कहीं-कहीं पर रहस्य की साधारण सी झलक अवश्य मिल जाती है परन्तु उसके कारण हम सूर को रहस्यवादी कवि नहीं कह सकते।

इस रहस्य-वाद का स्रोत सूर और तुलसी के काल में भी धीरे-धीरे बहता रहा और सोलहवीं शताब्दी के अंत तक इसका प्रवाह कभी कहीं कभी कहीं दिखलाई दे जाता था। कबीरदास और जायसी के अतिरिक्त सुन्दर दास, मलूक दास, कुतबन, नूरमुहम्मद इत्यादि ने भी रहस्यवादी प्रणाली का ही अपनी काव्य-धारा में अनुसरण किया है।

सत्रहवीं शताब्दी में आकर भक्ति-साहित्य का एक दम लोप होता चला गया और रीति-कालीन कवियों ने लौकिक-साहित्य की रचना की। इस साहित्य में राधा-कृष्ण के नाम तो प्रयोग में अवश्य आये परन्तु साधारण नायक और नायिकाओं के रूप में। रहस्य-वाद

का वह अलौकिक-सौन्दर्य कवियों के जीवन से प्रथक हो गया जिसके आनन्द में विभोर होकर भक्त-कवियों ने राज-दरबारों को ठुकरा दिया था:—

संतन को कहा सीकरी सौं काम।
आवत जात पन्हरिया टूटीं, बिसरि गयो हरि नाम।.

कवि और संत-जीवन का यह महानादर्श रीति-काल में समाप्त हो गया। अठारहवीं शताब्दी में पूर्ण-रूप से शृंगारिक कवितायें हुईं। अध्यात्म-वाद का पूरी तरह लोप हो गया। १९ वीं शताब्दी में हिन्दी में जो साहित्य-रचना हुई उस पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव पड़े बिना न रहा। ऊपर हम हिन्दी के प्राचीन साहित्य में रहस्य-वाद का दिग्दर्शन करा चुके हैं अब हमें देखना है कि वर्तमान युग में रहस्य-वाद का क्या स्वरूप रहा? बीसवीं शताब्दी में हिन्दी के साहित्य पर अंगरेजी के १९ वीं शताब्दी के रोमाँचकारी साहित्य का प्रभाव पड़ा। उस काव्य में भी रहस्य-वाद की झलक थी। इसी समय बंग प्रदेश के प्रसिद्ध कवि रवीन्द्र की गीताँजलि प्रकाशित हुई। गीताँजलि पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट है और थोड़ा थोड़ा वैष्णव तथा १९ वी शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य का भी प्रभाव है। इस रचना द्वारा पूर्व तथा पश्चिम का मिलन हुआ और आगे आने वाले हिन्दी साहित्य पर भी इसका काफ़ी प्रभाव पड़ा। इस प्रकार रहस्य-वाद का यह नया रूप साहित्य में आया।

प्राचीन रहस्य-वाद में और इस वर्तमान-कालिक रहस्य-वाद में स्पष्ट अंतर है। प्राचीन कवि पहिले आध्यात्मिक विचारक थे और बाद में कवि। उन्होंने कविता को, अपने विचारों को प्रचारित करने के लिए साधन-स्वरूप अपनाया, परन्तु वर्तमान-कालिक रहस्यवादी कवियों ने कविता को कला के रूप में लिया और कविता की साधना का महत्व उनके नज़दीक, रहस्य-वाद प्रतिपादन से किसी भी प्रकार

कम नहीं रहा। इससे यह स्पष्ट ही है कि प्राचीन कालिक रहस्य-वाद यह माना कि बहुत ऊंचे धरातल पर था परन्तु उसमें वह काव्य-सौन्दर्य नहीं आ पाया जो वर्तमान साहित्य में है।

आज का रहस्यवाद कल्पना-प्रधान है। उसमें धार्मिक अनुभूति नहीं है, कहीं-कहीं पर उसकी झलक है भी तो वह गौण-रूप से वर्तमान है। साधना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वह कोरी काव्य की एक शैली है। भक्ति-काल में रहस्य-वाद के जिन प्रतीकों को लेकर कवियों ने रचनायें कीं वह प्रतीक आज के प्रतीक नहीं रहे। यही कारण है कि आज का रहस्य-वाद साधारण लोगों में प्रचारित नहीं हो पाया। प्रौढ़ भाषा में नवीन छंदों के साथ काव्य का सौन्दर्य तो उसमें आया परन्तु क्षेत्र विस्तृत होने की अपेक्षा संकुचित हो गया। इस काल के इस रहस्य-वाद को हिन्दी के विद्वानों ने 'छायावाद' का नाम दिया है।

आधुनिक 'रहस्यवाद' अथवा 'छायावाद' में प्रकृति-सौन्दर्य, प्रेम-विरह इत्यादि पर अध्यात्म-रूप से नहीं लौकिक रूप से कवियों ने लेखनी उठाई है। आज के युग में धर्म गौण होता जा रहा है इसलिए धार्मिक रहस्यवाद का आज के युग में पनपना भी सम्भव नहीं हो सकता था। वर्तमान काल में इस काव्य के अंतर्गत कई शैलियों में साहित्य-रचना हुई, इनमें सर्व-प्रधान शैली गीत-काव्य की है। हिन्दी के प्राचीन और वर्तमान सभी रहस्यवादी साहित्य पर विदेशियों का प्रभाव रहा है इस सत्य को हमें मानना ही पड़ता है। सूफ़ी और अंगरेजी प्रभाव इनमें अपना विशेष स्थान रखते हैं। भारतीय-चिंतन सर्वदा से समन्वय की भावना को लेकर चला है इसलिए इसने सर्वदा ही विशाल-हृदय से सबको सम्मान के साथ अपनाया है और अपने काव्य-रचना में उचित स्थान दिया है। रोमाँस-काव्य का उदय विरह से होता है। आधुनिक रहस्य-वाद में

इसीलिये रचनाओं के विषय हैं, मिलन, विरह, प्रतीक्षा, प्रकृति-सौन्दर्य में प्रेम की कल्पना, प्रकृति की विविध वस्तुओं में आकर्षण, प्रेयसि-प्रणय इत्यादि। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा इत्यादि इस काल के प्रधान रहस्य-वादी कवि हैं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य का रहस्य-वाद आध्यात्मिक क्षेत्र से चलकर लौकिक-क्षेत्र में आ गया।

रहस्यवाद पर संक्षिप्त—

१. रहस्यवाद का आदि स्रोत।

२. हिन्दी साहित्य में संत और सूफ़ियों का रहस्य-वाद।

३. सगुण काव्य और रहस्यवाद।

४. आधुनिक साहित्य में 'छायावाद' कहलाने वाला रहस्य-वाद।

५. आध्यात्मिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद का लौकिक दृष्टिकोण।

हिन्दी में छायावाद

हिन्दी साहित्य में छायावाद का उदय जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' और सुमित्रा नन्दन पन्त की 'वीणा' से होता है। इन कविताओं के पाठकों ने इनमें रवीन्द्र बाबू की गीतांजली और अंग्रेजी के मिस्टिक (Mystic) कवियों की छाया पाई। इस लिये प्रारम्भ में व्यंग-स्वरूप इस नई धारा की कविता को 'छायवादी' कविता कहा गया जिसने बाद में जाकर वही नाम ग्रहण कर लिया। बंगला साहित्य में इसी प्रकार का साहित्य रहस्य-वादी साहित्य कहला रहा था।

हिन्दी की इस छायावादी धारा का विकास धीरे-धीरे बंगला से भी आगे हो गया और इसमें एक से एक सुन्दर रचनाएं प्रकाशित म आईं। धीरे-धीरे छायावाद में से व्यंग का भाव बिल्कुल लुप्त होगया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद साहित्य को "काया वृत्तियों का अच्छन्न पोषण" कहा है, जिसकी विशेषता इसकी लाक्षणिकता

अतिरिक्त और कुछ नहीं है। नन्ददुलारे जी का मत दूसरा ही है। वह कहते हैं, "छायावाद में एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है, और एक स्वतन्त्र दर्शन की आयोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक अस्तित्व और गहराई है" यह मत रामचन्द्र शुक्ल जी के मत से बिलकुल मेल नहीं खाता। कविवर जय शंकर-प्रसाद जी छायावाद को अद्वैत रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास मानते हैं। इसमें परोक्ष की अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा 'अहम' का 'इदम' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न पाया जाता है।

छायावाद हिन्दी साहित्य की नवीन धारा का वह स्वरूप है जिसमें भारतीय दर्शन, प्रकृति और बुद्धिवाद को एक नवीन दृष्टिकोण से परखा गया है। इसमें आध्यात्मिक रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ, सौंदर्य निष्ठा, लाक्षणिकता और मानव जीवन की नवीन दृष्टिकोण के साथ विवेचना मिलती है। छायावाद शब्द बहुत व्यापक है इस लिये इसे किसी विशेष परिभाषा के दाहिरे में बाँधने का प्रयास व्यर्थ है। छायावाद की निम्नलिखित विशेषतायें कवियों ने अपने काव्य में रखी हैं—

१. छायावादी कविता में आत्माभिव्यक्ति अधिक मिलती है।
२. आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अद्वैतीयवाद का आश्रय लेकर छायावादी रहस्यवाद का विकास होता है। प्रेम, विरह और करुणा की प्रधानता रहती है। पन्त, महादेवी, निराला, प्रसाद, सभी कवियों की रचनाओं में इनके उदाहरण प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।
३. छायावादी कवि वैचित्र्य और सौंदर्य के उपासक पाये जाते हैं। उनमें कुछ खोया-खोया सा पन रहता है और कविता भी कुछ अटपटी करने का प्रयास मिलता है।
४. कविता में शब्द-माधुर्य को प्रधानता दी जाती है और भावों को स्वच्छन्दता। पांडित्य को बाँधकर चलने का प्रयास वह नहीं

करते। इस धारा के इस गुण में कविवर निराला अपवाद स्वरूप आते हैं।

५. प्रकृति का सुन्दर-चित्रण मिलता है, स्वतन्त्र भी और नायक-नायिकाओं के साथ भी। इस धारा के कवियों ने शृंगार का सुन्दर-चित्रण किया है परन्तु उसे पढ़कर वासना जागृत नहीं होती। रीतकालीन-शृङ्गारिकता के प्रति, इनमें विद्रोह मिलता है।

६. छायावादी-शैली की प्रधानता उसके शब्दों में लाक्षणिक प्रयोग की है। अन्योक्ति, वक्रोक्ति और प्रतीकों का आश्रय लेकर यह कविता रहस्यमय भावना के साथ पाठक के सम्मुख आती है। पाठक तनिक सतर्कता के साथ पढ़ने पर इनके समझने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं करता।

७. छायावादी कवियों की प्रकृति ही उनके रहस्य का प्रधान विषय है, जिसमें जीवन की कल्पना करके कवि उसकी विभूतियों में तन्मय होकर रहस्योद्घाटन करता है।

८. मानव-जीवन का निराशामय-चित्रण इस धारा की कविता में उपलब्ध होता है। इस निराशा में लौकिकता के अन्दर स्थान-स्थान पर अलौकिक पुट मिलती है। सूफी प्रेम मार्गी शाखा की प्राचीन प्रणाली का इसमें आभास मिल जाता है।

हिन्दी साहित्य की इस छायावादी धारा को चाहे विदेशी (Mysticism) रहस्यवादी कविता का प्रभाव कहें या बङ्गाली रहस्य वादी कविता का परन्तु यह हिंदी साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण के साथ आई है और इसने सौ वर्ष के कठिन परिश्रम के पश्चात् एक अपना स्वरूप खड़ा किया है। जनता तक पहुँचने में इसे बहुत समय लगा और वह लगता भी, क्यों कि एक बिलकुल नये दृष्टिकोण को समझने में इतना समय लग ही जाता है। नये-नये आलोचना के माप-दण्डों

द्वारा समालोचकों ने इस कविता को पाठकों के सामने रखकर समझाने का प्रयत्न किया, तब कहीं जाकर हिन्दी पाठक इसे समझने में सफल हुए।

"कोई भी काव्य अपने युग से बहुत ऊँचा नहीं उठ सकता। छायावाद काव्य पर अस्पष्टता, अलौकिकता, अव्यवहारिकता, अनैतिकता, ईमानदारी की कमी और अश्लीलपन ये कितने ही दोष लगाये जाते हैं परन्तु यदि सच पूछा जाय तो वह अपने युग का श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है। मध्ययुग का मध्यवर्ग जिस बौद्धिकता के ह्रास, भावुकता के प्राबल्य और मन वाणी के सामाजिक और राजनैतिक नियन्त्रणों में से गुज़र रहा था उसी के दर्शन इस काव्य में भी मिलेंगे। गांधीवाद ने दुःख, कष्ट सहन और पराजय को राष्ट्रीय साधना के रूप में स्वीकार कर लिया था। समाज में प्रेम कहना पाप था। मध्यवर्ग में से साकार उपासना पर से विश्वास उठ रहा था, परन्तु वैष्णव भावना को बिलकुल अस्वीकार करना असम्भव था। आर्थिक और राजनैतिक संकटों ने कमर तोड़ दी थी, महायुद्ध के प्रारम्भ के प्रभात के स्वप्न युद्ध समाप्ति पर कुहरे के धरोहर बन गये। ऐसे समय काव्य का रूप ही और क्या होता? रवीन्द्र के काव्य ने इस प्रदेश की मनोवृत्ति के अनुकूल होकर उसकी काव्य चिन्ता को यह विशिष्ट रूप दे दिया था।" डाक्टर रामरतन भटनागर एम० ए० 'हसरत'

छायावाद संक्षेप में—

१. छायावाद का इतिहास और उसकी परिभाषा।
२ उसकी विशेषतायें।
३. छायावाद का आध्यात्मिक दृष्टिकोण।
४. छायावाद इस युग का प्रतिबिम्ब है, कल्पना नहीं, सत्य है।

हिन्दी में प्रगतिवाद

छायावादी साहित्य की पलायनवादी प्रवृत्तियों के विपरीत विद्रोह स्वरूप प्रगतिवाद का हिन्दी साहित्य में प्रादुर्भाव हुआ। संसार के राजनैतिक दृष्टिकोण से आध्यात्मिकता का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है। रूस के काम्यूनिज्म ने इस प्रवृत्ति को बल दिया और धीरे-धरे इसका प्रभाव मध्य वर्ग के पढ़े-लिखे लोगों पर पड़ा। छायावादी कविता में जो शृंगारिक भावना थी वह तो मानव हृदय को अवश्य अपनी ओर आकर्षित कर रही थी परन्तु उसमें अद्वैतवाद की पुट देकर जो पलायन की प्रवृत्ति आने लगी थी उसने छायावादी कवि को जीवन की वास्तविकता से बहुत दूर धकेल दिया। ऐसी परिस्थिति में जीवन की उन वास्तविकताओं को भुला कर नहीं चला जा सकता था, जो लौकिक जगत में नित्य हमारी आँखों के सम्मुख आती हैं।

प्रगतिवादी कवि ने सोचा कि क्या कविता का विषय आत्मा, परमात्मा और शृंगार ही हो सकते हैं। क्या सड़क पर खड़ा हुआ पसीने में लतपथ मज़दूर कविता का विषय नहीं बन सकता? यह विचार आते ही कवि ने उसे देखिये चित्र-रूप दे दिया :—

वह तोड़ती पत्थर;
देखा मैंने इलाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।

फिर उसने एक भिखारी को देखा और लेखनी उठाकर रचना की।

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता
पेट पीठ मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक।

मुट्ठी भर दाने को
भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता।
वह आता।

प्रगतिवाद के अन्तर्गत हमें उस साहित्य की झलक मिलती है जिसमें मानवीय प्रवृत्तियों का पूरा पूरा सन्निवेष हो। इसमें जीवन के लौकि-तथ्यों का यथार्थ-चित्रण होता है। हिन्दी साहित्य में यह धारा नवीन होते हुए भी प्रगति की ओर अग्रसर है। जीवन प्रगति का नाम है और यदि जीवन में प्रगति नहीं है, तो जीवन जीवन ही नहीं रहता। वस्तु-जगत से मुँह मोड़ कर स्वप्न या अध्यात्म की ओर दौड़ना प्रगतिवादिता के सर्वथा विरुद्ध है। प्रगतिवाद चाहता है जीवन में साम्य हो, समाज में साम्य हो और राजनीति में साम्य हो। पुरातन रुढ़िवाद नष्ट करके प्रगतिवाद नवीन मानवता का निर्माण करना चाहता है। वहां बड़े-छोटे का भेद-भाव नहीं है। धनवान और निर्धन का भेद नहीं है। वहाँ मानव-मानव के बीच किसी प्रकार का अन्तर ही नहीं माना जाता है। इस साहित्य में शोषक वर्ग का विरोध और शोषित वर्ग के प्रति साहित्यकार की सहानभूति होती है। चरित्र-चित्रण और स्पष्ट-वादिता इस साहित्य का प्रधान गुण है। प्रगतिवादी कवि के सम्मुख निर्बल सबल की अपेक्षा अधिक यथार्थ है। अश्लील कहलाने वाले तत्वों का भी प्रगतिवाद में स्पष्ट चित्रण किया गया है।

हिन्दी का वर्तमान प्रगतिशील साहित्य दो पृथक-पृथक धाराओं में बह रहा है। एक वह जिसमें राष्ट्रीयता-प्रधान कविता हैं और दूसरा वह जिसमें शृंगार प्रधान कवितायें हैं। समाज की उच्छृंखल और विच्छृंखल प्रवृत्तियों को रोकने के लिए यौवन-सम्बन्धी-साहित्य का निर्माण भी आवश्यक है। प्रगतिवादी कवियों में साम्यवाद की

प्रधानता है। राष्ट्रीयता-प्रधान कवियों ने भी दो प्रकार की कवितायें की हैं। उनकी रचनाओं के आधार पर उनके दो वर्ग बनते हैं। एक वह जो अपनी रचनाओं में संयम, शाँति, प्रेम, उन्नति निर्माण और आशा का पाठ पढाते हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत नरेन्द्र और पंत आते है और दूसरा वर्ग वह जिस पर रूस के साहित्य का प्रभाव है। इस वर्ग के प्रतिनिधि कवि हैं 'नवीन', 'दिनकर', भगवतीचरण वर्मा इत्यादि यह दूसरा वर्ग विद्ध्वंस, खंडन और विनाश में विश्वास रख कर चलता है।

राष्ट्रीय भावना से प्रवाहित कवि शृंखला के अतिरिक्त इनमें दूसरी धारा वह है जो शृंगार-प्रधान है। इस धारा के वर्णित शृंगार में काल्पनिक सौंदर्य के वर्णन मात्र से कवि की तृप्ति नहीं होती बल्कि वह तो नायिका के मांसल सौंदर्य का सजीव-चित्रण करने पर उतारु रहता है। यह वर्ग अपने चित्रण को बिलकुल आवरणहीन कर डालता है और इस आवरण-हीनता को ही वह अपनी कला, अपने काव्य का सौंदर्य और अपनी वास्तविकता के अन्दर पैठ समझता है। फ्राईड के काम - विज्ञान का इन पर प्रभाव है। गद्य में नरोत्तम प्रसाद नागर और पद्य में अंचल को हम इस धारा के अन्तर्गत ले सकते हैं।

प्रगतिवाद का साहित्य सिद्धांत के क्षेत्र म जितना अग्रसर हुआ है उतना व्यवहार के क्षेत्र में प्रस्फुरित नहीं हो पाया। इसका प्रधान कारण यही है कि प्रगतिवादी कवियों के जीवन का इस प्रगतिवाद के सिद्धाँतों से बहुत कम सम्बन्ध है। पंत में केवल एक बौद्धिक प्रगतिवादिता है। नरेन्द्र में कुछ वास्तविकता की झलक मिलती है। शेष कवि प्रगतिवादी कविता केवल इस लिये लिखते हैं कि साहित्य में प्रगतिवादी लहर चल पड़ी है। वीरगाथा-काल में हर कवि वीरगाथा-लेखक था, संत-युग में हर कवि निर्गुण-ब्रह्म का उपासक था, राम

कृष्ण-भक्ति काल में हर कवि वैष्णव-भक्त था, रीति-काल में हर कवि आचार्य था, छायावादी युग में हर कवि छायावादी था और उसी प्रकार प्रगति के युग में हर कवि के लिये प्रगतिवादी बनना अनिवार्य हो गया।

प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत जिस साहित्य की अभी तक रचना हुई है उसे बहुत उच्चकोटि के साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। ना तो उसमें साहित्यिक सौंदर्य ही आ गया है और ना भावों की कोमलता ही। कवि पंत यदि साहित्य में अमर होगा तो 'ग्राम्या' के कारण नहीं होगा 'पल्लव' के कारण होगा। प्रगति-शील साहित्य का सृजन समाज और देश के निर्माण के लिए होना चाहिए, ना कि जो कुछ आज बना हुआ है उसे भी किसी विदेशी प्रभाव में पड़कर अपनी विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जाये। ऐसा करने से देश का कल्याण न होकर अहित ही होगा। इसका उत्तरदायित्व लेखकों के ऊपर है। उन्हें अपना कर्तव्य देश और समाज के प्रति समझना है। केवल भावनाओं और समय की प्रगतियों में बहकर ऐसे साहित्य का निर्माण करना उनका लक्ष्य नहीं होना चाहिए, जिससे देश और समाज का पतन हो। प्रगतिवाद उचित मार्ग पर ही चल कर अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। वर्तमान प्रगतिवाद के साहित्य से हमें देश और समाज के हित की बहुत कम सम्भावना है।

प्रगतिवाद विषयक संक्षिप्त विचार:—

१. प्रगतिवाद छायावाद में निहित पलायनवाद की प्रतिक्रिया है।
२. प्रगतिवादी साहित्य में साहित्यिक सौंदर्य बहुत कम है।
३. इस धारा के अन्तर्गत देश-प्रेम का और शृंगारिक दोनों प्रकार के साहित्य लिखा गया है।
४. प्रगतिवादी साहित्य में लोकहित की भावना का बहुत कम समावेश दिखलाई देता है।

४. इस साहित्य पर विदेशी प्रभाव है और उच्छ ृंखल प्रवृत्ति का आधिक्य मिलता है।

हिन्दी-साहित्य में प्रकृति-चित्रण

साहित्य में प्रकृति का प्रधान स्थान है। प्रकृति में सौंदर्य है और सौन्दर्य साहित्य का प्रधान गुण है, इसलिये साहित्य में सौन्दर्य लाने के लिये प्रकृति-चित्रण अत्यन्त आवश्यक है। साहित्यकारों ने प्रकृति का चित्रण स्वतंत्र रूप से और मानव जीवन के साथ-साथ दोनों प्रकार से किया है। मानव-जीवन प्रकृति से प्रभावित होकर कवि का वर्ण्य-विषय बनता है। वह स्थान-स्थान पर उससे प्रभावित होकर अपना रूप बद-लता है और कवि उसका अपनी पैनी दृष्टि द्वारा निरीक्षण करके सुन्दर साहित्य का सृजन करता है।

भारत के सुन्दर-सुन्दर प्रकृति-खण्डों ने आदि कवि बाल्मीकि और महाकवि कालीदास के काव्यों को रमणीयता प्रदान की। प्रकृति के अनेकों सुन्दर संश्लिष्ट चित्र इन कवियों ने अपने काव्यों में प्रस्तुत किये हैं। परन्तु यह प्रयोग हिन्दी साहित्य-काल तक नहीं चल सका। कवियों ने संश्लिष्ठ दृश्यखण्ड उपस्थित करना छोड़कर प्रकृति को केवल उपमा-उत्प्रेक्षा इत्यादि के लिये ही प्रयोग करना शुरू किया। ऋतु-वर्णन केवल उद्दीपन की सामग्री बन गया। कालीदास ने सर्व प्रथम ऋतु संहार में छै ऋतुओं का चित्रण किया है।

दुर्भाग्यवश हिन्दी का जन्म उस समय हुआ जब संस्कृत और हिन्दी साहित्य पतन की ओर अग्रसर थे। प्रकृति का स्वतन्त्र-चित्रण सन्त-साहित्य में नहीं मिलता। केवल अपनी अन्तर-साधना को प्रकट करने के लिये उन्होंने प्रकृति का आश्रय अवश्य लिया है। साधक स्वयं ब्रह्मांड है और उसके अन्दर प्रकृति की विविध लीलायें होती हैं। कबीर और दादू के साहित्य में वर्षा, फाग, बसन्त इत्यादि के चित्रण

हैं अवश्य, परन्तु आध्यात्मिक तत्वों के निरूपण मात्र के लिये। जायसी ने अपने काव्य में स्वतन्त्र तथा मानव प्रवृत्तियों के साथ दोनों रूप से प्रकृति का चित्रण किया है। जायसी का प्रकृति-चित्रण कबीर और दादू की अपेक्षा अधिक सफल तथा कला-पूर्ण है। उसमें कवि-हृदय की सुन्दर झांकी मिलती है।

भक्त-साहित्य में प्रकृति का स्थान बहुत गौण है। भावों के उद्दीपन उपमान प्रस्तुत करने के लिये कवियों ने प्रकृति का आश्रय लिया है। पुराणों में वर्षा और शरद्-वर्णन की शैली पाई जाती है। तुलसी ने अपने मानस में उसी शैली का कुछ परिवर्तित रूप में अनुसरण किया है। कृष्ण-साहित्य में प्रकृति केवल शृंगार के उद्दीपन-स्वरूप आई है। नायिका अभिसार प्रथम है,और प्रकृति बाद में। रीति-काल में भी कवियों ने प्रकृति के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं पहिचाना, और पहिचानते भी किस तरह, उन्हें तो अपनी नायिकाओं के ही गिनने से अवकाश नहीं था। 'षठऋतु-वर्णन' में प्रकृति के दर्शन होते अवश्य हैं परन्तु प्रधानता वहाँ नायिका की ही रहती है, यह षट्ऋतु वर्णन की प्रथा हिंदी साहित्य में वीर-गाथा काल से मिलती है। बीसलदेव रासो, पद्मावत और फिर रीति-काल में तो इसपर ग्रन्थ के ग्रन्थ लिखे गए। रीति-काल में आकर तो ऐसा लगता है कि मानो विधाता ने समस्त सृष्टि का सृजन ही नारी के उपमानों के लिये किया हो। प्रकृति का अस्तित्व रीति-कालीन कवियों के लिये नारी तक सीमित था। संक्षेप में इस काल तक प्रकृति का चित्रण मिलता है" उपमान के रूप में, रति-भाव के उद्दीपन के स्वरूप और कहीं-कहीं पर कुछ साधारण चित्रण। 'श्लिष्ट चित्रण केवल कुछ तुलसी और जायसी ने ही दिये हैं अन्य किसी कवि ने नहीं दिये। प्रकृति के कुछ स्वतन्त्र चित्रण वीर-काव्यों में भी मिलते हैं। परंतु उनमें वह सौंदर्य और सजीवता नहीं है। संस्कृत-साहित्य में प्रकृति के जो उपमान लगा लिये गये थे वह अब हमारे व्यावहारिक

जीवन से निकल चुके हैं और उनका नया रूप साहित्य में कवियों ने प्रस्तुत कर दिया है। यही कारण है कि आज साहित्य में प्रयोग करने पर भी पाठक पर उनका उतना प्रभाव नहीं पड़ता।

साहित्य की प्रगतियां बदलती रहती हैं। वर्तमान साहित्य संस्कृत साहित्य की देन कहलाने पर भी सब प्रकार से स्वतंत्र है और उसने स्वतंत्रतापूर्वक ही अपना निर्माण किया है। प्रकृति का जो चित्र संस्कृत-कवियों के सम्मुख था, जब भारत में एक छोर से दूसरे छोर तक घने वन जङ्गल थे वह आज के कवियों के सम्मुख होना असम्भव है जब स्थान-स्थान पर कल पुर्जों की नवीनता से भारत का वातावरण आच्छादित हो चुका है वास्तविक कवि जिसके अन्दर वास्तव में कवि का दृष्टिकोण है संसार को केवल प्राचीन पुस्तकों के संकीर्ण शीशे में नहीं देख सकता। वह प्रकृति को अपनी आँखों से देखता है और उसका प्रतिबिम्ब उसके साहित्य पर पड़ता है। मानव ने जड़ पर चेतन को प्रधानता दी और साहित्य भी इस सत्य को ठुकरा कर केवल प्रकृति के अन्दर ही उलझा हुआ न रह सका। आज के कवि के लिये मानव प्रधान है और बाद में वह सभी वस्तु आती हैं जिनका मानव पर प्रभाव पड़ता है अथवा मानव से जो प्रभावित होती हैं।

हिन्दी साहित्य में आध्यात्मवाद की प्रधानता रही है और इस आध्यात्मवाद मे प्रकृति गौण रूप से आकर भी परब्रह्म की श्रेष्ठतम सृष्टि होने के कारण कवियों का प्रधान विषय रही है। रहस्यवाद, प्रेम-मार्गी सूफ़ी धारा, राम और कृष्ण-भक्ति, रीति-काल, छायावाद और यहाँ तक कि प्रगति-वाद में भी प्रकृति को भुलाकर चलना कवि के लिये असम्भव हो गया है। यदि प्रकृति को माया या भ्रम भी मान लिया जाये तब भी आध्यात्मिक साहित्य के क्षेत्र में उसका सुन्दर से सुन्दर रूप कवि को प्रस्तुत करना होता है और उसमें अनुपम काव्य की सृष्टि हुई है। हिन्दी-काव्य का साहित्य इस प्रकार के प्रकृति-चित्रणों

से भरा पड़ा है। छायावादी कवियों ने प्रकृति का सुन्दरतम चित्रण किया है और उनमें अंग्रेज़ी रोमांस (Mysticism) बङ्गला रहस्यवाद और भारतीय अद्वैतवाद की सुन्दरतम झलक मिलती है। कवि पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा, इत्यादि ने प्रकृति के सुन्दर चित्रण किये हैं। निराली की पंचवटी, पन्त का आंसू और प्रसाद की कामायनी में प्रकृति के हृदय स्पर्शी चित्र हिन्दी साहित्य की अमर थातियाँ हैं। आधुनिक साहित्य में संस्कृत साहित्य की प्रणाली का अनुसरण किया गया है। देखिये स्वतन्त्र प्रकृति का कितना सुन्दर चित्र 'कामयनी' में हमें देखने को मिलता है :—

उषा सुनहले तीर बरसती, जय लक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित काल रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से,
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद् विकास नये सिर से।

× × × ×

प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।

इसी काल में पं० श्रीधर पाठक ने काश्मीर-सुषमा इत्यादि कवितायें लिखीं। आपके काव्य पर अंग्रेज़ी कवि गोल्डस्मिथ का प्रभाव है। उपाध्याय जी ने भी काव्य में प्रकृति को स्थान दिया है परन्तु उसमें प्रकृति का अलंकृत प्रयोग देखने को मिलता है। स्वतंत्र प्रकृति को वह नहीं अपना सके। प्राकृति के सामान्य रूपों पर ही वह उलझे हुए रह गये हैं। बाबू मैथिली शरण ने 'पंचवटी' 'साकेत' इत्यादि में प्रकृति के सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। पंचवटी का एक चित्र देखिये:—

इतने में पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति नटी का रंग।
किरण कंटकों से श्यामाम्बर फटे दिवा के दमके अंग॥

कुछ कुछ अरुण सुनहली कुछ कुछ प्राची की अब भूषा थी।
पंचवटी का द्वार खोल कर स्वयं खड़ी वहाँ ऊषा थी॥

सीता को प्रकृति की सुन्दरतम उषा बना कर कवि ने खड़ा कर दिया। मानव और प्रकृति का जो घनिष्ट सम्बन्ध है उस पर 'गुप्तजी' की लेखनी खूब चली है। इस काल के छायावादी कवियों ने रीति कालीन प्रकृति को एक दम उलटा फेर कर अंग्रेजी रोमांटिक कवियों की भाषा में कहा, "प्रकृति की ओर लौटो"। कीट्स, वर्ड्सवर्थ, शैले की कविताओं की छाया हमें 'लहर' 'पल्लव' और 'परिमल' में मिलती हैं। प्रकृति का विशाल सौंदर्य देख कर 'पंत' आश्चर्य से भर जाता है, 'निराला' उसके सुन्दर चित्र उपस्थित करने का प्रयास करता है और 'प्रसाद' तथा 'महादेवी' ने उनमें 'रहस्य' की अनुभूति पाई है। नैपाली ने भी प्रकृति के सहानुभूति-पूर्ण चित्र उपस्थित किये हैं। इस काल के कवियों ने प्रकृति को अत्यंत निकट से देखा है। प्रकृति का अङ्ग बनकर उसका निरीक्षण किया है। महादेवी के नारी-हृदय ने प्रकृति-चित्रण में वह प्रवीणता पाई है जो मीरा के भक्ति-चित्रण में मिलती है। हमारे अधिकांश कवि शहरों के रहने वाले हैं और उन्हों ने प्रकृति के रहस्य को बहुत कम देखा है। शहरी जीवन से ऊब कर उनका आकर्षण प्रकृति की ओर होना एक स्वाभाविक, आकर्षण की प्रेरणा है। चित्रण स्वाभाविक करने का प्रयास वर्तमान कवियों में मिलता है और कवि सुलभ अनुभूति से उन्होंने इस साहित्य को अमरत्व प्रदान किया है।

इस युग के स्पष्ट प्रकृतिवादी कवि 'दिनकर', गुरु भक्तसिंह और 'नैपाली' हैं जिनकी कविता में विशुद्ध प्रकृति की छाप मिलती है। गुरु भक्तसिंह की 'नूरजहाँ' में प्रकृति का जैसा सजीव चित्रण मिलता है वैसा इस काल के अन्य किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। आज के युग ने संस्कृत काल की भांति प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता को पूर्ण रूप से स्वी-

कार कर लिया है। प्रकृति विलासिता का साधन अथवा अभिसार के उपयुक्त स्थान ही न होकर कविता का स्वच्छंद विषय बनी और नगर वालों के समक्ष अपनी स्वर्णिम आभा लेकर प्रस्तुत हुई। मानव की कोरी कल्पनाओं और अध्यात्मवाद के आदर्शों से बाहर निकल कर उन्हें प्रकृति के असीम सौंदर्य में रहस्यवाद की वह झलक दिखाई दी जिसे पाकर कबीर जैसे संतों ने उलक सियां लिखीं और रवीन्द्र बाबू ने 'गीतांजलि' की रचना की। आज के प्रकृति-चित्रण में यथार्थवाद की स्पष्ट झलक है और उसमें महान् सौंदर्य का देश है। भविष्य में आशा है कि हिन्दी कविता में प्रकृति का विशेष स्थान रहेगा।

हिन्दी में प्रकृति चित्रण की संक्षिप्त रूप-रेखा:—

१. संस्कृत साहित्य में प्रकृति-चित्रण, हिन्दी में उसका प्रभाव और नवीन दृष्टिकोण।
२. संत-साहित्य में प्रकृति का रूप।
३. भक्ति-साहित्य में प्रकृति-चित्रण और उसका दृष्टिकोण।
४. रीति-काल में प्रकृति की गौणता।
५. वर्तमान-युग की कविता पर प्रकृति, अंग्रेज़ी और बंगला का प्रभाव और हिन्दी की कुछ अपनी विशेषताएँ।
६. आधुनिक युग में प्रकृति की स्वतंत्र रूप-रेखा।
७. द्विवेदी युग की कविता और उसमें प्रकृति।
८. छायावादी कविता में प्रकृति और उस पर अंग्रेज़ी सेमेटिक-काल का प्रभाव।
९. प्रकृति का यथार्थ चित्रण और उसमें आधुनिक युग की विशेषता। प्रकृति-चित्रण का भविष्य।

तुलसी के साहित्य की सर्वांगीणता

प्राचीन-काल में जब गद्य का उदय नहीं हुआ था तो कविता का नाम साहित्य था। हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि साहित्य का अर्थ था 'कविता' जिसे समय-समय पर 'डिंगल' 'अवधी' और 'ब्रज' भाषा में विविध शैलियों के अंतर्गत लिखा गया। साहित्य के विषय भी इने-गिने थे। वीर गाथायें, भक्ति काल में निर्गुण-भक्ति, सूफ़ी प्रेम-साधना, राम कृष्ण-भक्ति और रीति-काल में शृंगार। साहित्य में न नाटक लिखे जाते थे और न कहानी और उपन्यास न निबन्ध लिखे जाते थे और ना जीवनियां या और अन्य किसी विषय का साहित्य ही। इस लिये इस काल के कवि की सर्वांगीणता देखने के लिये हम उसी कविता के सीमित क्षेत्र पर विचार करेंगे, जयशंकर प्रसाद के काल की सर्वांगीणता पर नहीं।

गोस्वामी तुलसीदासजी का प्रादुर्भाव हिन्दी साहित्य में सत्तर-हवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ। तुलसीदासजी ने राम-भक्ति का विषय लेकर अपनी साहित्य लहरी को प्रवाहित किया। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है उस काल में 'अवधी' तथा 'ब्रज' यही दो भाषाएँ हिन्दी की साहित्यिक भाषायें थीं। कविवर तुलसीदास का दोनों ही भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों ही भाषाओं में आपने कविता की। वीरगाथा काल और संत साहित्य-धारा की चलती भाषा को गोस्वामी तुलसीदास ने परिमार्जित और सुसंस्कृत रूप दिया। "हिन्दी काव्य का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहिले पहल दिखाई दिया।" सधुक्कड़ी भाषा में साहित्य का सृजन न करके तुलसी दासजी ने भाषा का संस्कार किया और भाषा को उच्च-कोटि के साहित्य के योग्य बनाया।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने काल की प्रायः सभी प्रचलित

शैलियों का अपने साहित्य में पूर्ण सफलता के साथ प्रयोग किया है। आपकी रचनाओं में जहां तक सौंदर्य, निपुणता और काव्यात्मकता का सम्बन्ध है वह शैली निर्माताओं से भी अधिक पाया जाता है। उस समय की प्रचलित काव्य-शैलियाँ थीं (१) वीरगाथा-काल की छप्पय पद्धति (२) विद्यापति और सूर की गीत-पद्धति (३) गंग इत्यादि भाटों की कवित्त-सवैया पद्धति (४) कबीरदास की नीति सम्बन्धी दोहा-पद्धति (५) और जायसी इत्यादि की दोहा चौपाई-पद्धति। इस प्रकार उस काल की यह पाँच प्रचलित शैलियां थीं जिनमें कवि अपनी कवितायें लिखकर साहित्य के भंडार को भर रहे थे। "तुलसीदास जी के रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपनी सर्व-मुखी प्रतिभा के बल से सब के सौंदर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य वाणी में दिखाकर साहित्यिक-क्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए। हिन्दी कविता के प्रेमी जानते हैं कि उनका ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रज भाषा का जो माधुर्य हम सूर सागर में पाते हैं वही माधुर्य और भी सुसंस्कृत रूप में हम गीतावली और कृष्ण गीतावली में पाते हैं। ठेठ अवधी का जो मिठास हमें जायसी की 'पद्मावत' में मिलता है वही जानकी-मंगल, पार्वती मंगल, बरवै रामायण और रामलला नहछू में मिलता है। यह सूचित करने की आवश्यकता नहीं कि ना तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का ब्रज भाषा पर।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

इस प्रकार हमने देखा कि तुलसीदास की सर्वांगीणता इस ऊपर दिये गये आधार से सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। अभी तक हमने शैली और भाषा पर ही विचार किया है। जहां तक शैली और भाषा का सम्बंध है हम तुलसीदास जी को साहित्य की समस्त प्रणालियों में पूर्ण सफलता के साथ साहित्य का सुन्दर और सुसंस्कृत रूप पाठकों के

सम्मुख प्रस्तुत करते हुए पाते हैं। ब्रज और अवधी दोनों में रचना करने पर भी कभी भाषाओं में खिचड़ी हो जाने का दोष साहित्य में नहीं आ पाया है। साहित्यिक निर्मलता के साथ-साथ भाषा भी अत्यंत निर्मल है।

साहित्य के सब अंगों का समान अधिकारी, महाकवि तुलसीदास जीवन के सब अंगों से भी पूर्णतया परिचित था। जीवन के सभी पहलुओं पर कवि ने सुन्दर रूप से प्रकाश डाला है। बालकाल, यौवन और वृद्धावस्था का चित्रण हमें मानस में मिलता है। बालकाँड में बाल-काल, अयोध्याकाँड में दशरथ की वृद्धावस्था की दशा और यौवन का तो चित्रण आद्योपांत मिलता है। जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालने के साथ-साथ जीवन की विविध परिस्थितियों को भी कवि ने अपनी तूलिका द्वारा रँगा है। खेल, विवाह, बन-गमन, मिलन, बिछोह, आनंद, कष्ट सभी भावनाओं का चित्रण कवि ने किया है। काव्य-शास्त्रों के प्रायः सभी गुण हमें तुलसीदास जी के साहित्य में मिलते हैं। नवों रसों पर आपने सुन्दर रचनायें की हैं। अनेकों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है।

हमने देखा कि भाषा, शैली और साहित्यिक दृष्टिकोण से महाकवि तुलसीदास का साहित्य सम्पूर्ण दिशाओं में पूर्णता की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है। अब साहित्य के विषय पर और विचार करना है। उस काल में साहित्य का विषय प्रधानतया भक्ति रहा है। भक्ति-क्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम-भक्ति को अपनाया परन्तु रामभक्ति के साथ आपने सहिष्णुता से काम लिया और कृष्ण, शिव इत्यादि सभी के प्रति आदर प्रदर्शित किया है। इस प्रकार आपने भारत के प्रचलित सभी धर्मों में अपने साहित्य द्वारा सम्मिलन की भावना को प्रचारित किया जिससे भारत का जो हित हुआ उसे यहां नहीं लिखा जा सकता। तुलसीदास के साहित्य ने भक्ति-क्षेत्र में जो कार्य किया वह जन साधा-

रण के दृष्टिकोण से वेद-शास्त्रों द्वारा किया भी प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार हमने पूर्ण-रूप से परख कर देख लिया कि भाषा, शैली, काव्यात्मकता, और विषय के आधार से तुलसीदास जी के साहित्य में पूर्ण रूप से सर्वांगीणता प्राप्त होती है।

तुलसी की सर्वांगीणता पर सँक्षिप्त विचार :—

१. समय की सभी भाषाओं पर तुलसीदास जी का समान अधिकार था।
२. समय की सब शैलियों में व्रज तथा अवधी में कवि ने सुन्दर रचनायें की हैं।
३. जीवन के सभी पहलुओं पर कवि ने प्रकाश डाला है।
४. कवि के साहित्यिक विषय में तल्लीनता होने के कारण उसका भक्ति-विषय आज भी सर्व-प्रिय बना हुआ है।
५. कवि की सर्वाङ्गीणता सभी क्षेत्रों में सम्पूर्ण-रूप से प्रस्फुटित हुई है।

सूरदास और उनका साहित्य

"सूर-सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास" यह पंक्ति हिन्दी-पढ़ी-लिखी जनता में बहुत प्रचलित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर पर गोस्वामी तुलसीदास को प्रधानता दी है परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि यह दोनों ही कवि हिन्दी साहित्य के प्राण हैं। सूरदासजी श्री वल्लभाचार्य के शिष्य पुष्टिमार्गी वैष्णव भक्त थे। आपने अपने समस्त साहित्य में कृष्ण लीलाओं का ही गान किया है। सूर-सागर, साहित्य-लहरी और सूर-सारावली सूरदास जी के यही तीन ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। साहित्य-लहरी सूरदास जी के कूट पदों का संग्रह है, जो सभी सूरसागर में यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। सूरदास का हिन्दी साहित्य में सूर्य अथवा चन्द्रमा होना सूर-सागर पर ही आधारित है।

सूर-सागर की कथा श्रीमद्भागवत के अनुसार स्कंधों में विभाजित है। पहिले नौ और अंतिम दो स्कंध भागवत से बिल्कुल मिलते हैं। भागवत की सभी कथाओं का गान सूर-सागर में नहीं मिलता। कुछ कथाओं में कवि ने परिवर्तन भी कर दिया है। सूर-सागर के दशम स्कंध में श्रीमद्भागवत की छाप अवश्य है पर उसमें मौलिकता भी बहुत पाई जाती है। इस स्कंध में छंदोंबद्ध कथा के बीच-बीच में पद पाये जाते हैं। सम्भवतः पहिले कथा लिखी गई है और फिर स्थानानुकूल फुटकर पदों को कवि ने इस बृहद् ग्रंथ में रख दिया है। यही कारण है कि इन पदों में अनेकों कथाओं की पुनरुक्ति मिलती है। सूर-सागर के इस स्कंध में खंडिता, फाग और मान इत्यादि के जो पद मिलते हैं उनका वर्णन श्रीमद्भागवत में नहीं मिलता। वह पद कवि ने स्वतंत्र-रूप से लिख कर बाद में सूर-सागर में रखे हैं।

सूर-सागर के दशम स्कंध को सूर-साहित्य का दर्पण मानना चाहिये। सूर की बाल लीलाओं में कालियदमन और इन्द्र-गर्व-हरण के चित्रण में कवि की उत्तमतम प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इन चित्रणों में कवि ने भागवत की कथाओं का और नवीन कथाओं का बहुत मौलिक ढंग से चित्रण किया है। इन चित्रणों में मानवीय भावनाओं का अलौकिक चित्रणों के साथ समावेश किया गया है।

सूर ने कृष्ण के बाल-लीला के जो लौकिक चित्र अङ्कित किये हैं, वह हिन्दी साहित्य ही नहीं वरन बाल-विज्ञान के पण्डितों का मत है कि अन्य साहित्यों में भी उनकी समानता नहीं मिलती। कृष्ण की बाल-लीला और नन्द-यशोदा का वात्सल्य सूर की अमर निधियां हैं, जिन्हें उन्होंने अमूल्य रत्नों की भांति सूर-सागर में सजा कर रखा हुआ है। "गोस्वामी जी ने भी गीतावली में बाल-लीला को सूर की देखा देखी बहुत अधिक विस्तार से दिया सही, पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-दर्शन की प्रचुरता रही।" रामचन्द्र शुक्ल

बाल चित्र के नमूने देखिये:—

१. सोभित कर नवनीत लिये।
घुटरुन चलत, रेनु तन मण्डित, मुख दधि लेप किये।

२. सिखवत चलत यशोदा मैया।
अरबराय कर पानिगहावति, डगमगाय धरै पैया।
'स्पर्द्धा' का देखिये कितना सुन्दर भाव है?

३. मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
नू तो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वै है लम्बी मोटी।

सूर-साहित्य में जहाँ वात्सल्य का इतना सुन्दर चित्रण है वहाँ शृंगार के भी दोनों पक्षों को खूब निभाया है। जब तक श्रीकृष्ण गोकुल में रहे उस समय तक का उनका चित्रण शृंगार के संयोग पक्ष के अन्तर्गत आता है। बाल-लीला, माखन-लीला, रास-लीला इत्यादि पर अनेकों संयोग पक्ष के पद कवि ने लिखे हैं। किशोर कृष्ण की प्रेम-लीलायें भागवत से सूर ने ली हैं, परन्तु चीर-हरण इत्यादि लीलाओं में मौलिकता का अभाव नहीं है। राधा की कथा सूर की अपनी उपज है। राधा कृष्ण के मिलन और विछोह की कथा में कवि ने शृंगार का सुन्दरतम-चित्रण किया है। भाव और विभाव दोनों पक्षों पर बहुत अनूठे और विस्तृत चित्रण सूर सागर में मिलते हैं। राधा-कृष्ण के रूप-वर्णन के अनेकों ऐसे पद सूर-सागर में आये हैं जिनमें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है। नेत्रों के प्रति उपालम्भ का एक चित्र देखिये:—

मेरे नैना बिरह की बेल बई।
सींचत नैन-नीर के, सजनी! मूल पतार गई।
बिगसति लता सुभाय-आपने छाया सघन भई।।
अब कैसे निसवारौं सजनी, सब तन पसरि छई।।

देख री ! हरि के चंचल नैन ।
खंजन, मीन, मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन ॥
राजिवदल इन्दीवर, शतदल कमल, कुशेशय जाति ।
निसि मुद्रित प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन राति ॥

कालिंदी-कूल पर रास का इतना मनोहर चित्रण कविने किया है कि उसे देखने लिये देवता पृथ्वी पर उतर आये हैं । कृष्ण के मथुरा चले जाने पर तो गोपियों के विरह-सागर का वार-पार ही नहीं रहता । वियोग में वियोगिनी की जितनी भी प्रकार की दशा हो सकती है सभी का चित्रण कवि ने किया है । गोपियाँ कृष्ण को याद करती हुईं वृन्दावन के हरे भरे वनों को कोसती हैं :—

मधुवन तुम तक रहत हरे ?
विरह-वियोग श्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे ?

वियोग-वर्णन में चन्द्रोपालम्भ का सुन्दर चित्रण मिलता है । इन चित्रणों में सूर ने नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है । यह सूर की विशेषता है । कृष्ण-भक्ति-धारा में बाह्यार्थ-विधान की प्रधानता रहने के कारण केलि, बिलास, रास, छेड़-छाड़, मिलन, बिछोह, मान, इत्यादि बाहिरी बातों का ही चित्रण सूर-सागर में विशेष रूप से मिलता है । वियोग वर्णन में संचारियों का समावेश परम्परागत है उनमें नवीन उद्भावनाओं का अभाव है । अभ्यंतर पक्ष का उद्घाटन सूर के भ्रमर गीत में मिलता है । प्रेम-विह्वल गोपियों के हृदयों की न जाने कितनी भावनाओं का अनूठा चित्रण कवि ने भ्रमर-गीत में किया है ? भावनाओं का तो यहाँ समुद्र ही उड़ेल दिया है । यह सूर-सागर का सबसे मर्मस्पर्शी भाग है । वाग्वैदग्ध्ता भी इसमें पराकाष्ठा को पहुँच गई है । ऊधव गोपियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करते हैं तो वह कहती हैं :—

निगु'न कौन देस को बासी ?

मधुकर हंसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।

इस प्रकार सूर ने भ्रमर-गीत में निगु'ण उपासना का उपहास किया है और सगुणोपासना का प्रतिपादन। यह सगुण और निगु'ण के सम्वाद कवि के मौलिक हैं, श्रीमद्भागवत में नहीं मिलते। सूर की कविता का जो मौलिक अंश है वह कवि की अलौकिक प्रतिभा का द्योतक है और शेष छन्दोबद्ध कथा में वह सौन्दर्य नहीं आ पाया जो मुक्तक पदों में है। सूर की कविता में बहरिर्पक्ष प्रधान रहते हुए भी अन्तरङ्ग भावनाओं की कमी नहीं है और उनमें शृंगार के साथ भक्ति की ही महानता मिलती है विद्यापति इत्यादि की भाँति रीति की नहीं। यह सूर की प्रधानता है। नायिका-भेद, परकीया, अभिसार इत्यादि विषयों पर सूर ने लेखनी नहीं उठाई। खण्डिता का विचार करते समय भी कवि ने आध्यात्मिक पक्ष को ही प्रधानता दी है। कवि ने काव्य शास्त्र का प्रयोग भक्ति की पुष्टि के लिये किया है उसे विषय मानकर नहीं। सूर के शृंगार में आध्यात्मिक पक्षप्रधान होने के कारण सूर की गोपियों के चरित्र उतने विकसित नहीं हो पाये जितने ऐसे प्रतिभाशाली कवि द्वारा होने चाहिये थे। राधा के प्रति उनमें ईर्षा होने के स्थान पर उलटी वह राधा की सुरतांत छवि पर मोहित हो जाती हैं।

सूर सागर में अलग से रखे हुए पद प्रतीत होने पर भी प्रबन्धात्मकता उनमें मिलती है। गीतात्मकता और प्रबन्धात्मकता का सुन्दर सम्मिश्रण हमें सूर-सागर में मिलता है। सूर-सागर में क्रमबद्धता की कमी नहीं है। क्रम पर कवि ने ध्यान दिया है। फुटकर पद बिलकुल पृथक् हैं।

अन्त में हम यही कहेंगे कि सूर जैसा वात्सल्य और शृंगार का गायक जिसने पूर्ण भक्ति भावनाओं से ओतःप्रोत होकर अपना साहित्य

सृजन किया हो कोई अन्य कवि नहीं हुआ। सूर के साहित्य पर हिन्दी को अभिमान है और वात्सल्य-चित्रण में सूर-सागर के स्वाभाविक पद उच्चतम साहित्य की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

सूर-साहित्य की संक्षिप्त विवेचनाः—

१. हिंदी साहित्य में सूर और सूर-साहित्य का स्थान विशेष है।
२. सूर की रचनायें और उनमें सूर-सागर की विशेषता।
३. सूर-सागर का दशम स्कन्ध, उसकी मौलिकता और विशेष साहित्यिक सौन्दर्य।
४. सूर का अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग चित्रण।
५. सूर के शृंगार में रीति-भावना न होकर भक्ति की भावना का ही प्राधान्य है।
६. उपसंहार।

भारतेन्दु और उनके नाटक

आधुनिक हिन्दी साहित्य का जन्मदाता हम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को मानते हैं। भारतेन्दुजी ने प्रथम हिन्दी गद्य और पद्य कीभाषा का परिमार्जन किया, दूसरे नवीन विचार धारा का वह साहित्य हिन्दी को प्रदान किया जो रीति-कालीन प्रवृत्तियों से आच्छादित नहीं था, तीसरे पद्य के साथ ही साथ गद्य मे रोचकता पैदा करके हिन्दी पाठकों तथा लेखकों का ध्यान इस की ओर आकर्षित किया, चौथे आपने नाटकों की मौलिक रचना तथा अनुवाद करके हिन्दी में रंगमंच के आने की सम्भावना को प्रस्तुत किया और पाँचवें आपने अपने साहित्य द्वारा देश-सेवा और समाज सुधार का संदेश जनता को दिया। प्रकृति के प्रति भी नवीन दृष्टिकोण को आपने साहित्य में उपस्थित किया।

इस प्रकार हमने देखा कि यह युग क्रांति का युग है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के साहित्य ने हिन्दी साहित्य में एक क्रांति का संचार किया और एकबार विचार-धारा के दृष्टिकोण को ही बदल दिया। कवियों को कविता करने के लिए नवीन विषय प्रदान किये और गद्य लेखकों को गद्य लिखने और नाटक लिखने का मार्ग दिखलाया। मुंशी सदासुख लाल, ईशाअल्लाखाँ सदलमिश्र और लल्लूलाल अपनी अपनी शैली लेकर आये परन्तु कोई मार्ग निर्धारित नहीं कर सके, इनके पचास वर्ष पश्चात् राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद ने दो स्वतन्त्र शैलियों को जन्म दिया। राजा शिवप्रसाद की भाषा उर्दू और फ़ारसी मिश्रित थी और राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत मिश्रित ठेठ हिन्दी। संवत् १९३० में इन दोनों धाराओं का मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करके साहित्यिक क्षेत्र में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने एक सुसंचालित मार्ग प्रस्तुत किया और अन्य लेखकों के मार्ग प्रदर्शन की ओर भी उन्होंने-ध्यान दिया। आपने भाषा में से प्रान्तीय शब्दों को निकाल कर एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया जिस का क्षेत्र बहुत व्यापक हुआ। वाक्यों का भी पृथक् पृथक् करना आपने प्रारम्भ किया। एक में एक गूंथते जाने की प्राचीन प्रथा को आपने तिलांजलि दे दी। भारतेन्दु जी ने जहाँ गद्य के लिए खड़ी बोली को अपनाया वहां पद्य के क्षेत्र में उन्हें ब्रजभाषा ही मान्य रही। इन्होंने ब्रज भाषा के प्रयोग में 'बिहारी' 'घनानन्द' इत्यादि की भाँति तोड़ा-मरोड़ा नहीं। आपने गद्य और पद्य दोनों में ही सरल-सुबोध-भाषा शैली को जन्म दिया। भाषा के सभी रूपों में एक ऐसा सामंजस्य स्थापित किया कि जिससे भाषा मंजकर एक व्यवस्थित रूप में आ गई। भाषा को सरल रखने की ओर उनका सर्वदा ध्यान रहता था। इस प्रकार हमने देखा कि भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी को एक नवीन मार्ग दिखलाया और नई शैली, नई भाषा और नये विषयों के साथ वह शिक्षित जनता के सामने आये।

भारतेन्दु जी की मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था में हो गई थी। इसी छोटे से जीवन-काल में आपने हिन्दी साहित्य को अमूल्य निधियाँ प्रदान कीं। गद्य का सर्व प्रथम प्रचुरता के साथ प्रयोग आपने अपने नाटकों में किया। अपनी 'नाटक' नाम की पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि हिन्दी में आपके नाटकों से पहिले केवल दो ही नाटक उपलब्ध थे, विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द-रघुनन्दन-नाटक' और गोपाल चन्द जी का, "नहुष-नाटक"। यह दोनों ब्रज भाषा में थे। भारतेन्दु जी ने १८ नाटक लिखे हैं। इस संख्या के अन्तर्गत मौलिक और अनुवाद सभी नाटक आ जाते हैं। यह सब निम्नलिखित हैं:—

मौलिक

वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति, चन्द्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत-दुर्दशा, नील देवी, अंधेर-नगरी, प्रेम-जोगिनी, सती-प्रताप (अधूरा)

अनुवाद

विद्यासुन्दर, पाखंड-विडम्बन, धनंजय-विजय, कर्पूर-मंजरी, मुद्रा राक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र, भारत-जननी।

भारतेन्दु जी ने जीवन के कई क्षेत्रों से सामग्री लेकर इन नाटकों का सृजन किया है। 'चन्द्रावली' में प्रेम तत्व की प्रधानता है तो 'नील देवी' में एक ऐतिहासिक वृत्त लिखा है। भारत-दुर्दशा में देश की दशा का चित्रण है तो 'विषस्य विषमौषधम् में रजवाड़ों के कुचक्रों का प्रदर्शन किया गया है। 'प्रेम जोगिनी' में धर्म और समाज के पाखण्ड का खाका खींचा है। इस प्रकार समाज, धर्म, प्रेम, राजनीति और इतिहास सभी दिशाओं की ओर नाटककार का ध्यान बहुत व्यापकता के साथ गया है।

भारतेन्दु जी ने शैली के क्षेत्र में मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण किया है। उन पर बंगला का भी प्रभाव पड़ा और संस्कृत का भी। इस लिए

ना तो उन्होंने प्राचीन रूढ़ियों में बाँध कर अपने नाटकों को संकुचित ही बनाया और ना नवीन में फँसकर प्राचीन रूढ़ियों से अपने नाटकों को सर्वथा मुक्त ही कर दिया। बंगला के नाटक अंगरेज़ी के प्रभाव से प्राचीनता को एक दम तिलाँजलि दे चुके थे। उस प्रणाली को भारतेन्दु बाबू ने पसन्द नहीं किया।

भारतेन्दु जी के नाटकों को रंगमंच पर स्थान मिला और उनका प्रचार भी हुआ। साहित्यिक क्षेत्र में उनका विशेष मान रहा। हिन्दी साहित्य में आपने एक नवीन धारा का संचार किया और अन्य दिशाओं के साथ-साथ नाटक-साहित्य का विशेष प्रसार आपके द्वारा हुआ। भारतेन्दु बाबू को हम हिन्दी का प्रथम सफल नाटककार कह सकते हैं। आपने पश्चिम और पूर्व के भावों का सामंजस्य करके एक नवीन प्रगति हिन्दी साहित्य को प्रदान की। भारतेन्दु युग का नाट्यसाहित्य निम्नलिखित विशेषतायें लेकर हिंदी साहित्य में अवतीर्ण हुआ:—

(१) प्राचीन प्रणालियाँ धीरे धीरे परिवर्तित होती चली जा रहीं थीं। नाटकों के पात्र देवताओं के स्थान पर इसी संसार के मनुष्य बनने लगे थे।

(२) नाटकों में दैवी चमत्कार प्रदर्शित करने की अपेक्षा वास्तविक सत्य का स्पष्टीकरण करना लेखक अपना कर्तव्य समझने लगे थे। "भारत-दुर्दशा" इसका ज्वलंत उदाहरण है।

(३) नाट्य—शास्त्र के नियम भी धीरे-धीरे ढीले पड़ते जा रहे थे। स्वच्छन्द रूप से स्पष्टी-करण करना लेखक अपना कर्तव्य समझने लगे थे।

(४) नाटक रंगमंच के विचार से लिखे जाने लगे थे न कि केवल पाठ्य साहित्य की पूर्ति के लिए।

(५) नाटकों में पद्य की अपेक्षा गद्य को प्रधानता दी जाने लगी

थी। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अनुवादों का इस गद्य-लेखन की प्रणाली पर विशेष प्रभाव पड़ा।

(६) नाटकों के कथनोपकथनों में स्वाभाविकता आने लगी थी। लेखकों ने स्वाभाविकता का विशेष रूप से सम्मान करना प्रारम्भ कर दिया था।

(७) सामाजिक-चित्रणों की ओर भी लेखकों का ध्यान गया और वह मानव जीवन के अधिक निकट पहुँचने लगे।

(८) राष्ट्रीय-विचारावली ने भी नाटकों में स्थान पाया। रंगमच पर नाटकों के आने से भाषा का अच्छा प्रचार हुआ।

(९) समस्यात्मक नाटकों का भी श्रीगणेश हमें हिन्दी-नाटक के इस द्वितीय-युग में मिलता है।

संक्षिप्त रूप-रेखा:—

१. भारतेन्दु जी का भाषा परिमार्जन, हिन्दी उर्दू का मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करना और गद्य को एक व्यवस्थित रूप देना।
२. हिन्दी साहित्य में रंगमंच द्वारा एक क्रांतिकारी युग का आना।
३. नई भाषा-शैली, नवीन विषय और नवीन रूप-रेखा के साथ नाटकों का हिन्दी में उदय।
४. पश्चिम और पूर्व के प्रभावों का सामंजस्य।
५. भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम सफल नाटक कार हैं।

जयशङ्कर 'प्रसाद' और उनके नाटक

प्राचीन प्रचलित सब प्रणालियों के बंधनों को नवीनता के विस्फोट से एक दम उड़ाते हुए बाबू जयशंकर-प्रसाद जी नाटकीय-क्षेत्र में आये। प्राचीनता को नष्ट करने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति का अपने नाटकों में ध्यान नहीं रखा। जहाँ तक प्राचीनता का यह अर्थ लिया जाता है वहां तक यह कहा जा

सकता है कि भारतीय प्राचीन संस्कृति का प्रतिपादन और अपने साहित्य में समावेश जितना बाबू जयशंकर प्रसाद जी ने किया है उतना इस युग के अन्य किसी लेखक ने नहीं किया। जयशंकर प्रसाद जी ने अपने नाटकों के कथानक विशेष रूप से भारत के प्राचीन इतिहास से ही लिये हैं। जो काल्पनिक भी हैं उनमें भी प्राचीन भारत की झलक स्पष्ट दिखलाई देती है परन्तु जहां तक नाट्य शास्त्र के नियमों का सम्बन्ध है आपने उन्हें एक दम ढीला कर दिया है। ऐसा करने से ही आप नवीन युग के प्रवर्तक कहलाये।

"अजात शत्रु", "स्कन्द गुप्त", "कामना" इत्यादि आपके विशेष नाटक हैं। इन नाटकों में आपने बौद्ध-कालीन संस्कृति का चित्रण किया है। लेखक को इसमें बहुत सफलता मिली है।

जयशंकर प्रसाद जी के नाटकों का महत्व केवल साहित्य के ही क्षेत्र में विशेष निखरे हुए ढंग से अनुमानित किया जा सकता है। रंगमंच के विचार से आपके नाटक अधिक सफल नहीं हो सके। पात्रों का आपने बहुत मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। अंतद्वंन्दों का समावेश आपके चित्रण में खूब मिलता है। आपके नाटकों की भाषा बहुत क्लिष्ट है।

बाबू जयशंकर प्रसाद जी पर जहां तक शैली का सम्बन्ध है बंगला और अंग्रेज़ी साहित्य का बहुत प्रभाव पड़ा है। आपने पूर्वी ढांचे में भारतीय संस्कृति को इतने सुन्दर रूप से ढाला है कि वह हिन्दी साहित्य के लिये एक देन बन गया है। भारतीय नाट्य शास्त्र के नियमों के बंधनों से अपने को मुक्त करते हुए आप आगे बढ़े और अपनी एक नवीन शैली का हिन्दी में आविष्कार किया। इस शैली को बाद में आने वाले सभी नाटककारों ने अपनाया है। यह परिवर्तन का युग अंग्रेज़ी साहित्य में भी आया था परन्तु भारत के पराधीन होने के कारण यह लहर भारत में बहुत पीछे आसकी। जयशंकर प्रसादजी

ने अपने नाटकों का क्रम नवीन रखा। पद्य का स्थान गद्य ने सफलता से अपना लिया। वार्तालाप कविता में न चलकर गद्य में चलने लगे और नाटकों का संगीत से सम्बन्ध विच्छेद न हो इस लिये नाटकों में गीतों का आविष्कार हुआ। नाटकों के लिये बाबू जयशंकर प्रसाद जी ने गीत लिखे, परन्तु दुर्भाग्य-वश उन गीतों का प्रसार जनता तक न हो सका। यहाँ यह समझ लेना अधिक उपयुक्त होगा कि इस युग में साहित्य और समाज दो पृथक् वस्तु बन चुके थे। भारत की पराधीनता इसका प्रधान कारण थी। यदि उस काल में भी आज की स्वतंत्र सरकार की भाँति रेडियो पर जयशंकर प्रसाद के गीत गाये गये होते तो कोई कारण नहीं था कि जयशंकरप्रसाद का साहित्य जनता का साहित्य न हो जाता। परन्तु पराधीनता के कारण साहित्य और समाज दूर-दूर रहते रहे।

जयशंकर प्रसाद को समाज नहीं समझ पाया और ना ही अपना पाया परन्तु साहित्यिक जनों ने उन्हें अपनाया, सिर आँखों पर रखा और हिन्दी साहित्य की उस अमर निधि को सुन्दरता से मान-पूर्वक सजा कर उसकी पूजा की।

बाबू जयशंकर प्रसादजी ने अपने नाट्य-साहित्य द्वारा हिन्दी नाटककारों के सम्मुख एक मार्ग रखा और उसपर चलने वाले अनेकों नाटककार आज हिन्दी साहित्य की सेवा कर रहे हैं। जयशंकर प्रसादजी के नाटकों ने जिस धारा को जन्म दिया उस में निम्नलिखित विशेषतायें पाई जाती हैः—

१—नाट्य-शास्त्र के नियमों में से सम्भवतः एक आध ही बाकी रह गया होगा। उनका क्रम नवीन है। अङ्क और दृश्य तक लिखना आज कोई पसन्द नहीं करता। अङ्क और दृश्य के स्थानों पर केवल नम्बर डाल कर ही काम चला लेते हैं।

२—सिनेमा के आविर्भाव के कारण आज यह भी आवश्यक नहीं

समझा जाता कि केवल उन्हीं घटनाओं को अपने नाटकों में रखें कि जो रंगमंच पर दिखलाई जा सकें।

३—पद्य के नाम पर केवल कुछ गीत मात्र नाटकों में बाकी रह गये हैं। समस्त नाटक गद्य में ही लिखे जाते हैं।

४—कथोपकथनों में पूर्ण स्वाभाविकता पाई जाती है।

५—मध्यवर्ग की समस्याओं को लेकर विशेष रूप से नाटकों की कथायें रखी जाती हैं। इसी वर्ग के पात्रों का चित्रण विविध परिस्थितियों में मिलता है।

६—हिन्दी का रंगमंच कुछ अधिक सफलता नहीं पा सका। सिनेमा क्षेत्र में हिन्दी पूर्ण सफल है और साथ ही साथ हिन्दी के नाटक और गीत भी।

७—लम्बे-लम्बे नाटक न लिखे जाकर छोटे नाटकों की प्रणाली चल रही है। अधिकतर छोटे ही नाटक लिखे जा रहे हैं। तीन अङ्क के नाटक अच्छे समझे जाते हैं।

८—इन नाटकों पर बँगला और अंग्रेज़ी साहित्य का प्रधान असर हुआ है। संस्कृत का प्रभाव भी कम नहीं कहा जा सकता परन्तु यह एक स्थान पर जाकर रुक जाता है।

हिन्दी नाटक-साहित्य का भविष्य बहुत आशा पूर्ण है। नये लेखक दिन प्रति दिन एक से एक नवीन रचना लेकर सामने आ रहे हैं। उनकी रचनाओं में विशेष रूप से समाज की समस्याओं के चित्र भरे हुए होते हैं। आज का समाज चाहता भी ऐसे ही नाटक है। आज का साहित्य केवल कला के लिये नहीं रह गया है वह तो देखता है उसकी उपयोगिता। केवल नाटक ही नहीं वरन इस समय का सभी साहित्य उपयोगिता की ओर बढ़ रहा है।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों की विशेषतायें:—

१. उनमें समाज की प्रवृत्तियों का सूक्ष्म निरीक्षण है।

२. मनोवैज्ञानिक चित्रण ।
३. अभिनय करने के योग्य कथानक ।
४. समाज और व्यक्तियों को बल देने वाली कथा ।
५. सरसता के लिये मधुर गीत ।
६. भाषा सरल, सरस और उच्चारण में मधुर हो ।
७. मध्य वर्ग का चित्रण ।
८. नाटकों में कथनोपकथन के लिए गद्य का प्रयोग ।

प्रेमचन्द्र की नवीन उपन्यास–धारा

हिन्दी में कथा-साहित्य का नवयुग मुंशी प्रेमचन्द से प्रारम्भ होता है। मुंशी प्रेमचन्द पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने तिलस्म और अय्यारी को छोड़कर समाज की समस्याओं को अपनाया। आपने उपन्यास-साहित्य के अभाव को पहिचाना और अपने भरसक प्रयत्नों द्वारा उस अभाव को दूर कर दिया। हिन्दी के वर्तमान कथा-युग को शैली के विचार से तीन धाराओं में विभाजित कर सकते हैं। इन तीन धाराओं के प्रवर्तक मुं० प्रेमचन्द बा० जयशंकर प्रसाद और पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र हैं।

प्रथम धारा के प्रवर्तक मुं० प्रेमचन्द हैं। इस धारा के लेखकों ने उर्दू-मिश्रित चलती हुई मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया है। यह भाषा उपन्यासों के लिये बहुत उपयुक्त है। एक रवानी इस भाषा में ऐसी पाई जाती है कि पाठक किसी पुस्तक को प्रारम्भ करके छोड़ने का नाम नहीं ले सकता। इस धारा के लेखकों को बिल्कुल नवीन नहीं कहा जा सकता। उन पर प्राचीनता का काफ़ी प्रभाव है। दकियानूसी पन उनमें से समाप्त नहीं हो गया है।

समाज की समस्याओं को ही इस धारा के लेखकों ने अपनी लेखनी का विषय बनाया है परन्तु इन्होंने समाज का वह स्पष्ट-चित्रण नहीं किया जो वर्तमान लेखक चाहता है, या वर्तमान प्रगति-वाद जिसके पीछे हाथ धोकर पड़ा है।

प्रेमचन्द के चित्रण बहुत लम्बे होते हैं। उनमें वर्णनात्मक प्रवृत्ति विशेष है। यदि किसी स्थान का ही उन्हें वर्णन करना होता है तो खूब खुलासा करते हैं। अंग्रेजी साहित्य के विक्टोरिया के समय के उपन्यासों से इनकी समानता की जा सकती है। संक्षेप में कहने की प्रवृत्ति नहीं है। इन लेखकों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। यह लेखक सम्भवतः जनता को उपदेश देने का भार अपने ऊपर कर्तव्य के रूप में मान बैठे हैं।

'प्रतिज्ञा' 'वरदान' 'सेवासदन' 'निर्मला' 'गबन' 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' 'कायाकल्प' 'कर्मभूमि' और 'गोदान' मुं० प्रेमचन्द की प्रमुख पुस्तकें हैं। नवीन उपन्यास धारा की सभी विशेषताओं के प्रारम्भ-कर्त्ता के रूप में हम मुंशी जी को पाते हैं। भाषा का बहाव, शब्दों का चयन, समाज के चित्र, मनोवैज्ञानिक भावनाओं का स्पष्टीकरण, समाज के दुखी जीवन का चित्रण, भाषा की रवानी, हृदय की पुकार, करुणा का चीत्कार, मानसिक जीवन की व्यथा, किसानों की दशा, सरकारी कर्मचारियों के व्यवहार यह सभी चीजें प्रेमचन्द्र से पूर्व उपन्यास साहित्य में कहाँ वर्तमान थीं? इस सभी प्रकार के चित्रणों का जन्म-दाता प्रेमचन्द है। प्रेमचन्द के साहित्य में वास्तविक जीवन का सहृदय-चित्रण मिलता है। न वहाँ बनावट है न शृङ्गार, हाँ कुछ कहने का ढंग ऐसा अनूठा अवश्य है कि पाठक उसकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता।

किसी भी काव्य को जन-प्रिय बनाने के लिये दो भावनाओं में से एक को लेखक अपनाकर चला करते हैं। एक "नारी का चित्रण"

तथा दूसरी "करुणा की पुकार"। इन दोनों भावनाओं के प्रति साहित्य में एक विशेष प्रकार का आकर्षण होता है। बंगला के जहाँ प्रायः सभी लेखकों ने "नारी चित्रण" को प्रधानता दी है वहां प्रेमचन्द को "करुणा की पुकार" प्रिय लगी है। यहां यह अनुमान किया जा सकता है कि लेखक की प्रवृत्ति कहाँ जाकर स्थिर होती है? वास्तव में यदि देखा जाय तो पता चलता है कि हिन्दी का लेखक जीवन के उस स्तर से उठा है, जहां परिश्रम को प्रधानता दी जाने पर भी मनुष्य का पेट नहीं भरता। हिन्दी का लेखक आज भी गरीब है। उसका पेट कठिनाई से भरता है। बंगला के लेखक ऊपर से आते हैं। ऊपर कहने का तात्पर्य केवल यही है कि वह उस वर्ग से आते हैं जहां पैसे को विशेष मूल्य नहीं दिया जा सकता। इसलिये वह वर्ग जितना अच्छा चित्रण "नारी"का कर सकता है हमारे हिन्दी वर्ग के प्रतिनिधि प्रेमचन्द ने उससे भी कहीं सुन्दर आकर्षक और वास्तविक चित्रण दुखी मजदूर और किसानों का किया है।

प्रेमचन्द ने उपान्यास-साहित्य में ही नहीं, हिन्दी-पंडित समाज में भी एक सामाजिक क्रांति पैदा करदी। आपके साहित्य को हम कला की ही वस्तु न मानकर यदि मानव-जीवन की आवश्यकताओं की वस्तु मानलें तो लेखक के साथ अधिक न्याय होने की सम्भावना है।

प्रेमचन्द के चित्रणों में समस्याओं के चित्र हैं और प्रेमचन्द के उपन्यासों में भारत की वास्तविक दशा की झांकी है। अपने समाज के सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति का चरित्र-चित्रण मुं० प्रेमचन्द ने किया है। प्रेमचन्द ने अपने सब उपन्यासों में एक भी पूर्ण-पात्र न देकर अनेकों पात्र दिये हैं। किसी एक प्रकार के वर्ग में घुस जाना ही आपके साहित्य का उद्देश्य नहीं था बल्कि जीवन के सब पहलुओं को झांकना आपका मूल उद्देश्य था।

मुं० प्रेमचन्द ने साहित्य की केवल एक ही दिशा में रचनायें की

हैं और उस दिशा में अपना एकाकी स्थान बनाया है । आपने राष्ट्र की जो सेवा अपनी लेखनी द्वारा की है वह अनेकों प्रचारक भी प्लेट-फार्मों से चिल्ला-चिल्लाकर नहीं कर पाये । हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में यह प्रथम सफल लेखक हैं ।

मुं० प्रेमचन्द की कहानियाँ

मुं० प्रेमचन्द ने हिन्दी में ढाई तीन सौ कहानियां लिखी हैं और इन कहानियों में समाज, राष्ट्र, और व्यक्ति के अनेकों अंगों को स्पष्ट किया है, जीवन की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है । प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में पूर्व और पश्चिम दोनों की समस्याओं का सामंजस्य, कला, शैली और विचारों के आधार पर किया है । इनकी कहानियों को किसी एक विशेष शैली के अन्तर्गत रखकर हम विचार नहीं कर सकते, क्योंकि इनकी अनेकों कहानियों का क्षेत्र बहुत व्यापक है ।

प्रेमचन्द भारतीय-संस्कृति में पले थे । वह संस्कृति के मूल स्रोत और उसकी विभिन्न धाराओं से भली-भाँति परिचित थे । भारतीय संस्कृति के अंतर्गत प्रधानता काव्य के बहिरंग की न होकर अंतरंग की रहती है । काव्य की आत्मा को बल देकर उसमें आध्यात्मवाद की पुट आ जाना अनिवार्य हो जाता है । प्रेमचन्द अपनी कहानियों में दैवी गुण लाकर हमें आध्यात्मिकता की ओर ले जाते हैं । प्रेमचन्द की इस दैविक भावना को प्रस्तुत करने में भारतीय आध्यात्मवाद की झलक मिलती है । प्रेमचन्द ने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की कलों में भारतीयता को पिसने से बचा लिया । प्रेमचन्द ने पश्चिम की अच्छाइयों को अपनाया, आँख मींच कर अंधों की तरह उनके पीछे नहीं दौड़े ।

प्रेमचन्द की कहानियों को हम कई भागों में विभाजित कर सकते हैं। उनकी ऐतिहासिक कहानियाँ सांस्कृतिक-दृष्टिकोण के अंतर्गत आती हैं। इस प्रकार की कहानियाँ लिखने में वह उतने सफल नहीं हो पाये जितने जयशंकर प्रसाद, क्योंकि इतिहास विषयक उनका ज्ञान प्रसाद जी की भाँति पूर्ण नहीं था। प्रसाद जी की ऐतिहासिक कहानियों में उस काल के बिखरे हुए तत्वों का सुन्दर संकलन मिलता है; परन्तु प्रेमचन्द जी में इस बात का अभाव है। जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक चित्रणों में साँस्कृतिक अथवा भौतिक संदेश नहीं मिलता। वहां तो मिलता है सीधा सच्चा चित्रण, परन्तु प्रेमचन्द उन कहानियों द्वारा समाज के सामने अपना संदेश रखना चाहते हैं। प्रेमचन्द की अधिकाँश कहानियां राजपूतों, मराठों अथवा ठाकुरों की कहानियां हैं। देश-प्रेम, वीराङ्गनाओं के बलिदान, शरणागत की रक्षा, सतीत्व की रक्षा, रण से भागे हुए पति के लिये द्वार न खोलना, अमर-प्रेम इत्यादि विषयों पर उन्होंने सुन्दर प्रकाश डाला है। इस प्रकार की कहानियों में प्रेमचन्द जी ने भारतीय संस्कृति पर विशेष ध्यान दिया है। उत्तर मुगल-काल और पूर्व अंग्रेज़ी-काल पर भी प्रेमचन्द जी ने कहानियां लिखी हैं। भारत के पतन के चित्र इन कहानियों में मिलते हैं और राजपूतों की वीरता के भी।

ऐतिहासिक कहानियों के साथ-साथ आपने जो सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं उनमें अपने काल के दो वर्गों का अधिक विस्तृत चित्रण मिलता है। एक समाज के मध्य वर्ग का और दूसरा ग्रामीण जनता का। मज़दूरों के चित्र भी प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में प्रस्तुत किये हैं परन्तु उनका अधिक विस्तृत चित्रण हमें उनके उपन्यासों में मिलता है। समाज के चित्रों का वास्तविक चित्रण हमें सबसे पहिले प्रेमचन्द की कहानियों में मिलता है। प्रेमचन्द ने यह स्पष्ट करके दिखला दिया कि सत्य गल्प से अधिक चमत्कार पूर्ण है(Truth is stronger than

fiction) प्रेमचन्द से पूर्व हिंदी में जो कहानियाँ लिखी गईं उन्हें वर्त्तमान कहानियों के साथ रखा भी नहीं जा सकता, वह कहानियां मानव-जीवन में गुद-गुदी पैदा कर सकती थीं, उन्हें संभाल या झकझोर नहीं सकती थीं। जीवन की वास्तविकता से उनका सम्बन्ध न होने के कारण वह मानव की आत्मा को छूने में असफल थीं। प्रेमचन्द की कहानियों को पढ़कर पाठक ने अनुभव किया कि मानो वह अपनी ही कहानी पढ़ रहा है। प्रेमचन्द ने प्रथम बार समाज के जीवन मे बैठ कर समाज की आत्मा का अपने साहित्य में चित्रण करने का प्रयास किया। प्रेमचन्द पहिले समाज-सुधारक थे और बाद में मनोवैज्ञानिक। उन पर आर्य-समाज के धर्म-प्रचार का प्रभाव था। समाज सुधार की कहानियों में प्रेमचंद ने उत्तम और मध्यम वर्ग की मानसिक आध्यात्मिक और आर्थिक समस्याओं के सजीव चित्रण किये हैं। वकील बैरिस्टर, प्रोफ़ैसर, रईस, मिल-मालिक, बड़े दुकानदार सभी के चित्र आपने रेखाँकित किये हैं।

प्रेमचन्द की अन्तिम निखरी हुई प्रतिभा का प्रदर्शन हमें शहरी चित्रों के अंकित करने मे नहीं मिलता, बल्कि ग्रामीण-जनता के चित्रों को अंकित करने में मिलता है। देहाती जीवन पर सर्व-प्रथम प्रेमचंद ने ही हिंदी साहित्य में लेखनी उठाई। प्रेमचन्द से पूर्व कभी किसी हिंदी लेखक का इस ओर विचार ही नहीं गया था कि वह अनपढ़ देहाती भी किसी साहित्य के विषय बन सकते हैं। प्रेमचन्द ने उन का इतना सजीव चित्रण अपनी कहानियों में किया है कि पाठक के संमुख देहात के चित्र आकर खड़े हो जाते हैं। किसान भारत का प्रतिनिधि है और प्रेमचन्द ने किसान का प्रतिनिधित्व किया है। इसलिये आज के साहित्यिक दृष्टि-कोण से प्रेमचन्द भारत का प्रतिनिधि हुआ। गाँव से सम्बन्धित ज़मींदार, काश्तकार, पटवारी, महाजन इत्यादि, सभी के चरित्र-चित्रण प्रेमचन्द ने किये हैं। ग्रामों की परम्परायें किस प्रकार

की हैं, समस्यायें किस प्रकार की हैं, कठिनाइयाँ किस प्रकार की हैं यह सब प्रेमचन्द की कहानियों में मिलता है। ग्रामीण जीवन को अपनी कहानियों का विषय बनाते हुए भी प्रेमचन्द ने उन कहानियों में मानव-जीवन के उन मनोवैज्ञानिक तत्वों को रखा है, जो विश्व-व्यापी हैं। कहानियों में मनोवैज्ञानिक तत्व की प्रधानता होने से उन कहानियों में क्षीणता नहीं आने पाई। मानव प्रकृति के उन तत्वों का चित्रण किया है जो सब स्थान और सब वर्गों के मनुष्यों में समान-रूप से पाये जाते हैं। समय और स्थान से ऊपर विश्व-जनीन मनोभावों का समावेश प्रेमचन्द ने अपने ग्रामीण पात्रों में किया है। प्रेमचन्द के समालोचकों को चाहिये कि प्रेमचन्द के साहित्य को संकीर्ण-क्षेत्र में रख कर विचार करने की अपेक्षा व्यापक-क्षेत्र में रख कर विचार करें। उसमें विश्वजनीनता और विशाल मानव-आदर्शों के दर्शन करें।

प्रेमचन्द एक मनोवैज्ञानिक लेखक है, जिसने कुशलता पूर्वक सुख-दुख, हर्ष-शोक, ईर्ष्या-द्वेष, प्रेम-घृणा आदि प्राकृतिक मनोभावों को अपनी कहानियों में रखा है। मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण होने से ही प्रेमचन्द अपनी रचनाओं में यथार्थ-वाद को उचित स्थान दे पाये हैं। प्रेमचन्द की कहानियाँ जीवन से ऊपर हो कर कल्पना की रँगीनियों में नहीं चलतीं बल्कि उन्हें हम अपने प्रति-दिन के जीवन में घटती हुई देख कर उनके साथ अपनापन अनुभव कर सकते हैं। तमाम कहानी यथार्थ-वादी होते हुए भी कहानियों के अन्त में प्रेमचन्द जी अपना नैतिक दृष्टिकोण प्रकट किये बिना नहीं रहते। वह प्रत्येक कार्य के फल को अच्छा ही देखना चाहते हैं। यह प्राचीन भारतीयता की झलक है जिसके अन्दर कि प्राचीन भारतीय नाटककारों ने दुखाँत नाटकों का लिखना ही उचित नहीं समझा था। पाप पर पुण्य की विजय, दुखांत होते २ पात्र को सुधार कर कहानी

को सुखाँत बना देना लेखक की प्रवृत्ति है। यह प्रेमचन्द का आदर्शवादी दृष्टिकोण ही है जिसने उन्हें ऐसा करने पर विवश किया। प्रेमचन्द की कथावस्तु और चरित्र-चित्रण यथार्थवादी हैं परन्तु आदर्शवादी दृष्टिकोण होने के कारण अन्त में आदर्श-वाद की झलक अवश्य आ जाती है। प्रेमचन्द की सुधारक प्रवृत्ति कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट रूप से झलक अवश्य आ जाती है। प्रेमचन्द ने विविध विषयों का समावेश अपनी कहानियों में किया है। यदि विषयों के आधार पर उनका विभाजन किया जाय तो उन्हें अनेकों विभागों में बाँटा जा सकता है, परन्तु क्रमिक विकास के आधार पर डा० रामरतन भटनागर ने उनके तीन भाग किये हैं:—

(१) आरम्भ की कहानियाँ—इन में घटना-चक्र और सामयिकता की प्रधानता है। इनमें कोई मूल विचार लेकर लेखक आगे नहीं बढ़ता। प्लाट ही प्रधान है, बीज-विचार और चरित्र-चित्रण गौण हैं। इन कहानियों में यथार्थ-वाद की कमी है और मनोवैज्ञानिक तत्वों का भी समावेश लेखक उन में नहीं कर पाया है।

(२)(अ) दूसरी चरित्र-चित्रण और आदर्श-प्रधान कहानियाँ—इस प्रकार की कहानियाँ प्रेमचन्द ने बहुत कम लिखी हैं। कला में उपयोगिता का होना प्रेमचन्द आवश्यक समझते थे। उपयोगिता के बिना अनेक विचारों में कला एक व्यर्थ की वस्तु है। 'माता का हृदय' 'स्वर्ग की देवी' इत्यादि कहानियाँ इस विभाग के ही अन्तर्गत आती हैं। कहानियों के शीर्षकों से ही उनके विषय, विस्तार तथा चित्रण का भान हो जाता है।

(आ) चरित्र-प्रधान वह कहानियाँ-जिनमें आदर्श के साथ भावना को प्रधानता दी है। इन कहानियों में भी सुधारात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। लेखक समाज की कुरीतियों को मानवता के काँटे पर तोल कर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। "स्त्री और पुरुष" "दिवाला"

"नैराश्यलीला" "उद्धार" इत्यादि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। प्रेमचन्द की कहानियों में भारतीयता की छाप पग २ पर मिलती स्पष्ट है।

(इ) घटना-प्रधान कहानियाँ—इन कहानियों में अन्य प्रवृत्तियाँ होते हुए भी प्रधानता घटना चक्र को ही दी जाती है। "शूद्र", "आधार", "निर्वासन" इत्यादि कहानियाँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं।

(ई) अन्तर्द्वन्द-प्रधान चरित्र-चित्रण वाली कहानियाँ—इन कहानियों में प्रेमचन्द जी आदर्श की ओर से यथार्थवाद की ओर चले हैं। "दुर्गा का मन्दिर", "डिग्री के रुपये", "ईदगाह", "माँ", "घर जमाई", "नरक का मा" इत्यादि कहानियाँ इसी वर्ग में आती हैं। यथार्थ-वाद की ओर चलने पर भी कहानियाँ सुखांत ही हैं, दुखांत-चित्रण लेखक नहीं कर पाया है।

(उ) वह कहानियाँ जिनमें प्रभावात्मकता पर बल दिया गया है और वह चरित्र-चित्रण प्रधान कहानियाँ हैं—इस प्रकार की कहानियों में कलात्मकता विशेष रूप से पाई जाती है। प्लॉट गौण है और चरित्र-चित्रण प्रधान। कुछ कहानियों में प्लॉट है ही नहीं। यह सब होने पर भी प्रेमचन्द जी अपनी सुधारात्मक प्रवृत्ति को नहीं छोड़ पाये। "घास वाली", "धिक्कार", "कायर", "पूस की रात" इसी श्रेणी की कहानियाँ हैं।

(ऊ) लेखक की कहानियों की अन्तिम श्रेणी वह है जहाँ लेखक आदर्शवाद को छोड़ कर यथार्थवादी लेखक बन जाता है। "कफ़न और अन्य कहानियाँ" शीर्षक से छपी हुई कहानियाँ इसी वर्ग में रखी जा सकती हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों की संक्षिप्त रूप-रेखा:—

१. प्रेमचन्द की कहानियों में भारतीयता की झलक।

२. प्रेमचन्द की कहानियों में संस्कृति, राष्ट्र, समाज, और आंदोलनों का चित्रण ।

३. प्रेमचन्द की समाज-सुधार भावना ।

४. प्रेमचन्द का मनोवैज्ञानिक-चित्रण ।

५. प्रेमचन्द की कहानियों में यथार्थ-वाद और आदर्श-वाद का सम्मिश्रण ।

६. प्रेमचन्द की कहानियों का वर्गीकरण ।

मैथिलीशरण 'गुप्त' और उनका साहित्य

मैथिलीशरण गुप्त वर्तमान हिन्दी के उन कवियों में से हैं जिन्होंने सं० १९६३से कविता-क्षेत्र में पदार्पण किया और आज तक बराबर अपने स्थान को सुदृढ़ ही बनाते चले आ रहे हैं। प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही प्रकार की रचनायें 'गुप्त' जी ने हिन्दी साहित्य को प्रदान की हैं परन्तु आपका विशेष महत्व प्रबन्ध काव्यों के ही कारण है। सं० १९६३ में प्रथम बार हिन्दी पाठकों ने आपकी रचनायें 'सरस्वती' में देखीं और फिर आप का प्रसिद्ध ग्रंथ 'भारत-भारती' पाठकों के सम्मुख आया। "भारत भारती" में 'मुसद्दस हाली' के ढंग पर हिन्दुओं की भूत और वर्तमान दशाओं की विषमता दिखलाई गई है, भविष्य-निरूपण का प्रयत्न नहीं है। 'भारत-भारती' से पूर्व भी 'रंग में भंग' नामक पुस्तक आपकी प्रकाशित हुई थी, परन्तु जो मान 'भारत-भारती' को मिला वह उसे प्रथम रचना होने पर भी प्राप्त नहीं हो सका।

'गुप्त' जी की प्रबन्ध-काव्य लिखने की धारा बराबर चलती रही और धीरे-धीरे आप ने 'रंग में भंग', 'जयद्रथ वध', 'विकट भट्ट', 'प्लासी का युद्ध', 'गुरुकुल', 'किसान', 'पंचवटी', 'सिद्धराज', 'साकेत' और 'यशोधरा' लिखकर हिन्दी साहित्य-भंडार को भर दिया। इन काव्यों में 'साकेत' और 'यशोधरा' बड़े हैं और महत्व-पूर्ण भी। 'विकट

भट्ट' में राजपूती टेक की कथा है, 'गुरुकुल' में गुरु शिष्य का महत्त्व बतलाया है और 'जयद्रथ वध' और 'पंचवटी' में प्रचलित कथाओं का कवि-कल्पना के साथ कलात्मक समावेश है। इन काव्यों की भाषा बहुत सुन्दर है और उनमें प्रसंग-योजना भी प्रभावशाली है।

'गुप्त' जी ने अपने साहित्य में जीवन और जगत दोनों पर प्रकाश डाला है। साकेत में 'गुप्त' जी ने अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित किया है। साहित्य की प्रगतियों का 'गुप्त' जी पर प्रभाव न पड़ा हो ऐसी बात नहीं है। जिस समय साहित्य में छायावाद की लहर दौड़ी तो 'गुप्त' जी भी इससे अपने को पृथक नहीं रख सके। रहस्य-वादियों के से कुछ गीत आप ने गाये अवश्य हैं, परन्तु असीम के प्रति उत्कंठा और वेदना इनके जीवन में निहित न होने के कारण वह केवल काव्य के प्रति एक रुझान मात्र ही रह गये है, जीवन की प्रेरणा नहीं बन सके। 'गुप्त' जी की इस धारा की कविताओं का संग्रह 'झंकार' है।

'साकेत' और 'यशोधरा' गुप्त जी के दो अमर काव्य हैं। इन्हीं में उनके काव्य का सुन्दर विकास दिखलाई देता है। इन ग्रंथों में प्रबन्धात्मकता की वह पुष्टि नहीं दिखलाई देती जो 'रामचरित मानस' और 'पद्मावत' में मिलती है। इस का प्रधान कारण यही है कि उनकी रचना कवि ने उस समय की, जब साहित्य की गीतात्मक प्रवृत्ति का उनपर प्रभाव पड़ चुका था। साकेत के दो सर्गों में विरहणी उर्मिला का चित्रण 'गुप्त' जी के साकेत की विशेषता है। उर्मिला के चरित्र का जो प्रसार साकेत में मिलता है वह हिन्दी के अन्य किसी ग्रंथ मे नहीं मिलता।

यशोधरा की रचना कवि ने नाटकीय ढंग पर की है। "भगवान बुद्ध' के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले पात्रों के उच्च और सुन्दर भावों की व्यंजना और परस्पर कथनोपकथन इस ग्रंथ मे हैं। भाव-व्यंजना

गीतों में हुई है।" (रामचन्द्र शुक्ल) । इनके अतिरिक्त 'द्वापर', 'अनघ', 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' इनके छोटे ग्रंथ भी हैं।

'गुप्तजी' ने समय और साहित्य की सभी प्रगतियों को काव्य का रूप दिया है। यह हिन्दी भाषा-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि हैं। भारतेन्दु-काल की देश-प्रेम भावना गुप्तजी की 'भारत भारती' में मिलती है। भक्ति-कालीन प्रवृत्ति अपने वर्तमान रूप में आकर 'साकेत' में मिलती है। भारत में जितने भी आन्दोलन हुए हैं इन सब की झलक हमें 'गुप्त' जी के काव्य में यत्र-तत्र दिखलाई देती है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्व-वाद, विश्व-प्रेम, किसानों और मज़दूरों के प्रति प्रेम और सम्मान की झलक इनके साहित्य में मिलती है। खड़ी बोली में इतनी सुन्दर और निखरी हुई कविता लिखने का श्रेय 'गुप्त' जी को ही प्राप्त हुआ है। भाषा में लोच, सौन्दर्य, कर्ण-मधुरता और अंत्यानुप्रासों का लाना—इन सभी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हिन्दी कविता में 'गुप्त' जी का ही सफल प्रयास है।

इस प्रकार हम 'गुप्तजी' की रचनाओं का विश्लेषण करके देखते हैं कि उनमें भाषा के विचार से भी क्रमिक विकास पाया जाता है। 'गुप्त'जी की रचनाओं में स्वच्छ और सुथरी भाषा का प्रयोग मिलता है। खड़ी बोली की गद्यात्मकता और रूखेपन को निकाल कर कवि ने उसमें सरस और कोमल पदावली का प्रयोग किया है। इतिवृत्तात्मक भाषा में परिमार्जन करके उसे गीतात्मक बनाया है। आपने बंगाली कविताओं का अनुशीलन किया। हिन्दी साहित्य में छायावादी-युग आने से पूर्व की जितनी भी 'गुप्त' जी की रचनायें हैं उनमें अनेकों स्थानों पर ऊबड़-खाबड़ और अप्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग मिलता है।

"गुप्त जी" सामंजस्य-वादी कवि हैं, प्रतिक्रिया प्रदर्शन करने वाले अथवा मद में झूमने वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्यभाव और नवीन के प्रति उत्साह, दोनों इनमें हैं।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

प्रकृति-चित्रण, मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, समाज पर दृष्टि, विशुद्ध भाषा का प्रयोग, सुन्दर अलंकारों का समावेश, नवों रसों पर पूर्ण अधिकार रखना—यह सभी मैथिली शरण जी और उनके साहित्य की विशेषतायें हैं। प्राचीनता और नवीनता का इतना सुन्दर सामंजस्य आज के किसी अन्य कवि में नहीं मिलता जैसा 'गुप्त' जी के साहित्य में उपलब्ध है। कवि आज के साहित्य और समाज का प्रतिनिधि है और उसने अपने साहित्य में मानव-चित्रण के उन तत्वों को प्रधानता दी है जिनके कारण उनका साहित्य केवल उनके ही काल का न रहकर, सब आने वाले समयों का साहित्य बनेगा। 'यशोधरा' और 'साकेत' हिन्दी साहित्य की अमर निधियाँ हैं जिनका महत्व सर्वदा एकसा ही बना रहेगा।

गुप्त जी के साहित्य पर संक्षिप्त विचार:—

१. गुप्त जी की साहित्यक प्रगति।
२. खड़ी बोली भाषा में काव्यत्मक सौंदर्य का लाना।
३. प्राचीनता और नवीनता में सामंजस्य स्थापित करना।
४. समय की सभी प्रगतियों पर समान रूप से प्रकाश डालना।
५. उपसंहार।

कवि—'निराला' का दार्शनिक-प्रकृतिवाद

'निराला' के साहित्य में स्पष्ट अद्वैतवाद की झलक है। 'परिमल' में अद्वैत-वाद का स्पष्टीकरण हमें कई कविताओं में प्रस्फुटित होता हुआ दिखाई देता है। 'जागरण' कविता में आत्मा की चरम सत्ता में स्थिति को सच माना है। मानव आत्मा को माया-जनित जड़ता के कारण परमात्मा से पृथक किये हुये है। मानव की यह जड़ता सत्य नहीं असत्य है। कवि के शब्दों में यह 'अगणित तरंग' के रूप

है। चिदात्म तत्व गुणों से परे है, उसमें गुणों का आरोप हम नहीं कर सकते। हमें अपने चारों ओर जो जड़सृष्टि दिखाई देती है यह सब माया-जनित है, वासनाओं से जन्म लेकर आती है, सत्य नहीं है। यह सब भिन्नता और परिवर्तन जो हमें विश्व में दिखलाई देता है यह सब हमारे अज्ञान के ही कारण है। जड़ इन्द्रियां हमें स्खलन और पतन की ओर ले जाती हैं। कवि का मत है कि ज्ञान से मानव उस माया-जाल को भेद कर ब्रह्मतत्व तक पहुँच सकता है। माया के आवरणों को भेदना जीवात्मा के लिये अत्यंत आवश्यक है। बिना उन आवरणों को भेदे आत्मा अपने निश्चित लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकती। ज्ञान प्राप्त होने पर आत्मा की जो आनंदमय स्थिति होती है उसका कवि इस प्रकार चित्रण करता है:—

अविचल निज शाँति में
क्लांति सब खो गई!
डूब गया अहङ्कार
अपने विस्तार में,
टूट गये सीमा-बँध,
छूट गया जड़ पिंड,
ग्रहण देश काल का।

ज्ञान का आकर्षण पाकर आनन्द मय ब्रह्म में सृष्टि-रचना की इच्छा होती है। वहाँ मोह नहीं होता है, होता है शुद्ध प्रेम। ब्रह्म अपनी माया का प्रसार प्रेम के रूप से करता है, छल फैलाने के लिये नहीं। वह त्रिगुणात्मक रूप रचता है और मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और पंच भूत, रूप, रस, गंध, स्पर्श विकसित हो जाते हैं। माया को कवि ने असत्य माना है। वह आनंद की अभिव्यक्ति हो सकती है, प्रेम का निरुपण मात्र कर सकती है और यह भी तब

जब मन उसे उसके प्रेम के विशुद्ध रूप में ही ग्रहण करें, छलना रूप में ग्रहण करने की भूल न कर जाये।

कवि के दर्शन पर कबीर के निर्गुण-तत्व का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। कबीर की प्रकृति में राम की झलक थी और निराला की प्रकृति स्वयं राम है, अन्तर केवल इतना ही है। कबीर ने माया को बिलकुल असत्य मान कर छलना रूप दिया है परन्तु 'निराला' ने उसे प्रेम का रूप माना है घृणा का नहीं। 'परिमल' और 'गीतिका' का अध्ययन करने से हमें कवि के दार्शनिक दृष्टिकोण का पता चलता है। 'निराला' की कविता में वेदांती दर्शन है। अद्वैत-वाद का उन्होंने प्रतिपादन किया है परन्तु 'निराला' का अद्वैतवाद विशुद्ध अद्वैत-वाद नहीं है। अद्वैत-वाद के साथ प्रेम का समावेश करके 'निराला' जी जायसी के निकट पहुँच जाते हैं। सूफ़ी प्रेम की झलक पाकर-कविता में रस का संचार हो गया है अन्यथा उसमें वही रूखापन बना रहता जो कबीर की कविता में मिलता है। परिमल की पंचवटी में कई दार्शनिक दृष्टिकोण कवि ने एक ही स्थान पर लाकर जुटा दिये हैं। कवि कहता है:—

भक्ति, योग, कर्म ज्ञान एक हैं
यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं।
एक ही है दूसरा नहीं है कुछ—
द्वैत भाव भी है भ्रम।
तो भी प्रिये,
भ्रम के ही भीतर से
भ्रम के पार जाना है।
मुनियों ने मनुष्यों के मन की गति
सोचली थी पहिले ही।
इसीलिए द्वैत-भाव-भावुकों में
भक्ति की भावना भरी।

इस कविता में समन्वय की भावना मिलती है तर्क की नहीं। वेदांत का आश्रय तर्क है, परन्तु समन्वय में तर्क को एक ओर रख देना होता है और लोक हित के लिये समन्वय की भावना का होना कवि के लिये आवश्यक है। 'निराला' की कविता में अद्वैतवाद के साथ साथ प्रेम और भक्ति के दर्शन होते हैं। यह 'निराला' की अपनी विशेषता है जिसे प्रकृति का सहारा लेकर कवि ने साहित्य में प्रस्तुत किया है। 'निराला' का दर्शन ज्ञान मूलक है। जायसी की भाँति प्रकृति और परब्रह्म में वह एकात्म न मानकर भिन्नता मानते हैं।

'निराला' के प्रकृति-चित्रण साधारण नहीं है उनमें दर्शन की विशेषता होने के कारण चित्रणों में भी विशेषता आ गई है। प्रकृति की प्रत्येक शक्ति में उन्हें ब्रह्म की छटा दिखाई देती है। प्रकृति के रंग उन्हें गहरे लगते हैं, पवन में पराग और कुँकुम मिली दिखलाई देती है। दार्शनिक कवि पवन को देखता और रंगों से बातें करता है। 'निराला' ने प्रकृति का वह स्वरूप नहीं देखा जो जायसी ने देखा है। जिसने कवि प्रकृति से मिलकर उसे अपने विरह का अंग बना लेता है। कवि प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी रूप में देखता है। 'निराला' की "जुही की कली" में प्रकृति आत्मा और परमात्मा लीलाओं का स्थल बन कर आई है। पवन ईश्वर का स्वरूप है और कली आत्मा का। इन प्रतीकों को मानने से 'निराला' में पूर्ण भारतीयता के दर्शन होते हैं। काव्य में प्रेम का समावेश करने पर भी ईश्वर को नारी-रूप में कवि ने नहीं देखा। कवि ने अपनी दूसरी कविता 'शेफाली' में भी प्रकृति का चित्रण इसी प्रकार किया है। प्रकृति का निरीक्षण कवि ने एक विशुद्ध वेदांती बन कर किया है। 'निराला' के प्रकृति-चित्रण में प्रकृति को स्वतंत्र रूप नहीं मिल पाया। यही कारण है कि प्रकृति-चित्रण का वह विकास जो जायसी की पद्मावत या वर्तमान कालीन पंत की भी कविता में प्राप्त हुआ है, वह

प्राप्त नहीं हो सका। इस प्रकार हमने देखा कि 'निराला' के दार्शनिक प्रकृति-वाद में प्रकृति माया का प्रेम-क्षेत्र है जिसमें आत्मा और परमात्मा की क्रीड़ायें होती हैं। यह लीलायें छल के प्रभाव से न हो कर प्रेम के प्रभाव से होती हैं। मानव-ज्ञान से इस आनंद-मय सृष्टि के दर्शन कर सकता है और अपने को उसका एक अंग बना सकता है।

संक्षिप्त रूप-रेखाः—

१. कविवर 'निराला' ने प्रकृति का स्वतंत्र-चित्रण न करके एक विशुद्ध वेदांती के दृष्टिकोण से किया है।
२. 'निराला' ने अपने दर्शन में भारत के सभी दर्शनों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।
३. उपसंहार।

महादेवी वर्मा का दर्शन और साहित्य

महादेवी वर्मा की कविता में करुणा का अपार सागर लहरें मारता है। दुःख और रोदन से ही प्रस्फुटित होकर उनकी कविता चलती है। कविवर पंत की यह पंक्तियाँः—

वियोगी होगा पहिला कवि
आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुप चाप
बही होगी कविता अन जान।

महादेवी के विषय में पूर्ण रूप से चरितार्थ हो जाती है। महादेवी की इस शैली को कुछ आलोचक दुःख-वाद कहकर पुकारते हैं। यह दुःखवाद आज के युग में न केवल महादेवी वर्मा के ही गीतों का प्राण बनकर आया है वरन् जयशंकर प्रसाद-का 'आँसू', पंत की 'ग्रंथि' तथा भगवती चरण और बच्चन तक के काव्यों में मिलता है।

इस दुःख-वाद के मूल में हम आध्यात्मिक असंतोष और राजनैतिक कारणों को पाते हैं। छायावाद का आरम्भ इस दुःख-वाद और पलायनवाद के सम्मिश्रण से हुआ। भारतीय जीवन आध्यात्मिक तत्वों को भुला कर पराधीनता में असहाय सा हो गया था। उसी में कुछ जागृति भरने के लिये या यों कहें कि अपनी दयनीय परिस्थिति पर रोने के लिये इस वाद का जन्म हुआ। बुद्धि-वाद का ज्यों-ज्यों प्रसार होता गया त्यों-त्यों यह दुःख-वाद छायावाद के अन्दर से निकल कर स्थूल रूप धारण करता चला गया।

महादेवी वर्मा के दुःख-वाद में आध्यात्मिक तत्व प्रधान है। श्री रायकृष्ण दास जी 'नीरजा' की भूमिका में लिखते हैं,"उनकी (महादेवी की) काव्य-साधना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय निवेदन है। कवियित्री की आत्मा मानो इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसि की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। उसकी दृष्टि से विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक शोभा-सुषमा एक अनन्त अलौकिक चिर-सुन्दर की छाया मात्र है।" महादेवी वर्मा के साहित्य में दार्शनिक-चिन्तन, स्त्री-सुलभ भावों की कोमलता, साहित्यिक-परम्पराओं से प्राप्त सौंदर्य, छायावाद का चमत्कृत-चित्रण, तत्सम शब्दों की मधुर झंकार और प्रकृति का रंगीन-चित्रण बहुत सुन्दर ढंग से संचित करके रखे गये हैं। महादेवी वर्मा को हम किसी भी अन्य कवि के पीछे चलता हुआ नहीं पाते, उनकी अपनी धारा है, अपनी शैली है, अपने विचार हैं और अपनी कल्पनायें हैं।

महादेवी ने आत्मा को 'प्रोषित पतिका' के रूप में रखा है और उनका यह चित्रण 'नीरजा' प्रकाशित होने से पहिली रचनाओं में ही स्पष्ट हो जाता है। उनके हृदय में एक टीस उठती है और उससे विकल होकर उनकी कविता आध्यात्मिक विचारावलि को लेकर मुखरित होने लगती है। उनकी कविता में इस प्रकार एक तरह की रहस्या-

त्मकता रहती है और उसी को हम इनका दर्शन कहते हैं। रहस्यवादी का ज्ञान व्यष्टि से समष्टि की ओर जाता है और समष्टि से व्यष्टि की ओर। वह कोरा पृथ्वी के ही निकट रहकर तर्क पर आधारित नहीं रहता। रहस्य-वादी कवि कभी-कभी तो संसार को न देख कर अपने को और परब्रह्म को ही देखता है। उसके नयनों की पुतलियों में एक ही भाव समा जाता है। उसे जिस वस्तु का साक्षात्कार या सहज ज्ञान होता है उसे वह अनेकों प्रकार के प्रेम प्रतीकों द्वारा व्यक्त करता है। रहस्वादी कवि चरमतत्त्व का आत्मतत्त्व से सम्बन्ध स्थापित करना ही अपना एक उद्देश्य समझता है। प्रेम प्रतीकों द्वारा आत्मा-परमात्मा, व्यक्त-अव्यक्त, ससीम-असीम, पूर्ण-अपूर्ण, साकार-निराकार के पारस्परिक सम्बन्ध का गान करना ही रहस्यवादी कवि का लक्ष्य होता है। महादेवी जी लिखती हैं;—

विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात।
वेदना में जन्म करुणा में मिला अवसान॥

प्रकृति को परमात्मा से मिलाने वाला विरह का स्रोत है। आत्मा इस विरह के दुःख-स्रोत में पैदा होने वाला जलजात है। मानव की उत्पत्ति इस दुःख से ही हुई है। यह आत्मा निर्विकार और निष्काम है। आत्मा को सब चीजों का ज्ञान है, और ज्ञान होने पर ही उसमें वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है। अव्यक्त की एक झलक पाजाने पर ही आत्मा सांसारिक बंधनों से अपने को मुक्त कर अलौकिक आनंद की ओर अग्रसर हो जाती है।

(१) महादेवी वर्मा ने आत्मा की स्थिति 'प्रेम की पीर' में मानी है। (२) ज्यों-ज्यों आत्मा को इस प्रेम-पीर का अनुभव होता जाता है त्यों-त्यों वह परब्रह्म के निकट पहुँचता जाता है। (३) बिना परब्रह्म के अनुग्रह के मुक्ति प्राप्त नहीं होती। (४) आत्मा की परमात्मा के प्रति विह्वलता आत्मा की पूर्वानुभूति है। यह सभी बातें

कबीर के रहस्य-वाद से मिलती-जुलती हैं जहाँ तक ज्ञान, दर्शन और चिंतन का सम्बन्ध है। महादेवी की कविता में योग का समावेश हमें नहीं मिलता। यहाँ पहुँच कर उनकी धारा कबीर से हट कर जायसी की तरफ़ बहने लगती है, परन्तु जायसी की 'प्रेम-पीर' और महादेवी की 'प्रेम-पीर' मे अन्तर है। कविता के बहिरंग में तो आकाश-पाताल का अन्तर है परन्तु सूक्ष्म अन्तर उनके आत्म-तत्व में भी है।

जलते दीपक को आत्मा का प्रतीक मान कर कवियित्री लिखती है:—

१. मोम सा तन घुल चुका है, अब दीप सा मन जल चुका है।

२. तू जल जल कितना होता क्षय,
मधुर मिलन में मिट जाता तू,
....

अंधकार और प्रकाश का ज्ञान अज्ञान के कारण है। विरह की साधना से दोनों का भेद मिट जाता है। जब चेतना थक जायेगी, तन मोम की तरह गल जायेगा और मन दीपक की लौ की भाँति शुद्ध हो जायेगा तब जीवात्मा प्रकाश के दर्शन करेगा और उस समय अंधकार प्रकाश में और प्रकाश अंधकार में लय हो जायेगा।

महादेवी में मीरा की झलक मिलती है। साधना को दोनों ने ही अपनी कविताओं में विशेष स्थान दिया है। परन्तु ना तो मीरा में महादेवी वर्मा की कल्पना है और ना ही महादेवी में मीरा की स्वाभाविकता और प्रेम-दीवानगी। मीरा में निर्गुण की झलक अवश्य मिलती है परन्तु प्रधानता सगुण को ही दी है परन्तु महादेवी के काव्य में हमें सगुण के लिये कोई स्थान ही नहीं मिलता। यहां तो पूर्ण रूप से निर्गुण-चिंतन है।

महादेवी में विद्वता है मीरा में नहीं, महादेवी में काव्य परम्परागत सौंदर्य और उसकी पूर्ति है, मीरा में है उसकी स्वाभाविकता.

पांडित्य नहीं, महादेवी में है सुन्दर शब्दचयन, मीरा में इसका अभाव है, महादेवी में है निर्गुण दार्शनिक चिंतन, मीरा की सगुण भक्ति में कहीं कहीं निर्गुण दर्शन की झलक है, प्रेम-पीर दोनों में समान है—इस प्रकार हम मीरा और महादेवी की कविताओं पर एक दृष्टि डाल सकते हैं।

कविवर 'निराला' अद्वैतवादी होने के नाते आत्मा को निर्लेप मानते हैं परन्तु महादेवी तो अपने को बंधनों में बांधने से भी नहीं सकुचाती:—

क्यों मुझे प्रिय हो न बन्धन।
बीन बन्दी तार की झंकार है आकाशचारी।

इसी प्रकार वह अपनी कविता को 'आकाशचारी' मानती हैं। महादेवी को अपनी ससीमता पर भी गर्व है, दुःख नहीं। महादेवी वर्मा ने सुन्दर गीतों में, कलात्मक छंदों में नवीन प्रतीकों को लेकर जो धारा प्रवाहित की है वह हर प्रकार से अपने में अपनापन रखती है। उसका हर विचार भारतीय है और प्राचीनता की उसपर गहरी छाप है। बुद्धि-वाद हमें महादेवी की कविता में बहुत कम क्या, ना के ही बराबर मिलता है। शुद्ध दार्शनिक-चिंतन-प्रधान इनकी कवितायें हैं जिन्हें मधुर कंठ द्वारा गाया जा सकता है। वर्तमान युग के गायक उन्हें अपनाने का प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु उन्हें वह सफलता अभी प्राप्त नहीं हो सकी है जो सूर और मीरा के पदों को प्राप्त है।

महादेवी के साहित्य पर संक्षिप्त विचार:—

१. महादेवी का दुःखवाद और दर्शन।
२. महादेवी की कविता में प्रतीकों का प्रयोग।
३. महादेवी की कल्पना प्रधान कविता और गीतात्मकता।
४. कबीर, जायसी, मीरा और 'निराला' के दर्शनों के बीच में महादेवी का दर्शन।
५. गीतात्मकता में संगीत की सफलता।

हिन्दी कविता में राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता का संकीर्ण अर्थ है देश-भक्ति, और व्यापक अर्थों में राष्ट्रीयता का अर्थ होता है राष्ट्र के विचार, राष्ट्र की संस्कृति, और राष्ट्र की भाषा। विचार, संस्कृति और भाषा का समुदाय कहलाता है राष्ट्रीयता। एक राष्ट्रीय कवि वह है जिसने राष्ट्र की भाषा में राष्ट्रीय संस्कृति को लेकर राष्ट्र के विचारों का प्रतिपादन किया हो। बाल्मीकि, कालीदास, तुलसी, सूर और मैथिली शरण गुप्त इस विचार से राष्ट्रीय कवि हैं। जिस प्रकार शेक्सपीयर इंगलैण्ड का और एवंगेट जर्मनी के राष्ट्रीय कवि हैं उसी प्रकार तुलसी, सूर और 'गुप्तजी' हिन्दी के कवि हैं। तुलसी के 'मानस' में भारत-राष्ट्र की आत्मा के दर्शन होते हैं और सूर के 'सूर सागर' में राष्ट्र का आश्वासन मिलता है, एक अवलम्ब मिलता है, बल मिलता है, जीवन और जीने की शक्ति मिलती है और इसी प्रकार 'गुप्त जी' की 'भारत भारती' और 'साकेत' में राष्ट्र के धार्मिक और राजनैतिक उत्थान का व्यापक संदेश मिलता है। परन्तु यह व्यापक अर्थ समालोचक लोग प्रयोग नहीं करते। जब हम राष्ट्रीय कवियों पर दृष्टि डालते हैं तो हमारी दृष्टि केवल देश-प्रेम, जाति-प्रेम, और संस्कृति-प्रेम रखने वाले ही कवियों पर जाती है। हमारे दृष्टिकोण में संकीर्णता आ जाती है। यही राष्ट्रीयता की साधारण परिभाषा है।

यदि हम राष्ट्रीयता को उसके संकीर्ण अर्थों में लें, तो भी हमें इस विषय पर विचार करते समय दो विचार धाराओं को लेकर चलना होता है। इनमें पहिली विचार-धारा का सम्बन्ध उस काल से है जो अंग्रेज़ी शासन के पश्चात् दिखलाई देती है। संसार के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि धर्म और राजनीति में एक प्रबल संघर्ष रहा है। अंग्रेज़ी राज्य से पूर्व मुसलमान शासन-काल में धर्म

का बोल-बाला था। इसी लिए हिन्दू धर्म के ऊपर आक्रमणकारी बनकर आने वाले मुसलमानों के विरुद्ध जिस भावना को कवियों ने अपनी वाणी में मुखरित किया है उस समय वही राष्ट्रीयता मानी जाती थी। चन्द और भूषण इस प्रकार की राष्ट्रवादी कविता के प्रतीक हैं। इन कवियों ने उस समय की जनता के हृदयों को राजनैतिक दृष्टि-कोण से बल दिया, उत्साह दिया, धर्म के सहायक तथा रक्षक वीर योद्धाओं का गुण गायन किया।

समय ने करवट ली। मुसलमान राज्य भारत पर छा गया। भारतीय सभ्यता ने दूसरों को अपने में खपाना सीखा है, हज्म करजाना सीखा है और उसने मुसलमानियत को भी अपना ही रूप दे दिया। अपनी जैसी जातियाँ उन्हें दे दीं और अपने जैसे रीति-रिवाज भी। कबीर जैसे महाकवियों ने दोनों में समन्वय की भावना भरी और सूर तथा तुलसी जैसे राष्ट्रीय कवियों ने जनता के उद्‌भ्रांत हृदयों को अपनी गोद में लेकर सहारा दिया। भक्ति का वह स्रोत बहाया था कि जीवन का नैराश्य एकदम समाप्त कर दिया जाये।

मुसलमान-काल के पश्चात् राजनैतिक युग आया। पहिले युग में, जिस में राजनीति प्रधान हो गई, देश के नेताओं ने आपसी फूट और हिन्दू मुसलमानों का भेद-भाव भुलाने का आदेश दिया। राष्ट्र में एक नवीन विचार धारा ने जन्म लिया और वह राजनीति के पीछे-पीछे चल पड़ी।

भारतेंदु-काल में सर्वप्रथम इस राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं। राष्ट्रीय समन्वय में संस्कृति के उत्थान की नेताओं और लेखकों ने कल्पना की और राष्ट्र तथा धर्म को पृथक् २ कर दिया। भारत का समाज दो दलों में विभक्त हो गया। एक पूर्ण राजनैतिक राष्ट्रवादी और दूसरा हिन्दू धर्मी। जो दल प्रगतिशील था उसने धर्म के बखेड़े को भारत की पराधीनता के सम्मुख उठा कर एक ओर रख दिया और

जो प्रतिक्रिया-वादी या प्राचीनता-वादी था उसने वही पुरानी प्रणाली को अपनाये रखा।

साहित्य में तो स्वयं प्रगति होती है। इस लिये साहित्य के क्षेत्र में दूसरे दल का अधिक महत्व नहीं बन सका। राजनीति में स्वार्थ को लेकर नेता चलते हैं इस लिए प्रति-क्रियावादी भी अपनी जड़ों को खोखला होते देख कर भी उन्हें जमाये रखने का ही धोखा जनता को देने का प्रयत्न किया करते हैं। वास्तव में सत्य यह है कि जो व्यतीत हो चुका वह लौटेगा नहीं। इंगलैण्ड में चर्चिल भी फिर से कंज़र-वेटिव पार्टी की सरकार बनाने का स्वप्न देखता है और चीन में चैंकाई शेक भी। साहित्य के क्षेत्रों में क्योंकि स्वार्थ नहीं है इस लिये विचारक को क्या पड़ी है कि वह मुक्त होकर विचार न करे और नवीनता को प्रश्रय न दे।

अंग्रेजी राज्य १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम में भारतीय पराजय के पश्चात् दृढ़ हो गया। इस काल के राष्ट्रीय कवियों ने देश का करुण चित्र अंकित किया। 'प्रेमघन' जी ने लिखा कि भारत में अंग्रेजी राज्य आजाने से:—

दुःख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता।
भारत में सम्पत्ति की दिन दिन होत हीनता॥

'भारतेन्दुदशा' में भारत की परिस्थिति का भारतेन्दु जी ने अच्छा चित्र अंकित किया है। सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना होने पर 'प्रेमघन' जी सहर्ष कहते हैं:—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समय अंत अतिशय प्रमुदित हो तनिक तक उसने ताका॥

इस प्रकार यह राष्ट्रीयता की भावना पृथक् पृथक् धाराओं में बहती हुई 'गुप्त' जी की 'भारत-भारती' तक आ पहुँचती है। 'भारत भारती' में राष्ट्र को स्वतंत्र करने का स्पष्ट संकेत मिलता है। १९१८

के असहयोग आँदोलन से राष्ट्रीयता ने और पंख पसारे और माखन-लाल चतुर्वेदी, 'सनेही', सुभद्रा कुमारी चौहान, बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन', इत्यादि कवियों ने फुटकर रचनाओं द्वारा राष्ट्रीयता की भावना से पत्र-पत्रिकाओं में लिखकर भारत की जनता को जागृत किया। सुभद्रा की फड़कती हुई कविता हमें 'भूषण' की याद दिलाती है। "झाँसी की रानी' में जो ओज है वह भूषण के अतिरिक्त अन्य किसी की कविता में नहीं मिलता :—

बुँदेले हर बोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥
जाओ रानी याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारत वासी।
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतंत्रता अविनासी॥
दो मतवाली विजय, मिटा दें गोलों से चाहे झाँसी।
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी॥
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

आज राष्ट्रीयता का बोल-बाला है। सियाराम शरण गुप्त, सोहन लाल द्विवेदी, सुधीन्द्र, 'चकोरी' तथा अन्य अनेकों छोटे-मोटे कवि इस धारा के अं 'गत आजाते हैं। इस काल की राष्ट्रीय कविता केवल परा-धीनता से भारत को उभारने के लिये चमत्कार मात्र है। एक विद्रोह है विदेशी शासन के प्रति। कला के लिये उसमें स्थान बहुत है। इस कविता का इस लिये राजनैतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से जितना महत्व है उतना कविता होने से नहीं। काव्य के क्षेत्र में आज भारत स्वतंत्र हो जाने पर आशा है कि कुछ राष्ट्रीय कवि जन्म लें या वर्तमान कवियों का ध्यान उस ओर जाये और वह राष्ट्र के वास्तविक अर्थ को समझकर संस्कृति, समाज, राजनीति, भाषा, कला और काव्य परम्परा का ध्यान रख कर साहित्य का सृजन करें। प्रतिभा-शील कवियों से हम आशा करते हैं कि वह हिन्दी साहित्य के इस अभाव की पूर्ति करेंगे।

हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता की संक्षिप्त रूप-रेखा :—

१. राष्ट्रीयता के दो अर्थ, एक संकीर्ण और दूसरा व्यापक।
२. मुसलमान काल में राष्ट्रीयता का अर्थ।
३. अंगरेज़ी शासन-काल में आकर राष्ट्रीयता का अर्थ।
४. राष्ट्रीय-साहित्य में कला का अभाव।
५. पराधीनता के प्रति केवल चीत्कार मात्र को छोड़ कर स्वतंत्र भारत में राष्ट्रीयता का नवीन दृष्टि कोण प्रस्तुत करने की आवश्यकता।

राष्ट्र भाषा हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी

राष्ट्रभाषा पर दृष्टि डालने से पूर्व हमें राष्ट्र पर दृष्टि डालनी होगी। यह सच है कि समस्त भारत में एक बोली नहीं बोली जाती और इतने बड़े प्रदेश में यह सम्भव भी नहीं हो सकता। बंगाल, मद्रास, बम्बई इन तीन प्रांतों की अपनी-अपनी पृथक बोलियां हैं। उन बोलियों की भाषायें और उनके साहित्य हैं। इनके अतिरिक्त बिहार, संयुक्तप्रान्त, दिल्ली, राजपूताना, अजमेर और मध्यप्रदेश रह जाते हैं। इन सब प्रान्तों में भी अपनी-अपनी पृथक पृथक बोलियाँ बोली जाती हैं। परन्तु इन सब का उद्गम स्थान एक ही है और इन सब प्रदेशों के शहरों में करीब-करीब एक सी ही भाषा बोली जाती है। इनमें संयुक्त प्रांत और दिल्ली को छोड़ कर शेष सभी प्रांतों में संस्कृत-प्रधान खड़ी बोली बोली जाती है। इस लिये वहाँ पर तो राष्ट्रभाषा के प्रश्न का बखेड़ा ही नहीं खड़ा होता। बोल-चाल में जो कुछ भिन्नता पाई जाती है उसका कोई विशेष महत्व इस लिये नहीं है कि बोल-चाल और साहित्य की भाषा में सर्वदा कुछ न कुछ अन्तर रहता ही आया है

जो प्रश्न हिन्दी और उर्दू का चलता है वह केवल दिल्ली और संयुक्त प्रांत के विषय में ही सामने आता है। इन दो प्रांतों में सभ्य लोगों के बीच शहरों में अवश्य दो भाषाओं का प्रयोग चलता है और वह है उर्दू और हिन्दी। हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और उर्दू फ़ारसी लिपि में। इन दोनों ही भाषाओं के व्याकरण में बहुत कुछ साम्य मिलता है। शब्द-कोष की दृष्टि से जब हम देखते हैं तो खड़ी बोली भारतीय भाषा की परम्परा में आती है। उसमें फ़ारसी के शब्द ठूंस कर उसे जब उर्दू कोष के समीप ले जाया जाता है तो यह साधारण हिन्दू तो क्या मुसलमानों के भी लिये समझनी कठिन हो जाती है। उर्दू के छंद, भाव, उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि सब विदेशी हैं जिन्हें समझने में इस राष्ट्र के रहने वाले अस्सी प्रतिशत नागरिकों को कठिनाई होती है। उर्दू भाषा का प्रचार कायस्थ, काश्मीरी पंडित कचहरी के लोगों और उर्दू साहित्य के प्रेमियों में उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार अंग्रेज़ी शासन काल में अंगरेजी भारत की राष्ट्र भाषा बन गई थी। साहित्य का जहां तक सम्बन्ध है वहाँ उर्दू, फ़ारसी, जर्मनी बँगाला सभी के साहित्यों को भारत में अपनाया जा सकता है; किसी को कुछ कम और किसी को कुछ अधिक, परन्तु यह विचार राष्ट्र-भाषा के साथ नहीं चल सकता। उर्दू में राष्ट्रीयता का अभाव देख कर प्रेमचन्द जैसे प्रतिभाशाली लेखक उर्दू को छोड़ कर हिन्दी क्षेत्र में आ गये। उर्दू साहित्य पर भारतीय संस्कृति का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है और उसकी झलक उसमें आद्योपांत मिलती है, परन्तु फिर भी वह लिपि भेद होने के कारण भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती।

आज की राष्ट्रीयता क्या चाहती है? न तो वह संस्कृत-मिश्रित शब्दावली ही चाहती है और न फ़ारसी से बोझिल भाषा ही। वह तो सीधी, सरल भाषा चाहती है जिस में सभी प्रकार के भावों को सुगमता पूर्वक व्यक्त किया जा सके और जिस का क्षेत्र व्यापक हो।

व्यापक बन सके। साहित्यिकों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। वह स्वतंत्र हैं और इसी प्रकार उनकी भाषा भी स्वतंत्र है। अब समस्या जो सामने आती है वह दो प्रकार की है एक राष्ट्र का शिक्षा-विभाग किस भाषा को अपनाये और दूसरा राष्ट्र का राज-कार्य किस भाषा का प्रयोग करे ?

आज कितने दिन से भाषा, राष्ट्र और समाज के संघर्षों के बीच में होकर यह निर्णय हो चुका है कि हिन्दी ही राष्ट्र भाषा बन सकती है। ऊपर हम विचार कर चुके हैं कि राष्ट्र के अधिकांश भाग में हिन्दी खड़ी बोली का ही प्रचार है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि राष्ट्रभाषा के प्रचार में संकीर्ण विचारावलि को मस्तिष्क से निकाल कर हिन्दी को विस्तार प्रदान किया जाये। प्रत्येक प्रचलित शब्द को बिना संस्कृत कोष की खोज किये ज्यों का त्यों भाषा सौंदर्य को ध्यान में रखते हुए अपना लेना चाहिये। उर्दू, बंगला, इत्यादि की भांति भारत में पनपे और अपने साहित्य की उन्नति करे, परन्तु उसे राष्ट्र भाषा का स्थान नहीं दिया जा सकता। उर्दू में भारतीय संस्कृति, समाज और राजनीति तीनों की ही रक्षा नहीं हो सकती फिर भाषा का तो प्रश्न ही सामने नहीं आता।

अब एक नया पचड़ा जो हिन्दी की जान को लगा है वह हिन्दुस्तानी का। हिन्दुस्तानी कोई भाषा नहीं है। हिन्दुस्तानी के पास अपना कुछ भी नहीं है। न उनके पास अपना साहित्य है और न उसके पास अपनी लिपि ही है। एक ऐसी भाषा को राष्ट्र भाषा बनाना जिसके पास न अपना साहित्य ही है, और न कोई लिपि यह राष्ट्र को पतन की ओर लेजाना नहीं तो और क्या है ?

प्रयाग में हिन्दुस्तानी एकेडेमी की स्थापना इसलिये नहीं हुई थी कि यह हिन्दी और हिन्दुस्तानी का इतना बड़ा विवाद खड़ा करेगी। उसकी स्थापना हिन्दी और उर्दू साहित्य के उत्थान के लिये

पृथक्-पृथक् प्रयास करने के लिये हुई थी। परन्तु उस शक्ति का दुरुपयोग करके एक ऐसी हिन्दुस्तानी की धारा प्रवाहित की कि जिसने हिन्दी के ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारने का कार्य किया। भारत के कुछ नेताओं ने जिनपर पश्चिमी प्रभाव आवश्यकता से अधिक है, जिन्हें भारतीय संस्कृति के प्रति कोई मोह नहीं है, जिनके लिये हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी सब समान हैं, जिनके सामने हिन्दी लिपि से रोमन कहीं उत्तम है, हिन्दुस्तानी को प्रश्रय दिया। देश भर में एक आँदोलन चल पड़ा, पत्र-पत्रिकाओं के मुख-पृष्ठ इन्हीं विचारों से रंगे जाने लगे। इस आँदोलन ने काफ़ी ज़ोर पकड़ा परंतु अंत में विजय हिन्दी की ही हुई।

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन जी ने इस आँदोलन में महत्वपूर्ण कार्य किया और अपने संस्थापित हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा देश भर में हिन्दी की एक ऐसी लहर दौड़ाई कि जिसने भारतीय संस्कृति की रक्षा की और हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा के उच्च आसन पर लाकर बिठलाया। वास्तव में यदि सभी दृष्टिकोणों से इस विचार करें तो हिन्दी ही भारत की राष्ट्र-भाषा बनने के योग्य है।

संक्षिप्त विचार:—

१. हिन्दी और उर्दू का संघर्ष।

२. हिन्दी और हिन्दुस्तानी का संघर्ष।

३. हिन्दी की विजय और राष्ट्र-भाषा पद प्राप्त करना।

हिन्दी को मुसलमानों की देन

हिन्दू और मुसलमान पृथक्-पृथक् अवश्य प्रतीत होते हैं परन्तु उनके मानव में ऐक्य है। हिन्दी साहित्य हिन्दुओं का साहित्य है, भाषा, भाव और सँस्कृति के विचार से परन्तु फिर भी कुछ मुसलमान कवियों ने हिन्दी को वह रचनायें प्रदान की हैं जिन्होंने

हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बना लिया है। यह रचनायें उस काल की हैं, जब भारत में मुसलमान राज्य था और भारत की भक्ति-भावना ने भावुक मुसलमानों को भी अपनी धारा में प्रवाहित कर लिया था।

मुसलमानों का पहिला महत्वपूर्ण वर्ग प्रेमाश्रयी धारा के अंतर्गत आता है जिसने सूफ़ी सिद्धान्तों के अनुसार भारतीय चरित्रों में प्रेमामृत का प्रचार किया। जायसी की प्रसिद्ध रचना पद्मावत का नाम इस स्थान पर उल्लेखनीय है, जिसके विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने भी यह लिखा है कि प्रबन्ध काव्यों में रामचरित मानस के बाद पद्मावत का ही स्थान आता है। कुतबन "नूर" मुहम्मद, मंझन इत्यादि इस धारा के अन्य कवि हैं। सूफ़ी धर्म का प्रचार भारतीय जनता में करना चाहते थे। अवधी भाषा में इन कवियों ने अपनी रचनायें कीं। कविता के विषय के लिये इन कवियों ने हिन्दुओं की प्रचलित और अर्ध कल्पित कथाओं को अपनाया। यह अपनी भावुकता के साथ हिन्दू हृदयों तक पहुँचना चाहते थे। इसमें उन्हें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो सकी, हाँ हिन्दी को पद्मावत जैसा सुन्दर ग्रंथ अवश्य प्राप्त हो गया। इस धारा के कवियों में पांडित्य का अभाव था।

मुसलमानों के दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में हम 'रसखान' को पाते हैं। इस वर्ग पर कृष्ण-भक्ति का प्रभाव हुआ था और यह विशुद्ध कृष्ण-भक्ति की भावना को लेकर कविता क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। साहित्य सेवा उनका लक्ष्य नहीं था वह तो लालायित हुए थे श्याम की मनोहर मूर्ति पर। भक्ति-भावना से प्रेरित होकर वह मुक्त कंठ से गाते थे।

मानुष हौं तो वही रस खानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन॥

पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर कारन,
जो खग हौं तो बसेरा करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन ॥

इस वर्ग के कवि प्रेमी जीव थे जिनपर भक्ति और साहित्य का समान प्रभाव था और जिन पर भारतीयता अपना-असर भी कर चुकी थी।

तीसरे वर्ग के कवि हमें रीति-काल मे देखने को मिलते हैं। राम भक्ति की मर्यादा ने उनके उच्छृंखल स्वभाव को अपने अन्दर समावेश करने की आज्ञा नहीं दी। या यों भी कह सकते हैं कि वह उसमें समावेश करने का साहस ही न कर सके। इस धारा में रहीम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपने रहीम सतसई, बरवै, शृंगार सोरठ, मदनाष्टक इत्यादि ग्रंथों की रचना की। पठान सुलतान ने बिहारी सतसई पर कुंडलियाँ लिखीं। हिन्दी साहित्य में इस वर्ग के कवियों की संख्या सबसे अधिक है। इस धारा में जो सहित्य रचा गया वह प्रधानतया शृंगार-प्रधान है। मुसलमान भावुक तो होते ही हैं, इसलिए उन्हें इस प्रकार का साहित्य लिखने में काफ़ी सफलता मिली है।

चौथे वर्ग के मुसलमान लेखक सैलानी जीव हैं, जिन्होंने विनोद-पूर्ण साहित्य का सृजन किया है। इन्होंने हिन्दी साहित्य में एक नवीन धारा को प्रवाहित किया और एक प्रकार से साहित्य के गाम्भीर्य को तोड़ कर उसमें दिल बहलाने और मन को हलका करने की सामग्री प्रस्तुत की। खुसरु और इंशा अल्लाखां इसी वर्ग के प्रधान लेखक हैं। वर्तमान हिन्दी गद्य का प्राचीनतम रूप हमें इन्हीं दोनों की भाषा में मिलता है। खुसरु की कविता का एक निखरा रूप देखिये:—

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस,
चल खुसरू घर आपने रैन भई चहुँदेस।

मुबारक की मुकुरियाँ हिन्दी साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं। इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी गद्य का वह नमूना है जो हिन्दी भाषा साहित्य में जब तक भाषा-साहित्य का इतिहास रहेगा सर्वदा अमर रहेगा।

पाँचवाँ वर्ग उन मुसलमान कवियों का है जो वास्तव में उर्दू के लेखक हैं परन्तु उन्होंने हिन्दी में भी लेखनी उठाई है। वर्तमान गद्य लेखकों में तो थोड़ा सा लिपि-भेद कर देने से अनेकों लेखक इस श्रेणी में आ जायेंगे।

इन ऊपर दिये गये सभी लेखकों की रचनाओं में अपनी अपनी विशेषता है। यह कहना तो असत्य होगा कि इनकी रचनाओं पर मुसलमानी प्रभाव है ही नहीं परन्तु इतना तो निश्चय पूर्वक ही कहा जा सकता है कि इन सभी लेखकों ने भारतीयता के साँचे में अपने साहित्य को ढाला खूब है। अपने-अपने समय की प्रणालियों और विचार-धाराओं को लेकर उसमें अपनेपन की पुट इन लेखकों ने दी है। इनकी रचनायें हिन्दी साहित्य की अमर निधियाँ हैं और उनके साहित्य में आ जाने से साहित्य में एक ऐसा विस्तृत दृष्टिकोण उपस्थित हुआ है कि समन्वय की भावना के साथ रहस्यवाद के कई रूप सामने आ गये हैं। जायसी ने अपने दर्शन में जिस रहस्य-वाद की पुट दी है वह उसका अपना है और उसमें हिन्दू तथा मुसलमानी भावनाओं का इतना सुन्दर समन्वय मिलता है कि पाठक इनके ग्रंथ को पढ़कर मुक्तकंठ से इतनी प्रशंसा कर उठता है। रसखान ने बहुत कम लिखा है परन्तु जो कुछ भी लिखा है उसकी तुलना हम सूर और मीरा के ही पदों से कर सकते हैं। खुसरु की तुलना करने के लिये हमारे पास कोई अन्य लेखक हिन्दी में नहीं है और रहीम इनका स्थान भी अपना विशेष महत्व रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमानों ने जो हिन्दी सेवा की है वह बहुत महत्व पूर्ण है और

उसका हिन्दी साहित्य, भाषा और सौंदर्य के विचार से विशेष स्थान है। भारतीय और फ़ारसी शैलियों का उसमें हमें सुन्दर समन्वय मिलता है।

हिन्दी को मुसलमानों की देन पर संक्षिप्त विचार:—

१. मुसलमानों का महत्व-पूर्ण सहयोग।
२. प्रेमाश्रयी शाखा, कृष्ण-भक्ति शाखा, रीति-कालीन कविता और विनोद-पूर्ण साहित्य मुसलमानों की देन है।
३. वर्तमान हिन्दी गद्य का प्राचीनतम रूप मुसलमानों से प्राप्त होता है।
४. भारतीय और फ़ारसी भाषा-शैलियों का प्रचलन इन कवियों ने हिन्दी साहित्य में किया।
५. उपसंहार।

हिन्दी साहित्य पर विदेशी प्रभाव

हिन्दी साहित्य का आदि-काल विदेशी आक्रमणों का काल था। इस लिये हिन्दी साहित्य पर प्रारम्भ से ही विदेशी प्रभाव हमें स्पष्ट दिखाई देता है। इस निबन्ध में हम हिन्दी-काल-विभाजन के क्रम के अनुसार ही विचार करेंगे।

वीरगाथा-काल हिंदी साहित्य का प्रारम्भिक काल है और पृथ्वीराज रासो उस काल का प्रतिनिधि ग्रंथ। यह राष्ट्रीयता-प्रधान है और विशेष रूप से मुसलमानी सभ्यता का घोर प्रतिद्वंदी भी उसे हम कह सकते हैं परन्तु उसकी भी भाषा पर हमें विदेशी प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। चंदबरदाई लाहौर के रहने वाले थे और लाहौर पहिले से ही मुसलमानों के अधिकार में आ चुका था इस लिये वहां की भाषा का भी उनपर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। उसी प्रभावित भाषा के नमूने हम पृथ्वीराज रासो में यत्र तत्र देखते हैं। फिर भी छंद, विषय इत्या-

ष्टि पर इस काल में कोई विदेशी प्रभाव नहीं पड़ा और ना ही दर्शन पर क्योंकि दर्शन-साहित्य तो इस काल में लिखा ही नहीं गया।

हिन्दी साहित्य का दूसरा काल हमें अनेकों रूपों में विदेशी प्रभाव से आच्छादित दिखलाई देता है। यह सत्य है कि विदेशी प्रभाव राजनैतिक पराधीनता होने पर भी मूल तत्वों पर विजय नहीं प्राप्त कर सका, साहित्य की आत्मा को ठेस नहीं पहुँचा सका परन्तु रूप में, रंग में, आवरण में, सौंदर्य में, कल्पना में, वास्तविकता में, और अन्य भी अनेकों रूपों में उसने हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है और खूब सफलता के साथ किया। हिन्दी साहित्य के व्यापक दृष्टिकोण ने उन विदेशी प्रभावों को अपनाया, उनका सम्मान किया, उन्हें बल दिया और अमरता प्रदान की।

कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों को अपने निर्गुण पंथ पर चलाने के लिये भारतीय दर्शन और मुसलमानी एकेश्वरवाद का आश्रय लिया और दोनों का इतना सुन्दर सामंजस्य किया कि कबीर के रहस्यवाद का वह रूप खड़ा हो गया जिससे प्रभावित होकर रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने 'गीतांजलि' लिखी और नोबिल प्राइज (Noble prize) प्राप्त करके संसार में अमरता ली। जायसी ने भारतीय निर्गुण ब्रह्म में सूफ़ी प्रेम का सम्मिश्रण करके पद्मावत जैसा अमर काव्य हिन्दी साहित्य को भेंट किया। रसखान ने कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत रचनायें करके हिन्दू और मुसलमान हृदयों को भक्ति के क्षेत्र में मिला कर एक कर दिया। रहीम के दोहे जन जन की वाणी बने और खुसरु ने साहित्य के मौन गाम्भीर्य को एक चहल पहल दी। हिन्दी की पाचन शक्ति ने सब को पचा कर अपना बना लिया और सम्मिश्रण से साहित्य के ऐसे ऐसे सुन्दर गुलदस्ते सजाये जो किसी भी हिन्दी साहित्य प्रेमी की बैठक को अपने पराग और गंध से हर समय

परिपूर्ण रखते हैं। भक्ति और रीति काल दोनों पर समान रूप से इसमें विदेशी प्रभाव दिखलाई देता है।

अब हमारे सम्मुख आता है आधुनिक-काल। आधुनिक काल में मुसलमानी युग समाप्त हो गया और उसका प्रभाव पड़ने का प्रश्न भी उसके साथ-साथ हिन्दी साहित्य से विदा हुआ। यहाँ हम पाठकों के सम्मुख यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि इस विदेशी प्रभाव से प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य ने अपनी निधि को निरंतर बढ़ाया ही है कम नहीं होने दिया। आधुनिक काल के साथ साथ भारत की राजनीति ने करवट बदली और यहाँ पर अंग्रेजों का शासन-काल आया। अंग्रेजी शासन-काल में योरोप की सभ्यता भारत में आयी। लार्ड मेकाले और राजा राममोहन राय ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया। राज्य सम्बन्धी कार्यों में अंग्रेजी का प्रयोग हुआ। न्यायालयों की भाषा अंग्रेजी बनी और इस प्रकार एक तरह से 'अंग्रेज़ी' भारत के सभी क्षेत्रों में छाती चली गई। भारत में विद्यालय खुले, उनमें योरोपियन ढंग की शिक्षायें चलीं, और उन विद्यालयों में पढ़ाने के लिये पुस्तकों की आवश्यकता हुई। हिन्दी में यह सब पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं, उर्दू में नहीं थीं, फ़ारसी में नहीं थीं और ना ही उन के पढ़ाने वाले ही थे। इस लिये एक बार समस्त देश में अंग्रेज़ी का बोल-बाला हो गया। बंगाल और मद्रास की तो अंग्रेज़ी मानो मातृ भाषा ही बन गई।

जहाँ एक तरफ़ अंग्रेजी का प्रभाव इस प्रकार बढ़ रहा था वहाँ दूसरी ओर हिन्दी के प्रेमी भी शांत नहीं बैठे थे। वह भी बराबर प्रयत्न-शील थे। राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद विद्यालयों में हिन्दी को लाने का प्रयत्न कर रहे थे और महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने हिन्दी को अदालतों की भाषा बनाने का आन्दोलन किया। इन के साथ ही साथ हिन्दी के लेखक भी मौन नहीं थे। वह अपनी इसी

पुरानी रफ़्तार पर चलना छोड़ कर अपनी पैनी लेखनी से कविता, कहानी, उपन्यास, समालोचना, निबन्ध, इतिहास, भाषा विज्ञान, भूगोल, गणित और इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में उतर पड़े। देखते ही देखते कुछ ही दिनों में उन्होंने रात-दिन परिश्रम करके हिन्दी साहित्य के भंडार को भर दिया। परन्तु यह सब हुआ किस प्रकार? इन सब धाराओं में साहित्य की प्रगति किसके प्रभाव से हुई? क्या यह सब सामग्री उन्हें संस्कृत साहित्य से मिली? क्या फ़ारसी ने इस प्रगति में कोई सहायता दी? हम कहेंगे नहीं! यह सब अंग्रेजी साहित्य की देन है। हिन्दी के अनुभवी विद्वानों ने अंग्रेजी साहित्य पढ़ा, अनेकों पुस्तकों के अनुवाद किये और अनेकों से विचार धारा लेकर, शैलियाँ लेकर, विषय लेकर हिन्दी साहित्य की अपूर्णता को पूर्ण किया। निबन्ध संस्कृत साहित्य में नहीं थे, उपन्यास संस्कृत साहित्य में नहीं थे और आज तो अनेकों ऐसे नये विषय हिन्दी में आ रहे हैं जिन्हें संस्कृत साहित्य जानता भी नहीं था। बिजली-विज्ञान, लोको मोटिव, रेडियो विज्ञान, सिनेमा-विज्ञान यह सभी नये विषय हैं। इन सबका हिन्दी में समावेश हमें अंग्रेजी से ही आया हुआ मिलता है। अंग्रेजी कविता का हिन्दी कविता पर प्रभाव पड़ा। छायावाद और प्रगतिवाद उसके उदाहरण हैं। प्रगतिवाद पर रूस के साहित्य का प्रभाव दिखलाई देता है। हिन्दी नाटकों पर बंगला का प्रभाव पड़ा और उपन्यासों पर अंग्रेजी का।

कुछ भी सही, प्रभाव सभी का है परन्तु हिन्दी ने उस प्रभाव में बह कर अपनी आत्मा का हनन नहीं किया। हिन्दी ने सर्वदा विषय अपने ही रखे हैं और रूप-रंग चाहे जैसा भी हो। अपने साहित्य में विदेशी वातावरण उपस्थित करने का जिस लेखक ने भी प्रयत्न किया है वह सफल नहीं हुआ और ना ही हो सकता है। हिन्दी के लेखकों ने बहुत कुशलता-पूर्वक विदेशी विचारावलियों को भी अपने

ही पैमाने में ढाला है और उसे वह मादक रूप दिया है कि एक हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य निधि बनकर रह गया है। इस प्रकार हिन्दी विदेशी प्रभाव का आभारी है क्योंकि उसने हिन्दी को विस्तार के लिए सामग्री दी है और विदेशी प्रभाव को हिन्दी का आभारी होना चाहिए क्योंकि हिन्दी ने उसे व्यापकता दी, अमरत्व दिया।

विदेशी-प्रभाव पर संक्षिप्त विचार—

१. वीरगाथा-काल में केवल शाब्दिक प्रभाव है।
२. भक्ति-काल में भाषा, छंद, शैली, विषय और दर्शन का भी प्रभाव हुआ। यह सब मुसलमानी था।
३. रीति-काल के अंत तक मुसलमानी प्रभाव चलता रहा।
४. आधुनिक-काल पर अंग्रेजी का प्रभाव बहुत व्यापक है। हिन्दी के सभी क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा। विचार, वाद, समाज और राजनीति विशेष रूप से प्रभावित हुए।

हिन्दी का पुराना और नया साहित्य

मानव-जीवन की समस्याओं के साथ ही साथ साहित्य चलता है। जीवन में जिस काल के अंतर्गत जो-जो भावनायें रही हैं उन-उन कालों में उन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत साहित्य का भी सृजन हुआ है। प्रारम्भ में मानव की कम आवश्यकतायें थीं, कम समस्यायें थीं। इसी लिये साहित्यिक विस्तार का क्षेत्र भी सूक्ष्म था। वीरगाथा-काल में वीर गाथायें लिखी गईं, भक्ति-काल में साहित्य का क्षेत्र कुछ और व्यापक हुआ, विकसित हुआ, भक्ति के भेद हुए और अनेकों धारायें प्रवाहित हुईं। निर्गुण भक्ति, प्रेमाश्रयी-शाखा, कृष्ण-भक्ति, राम-भक्ति और अन्त में सब मिलकर श्रृंगार की तरफ चल दिये। एक युग का युग श्रृंगारिक कविता करते और नायक-नायिकाओं के भेद गिनते हुए व्यतीत हो गया, न समाज ने कोई उन्नति की और

न राष्ट्र ने। फिर भला साहित्य में प्रगति कहाँ से आती? साहित्य अपने उसी सीमित क्षेत्र में उछल-कूद करता हुआ अवास्तविक चमत्कार की ओर प्रवाहित होता चला गया। भक्ति-कालीन रसात्मकता रीति-काल में नष्ट हो गई और वह प्रणाली आज के साहित्य में भी ज्यों की त्यों लक्षित है।

आज के नवीन युग में साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक होता जा रहा है। केवल शृंगार अथवा भक्ति के क्षेत्र तक ही साहित्य सीमित नहीं है। वह मानव-जीवन की सभी खोजों के साथ अपना विस्तार बढ़ाता चला जारहा है। यदि साहित्य का अर्थ हम सीमित क्षेत्र में ललित-कलाओं तक भी रखें तब भी ललित कलाओं में गद्य का विकास हो जाने के कारण कहानी, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, जीवनियाँ, गद्य गान इत्यादि साहित्य प्रस्फुटित हो चुके हैं नाटक-साहित्य भी अपनी विशेषताओं के साथ अग्रसर है। नाटक कम्पनियों और सिनेमा कम्प-नियों ने इस साहित्य को विशेष प्रश्रय दिया है। साहित्य का रूप बदल गया और साहित्य का दृष्टिकोण भी। जब-जब राष्ट्र को जैसी-जैसी आवश्यकता रही है तब-तब उसी प्रकार का साहित्य लिखा गया है। साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है।

आज के साहित्य ने प्रेम, विरह और शृंगार को भुलाया नहीं परन्तु उनका दृष्टिकोण बदल दिया है। रीति-शास्त्रों पर आधारित स्थूल-चित्रणों के स्थान पर भाषा और शैली के आधुनिक प्रयोग किये जारहे हैं। नख-शिख वर्णन और प्राचीन केलि-विलास इत्यादि को आज के कवियों ने अपने साहित्य में स्थान नहीं दिया। आज का कवि करता है, प्रेमी और प्रेमिका के भावना जगत में होने वाले मनोभावों का वैज्ञानिक-चित्रण। वह अभिसार, विपरीत रति, सुरतारम्भ, दूती इत्यादि का समावेश अपने साहित्य में न करके तन्म-यता और आत्म-बलिदान का चित्रण करता है।

वीर-काव्य आज का कवि भी लिखता है, परन्तु उसमें केवल शब्दों की झंकार मात्र न होकर कष्ट-सहन, और आत्मोत्सर्ग की भावना रहती है। युद्ध क्षेत्र में जाकर तलवार चलाने वाले नायक का चित्रण आज के कवि को नहीं करना होता। उसे तो राष्ट्रीय-स्वरूप का निरूपण करना होता है। आज की राष्ट्रीय-भावना और प्राचीन राष्ट्रीय-भावना में भी अन्तर आ चुका है। प्राचीन काल में धर्म पर राष्ट्र आधारित था और इसी लिये धार्मिक भावना ही राष्ट्रीय-भावना थी। वही भावना हमें "चन्द" और "भूषण" में मिलती है। परन्तु आज के साहित्य में धर्म गौण है और राष्ट्र प्रधान। इसलिये वीर-काव्य का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का क्षेत्र पृथक् है और राष्ट्र का क्षेत्र पृथक्।

"आज के नये साहित्य में देश के प्रति भक्ति और प्रेम, राष्ट्रीय और जातीय वीरों के गुण-गान, अपनी पतित दशा पर शोक, नारी-स्वतंत्रता के गीत, व्यक्ति की आशा और निराशा, प्रकृति के प्रति आकर्षण और प्रेम, रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति, प्रति दिन के दैनिक जीवन का विश्लेषण, राष्ट्रीय और जातीय समस्यायें प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं।" (डा० रामरतन भटनागर)

आधुनिक-काल का रहस्यवाद भी हमें 'छायावाद' के रूप में मिलता है परन्तु उस पर अंगरेज़ी रोमाँटिक (Mystic Literature) साहित्य और बंगला-साहित्य का प्रभाव है। रहस्य छायावाद में है परन्तु धार्मिक भावना के साथ नहीं। धर्म का आज के युग में अभाव है, दर्शन का नहीं। दर्शन का सम्बन्ध केवल दृश्य जगत तक ही सीमित रह जाता है, आध्यात्मिक क्षेत्र तक उसे ले जाना आज के लेखक उचित नहीं समझते। कविवर 'निराला' में दार्शनिक-चिंतन और मैथिली-शरण गुप्त में 'धार्मिक-भावना' का समावेश मिलता है परन्तु उसमें भी कबीर और तुलसीदास जी जैसी भावनाओं का सम्पूर्ण-एकीकरण नहीं

मिलता। सांसारिकता (Matterialisticism) का समावेश उनके साहित्य में पग-पग पर मिलता है।

नवीन युग में मानव-जीवन पर जितना साहित्य लिखा गया है उतना धर्म और दर्शन पर नहीं। मानव का विश्लेषण आज के लेखक के लिए अधिक महत्वपूर्ण बन गया है, इसलिए उसने जीवन के विविध पहलुओं पर जी खोलकर विचार किया है। उपन्यास, कहानी और जीवनियों में तो प्रधान विषय ही मानव-जीवन है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों में समाज का सुन्दर चित्रण किया है। प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के काव्य तो हैं ही नहीं।

आज के युग ने बुद्धि को प्रधानता दी है। नवीन साहित्य बुद्धि का आश्रय लेकर चलता है और प्राचीन साहित्य भावना का। भावना-प्रधान साहित्य में रस प्रधान होता है और बुद्धि-प्रधान साहित्य में वास्तविकता, जड़ता और चमत्कार। आज का साहित्य धार्मिक क्षेत्र में गौण है परन्तु मानवता के वह अमर सिद्धान्त उसमें वर्तमान हैं जिनका दर्शन भी हमें प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता।

संक्षिप्त विचार:—

१. भूमिका-पुराना और नया साहित्य क्या है ?
२. प्राचीन साहित्य में वीरता, भक्ति और शृंगार है।
३. नवीन साहित्य में जीवन की प्रगतियाँ, देश-भक्ति, राष्ट्रीयता और प्रेम के नवीन दृष्टिकोण है।
४. रहस्यात्मकता का नवीन दृष्टिकोण।
५. नवीन साहित्य में जीवन की अनेक-रूपता के दर्शन मिलते हैं।
६. नवीन साहित्य में जीवन का अमर संदेश है।

कुछ साहित्यिक निबन्धों की रूप-रेखायें

हिन्दी में नाटक और रंग-मंच

१. हिन्दी में रंग-मंच के योग्य नाटक नहीं लिखे गये, इसीलिये रंग-मंच का भी पर्याप्त उत्थान नहीं हो सका।
२. हिन्दी नाटक का इतिहास और हिंदी नाटकों की विशेषतायें।
३. हिन्दी रंग-मंच का इतिहास।
४. रंग-मंच न होने के कारण अनुवादों द्वारा ही हिन्दी में नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ।
५. हिन्दी नाटकों के लिए स्वतंत्र रंग-मंच की आवश्यकता है।
६. हिन्दी रंग-मंच किस प्रकार का होना चाहिए और उसकी विशेष आवश्यकतायें क्या हैं ?
७. वर्तमान नाटककारों का नाटक और रंग-मंच दोनों की ओर ध्यान है अथवा नहीं।
८. उपसंहार।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का क्रमिक विकास

१. भारतेन्दु काल — 'कवि वचन सुधा' हरिश्चन्द्रजी ने और 'बनारस अखबार' शिव प्रसाद जी ने प्रकाशित किया।
२. संवत् १९२८ में 'अलमोड़ा अखबार' १९२९ में 'दीप्ति प्रकाश' और 'बिहारबंधु', १९३१ में 'सदादर्श', १९३३ में 'भारतबंधु' और 'काशी पत्रिका', १९३४ में 'हिन्दी प्रदीप', १९४० 'धर्म दिवाकर', 'शुभचिंतक', 'मार्तण्ड' और 'हिन्दुस्तान' तथा १९५१ में 'दिवाकर', 'भारतेन्दु' इत्यादि प्रकाशित हुए।
३. 'बिहारबंधु', 'भारत मित्र', 'उचित वक्ता', 'आर्यदर्पण', 'ब्राह्मण' 'हिन्दी प्रदीप' और 'हिन्दुस्तान' ने हिन्दी की उस काल में बहुत सेवा की।

४. फिर प्रयाग से महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका प्रकाशित की, जिसका वर्तमान हिन्दी खड़ी-बोली के परिमार्जन में विशेष हाथ रहा है।

५. इसके पश्चात् 'विशाल भारत' कलकत्ता, 'सुधा' लखनऊ, 'कल्याण' गोरखपुर, 'माधुरी' लखनऊ' 'चाँद' प्रयाग, 'हंस' बनारस, 'विश्वमित्र' कलकत्ता, 'शाँति' लाहौर इत्यादि पत्रिकायें प्रकाशित हुईं और इन्होंने हिन्दी भाषा के उत्थान में बहुत सहयोग दिया।

६. साप्ताहिक पत्रों में 'प्रताप' कानपुर, 'मिलाप' लाहौर, 'विश्वबन्धु' लाहौर, 'विश्वमित्र' कलकत्ता, 'अर्जुन' दिल्ली, 'आर्यमित्र' आगरा, 'दिवाकर' आगरा, 'स्वतंत्र' झाँसी 'नव-युग' दिल्ली इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं।

७. आज के युग में अनेकों पत्र-पत्रिकाओं के पुष्पों से हिन्दी साहित्य की वाटिका खिली हुई है। गूढ़-साहित्य, राजनीति, इतिहास, कथा-कहानी, सिनेमा तथा जासूसी पत्र-पत्रिकायें अनेकों की संख्या में निकल रही हैं। सरकारी पत्र पत्रिकायें भी हैं और उनमें अच्छा साहित्य प्रकाशित हो रहा है।

८. हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

भारत-राष्ट्र की राष्ट्र-भाषा

१. भारत की राष्ट्र-भाषा बनने वाली भाषा सब से अधिक बोली तथा समझी जाने वाली भाषा होनी चाहिए।

२. वह प्राचीन राष्ट्रभाषा की उत्तराधिकारिणी होनी चाहिए और अन्य प्रांतों की भाषा के भी निकट की ही होनी चाहिये।

३. उस भाषा में प्राचीन साहित्य की सुसंस्कृत परम्परा होनी चाहिये। उसका अपना साहित्य भी उन्नत और विशाल होना चाहिए।

४. वह भाषा देश की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली होनी चाहिए।

५. उस भाषा के पास सुन्दर और सुव्यवस्थित शब्दकोष होना चाहिये ।

६. उस भाषा की लिपि सब प्रकार से पूर्ण और भाव व्यक्त करने में समृद्ध होनी चाहिये ।

७. हिन्दी में यह ऊपर दिये गये सभी गुण वर्तमान हैं और भारत की सब प्रांतीय भाषाओं में केवल यही एक भाषा ऐसी है जिसमें यह सब गुण वर्तमान हैं ।

देवनागरी लिपि की महानता

१. भारत की प्राचीन प्रचलित 'खरोष्ठी' और 'ब्राह्मी' लिपियों में से यह 'ब्राह्मी' लिपि से निकली है। ब्रह्मीलिपि अधिक वैज्ञानिक थी और क्लिष्ट भी कम थी। संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त प्राकृत, मराठी, नैपाली और गढ़वाली का भी उद्गम ही है।

२. देवनागरी की वर्णमाला का उच्चारण और क्रम संसार की अन्य सब वर्ण मालाओं में श्रेष्ठ समझा जाता है । देवनागरी के वर्णों का उच्चारण पृथक् और शब्द के अन्दर एक सा ही होता है। रोमन और फ़ारसी इत्यादि लिपि के वर्णों में यह विशेषता नहीं पाई जाती ।

३. देवनागरी में पहिले स्वर और बाद में व्यंजन आते हैं । स्वरों और व्यंजनों का यह क्रम बहुत सुन्दर है। कंठ, तालु, मूर्धा, दंत और फिर ओष्ठ से बोले जाने वाले व्यंजन आते हैं। इतना सुन्दर वैज्ञानिक क्रम संसार की किसी अन्य लिपि में नहीं मिलता।

४. इस प्रकार उच्चारण और क्रम के विचार से यह संसार की सर्वश्रेष्ठ भाषा है ।

५. देवनागरी लिपि संस्कृत से ली गई है। इस लिपि में संस्कृत की सभी ध्वनियों का समावेश सुगमता पूर्वक हो जाता है। आज कल फ़ारसी और अंग्रेज़ी के सम्पर्क में आ जाने

से कुछ नई ध्वनियां हिन्दी में आ गई हैं। हिन्दी लिपि ने उन्हें अपनाने मे बहुत स्वतंत्रता से काम लिया है और कुछ नवीन संकेत बनाकर उन्हें अपने में पचा लिया है। जैसे ज ज़, क क़, फ फ़ इत्यादि।

६. उपसंहार।

हिन्दी में जीवनी-साहित्य का विकास

नोट—हिन्दी में लिखी गई जीवनियों को निम्नलिखित श्रेणियों में बांटकर इस विषय पर सुन्दर निबन्ध लिखा जा सकता है—

१. आत्म कथायें (महात्मा गांधी इत्यादि की आत्म कथायें)

२. राजनैतिक जीवनियां (पं० जवाहर लाल, नेताजी सुभाष, महात्मा गांधी इत्यादि की अनेकों जीवनियां लेखकों ने लिखी हैं।)

३. ऐतिहासिक जीवनियां (महाराणा प्रताप, रानी झांसी, शिवाजी इत्यादि की जीवनियां।)

४. धार्मिक जीवनियां (स्वामी दयानन्द इत्यादि की जीवनियां)

५. राम, कृष्ण इत्यादि की जीवन कथायें।

६. साहित्य के प्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवनियां (सूरदास, तुलसीदास, बिहारी, हरिश्चन्द, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द इत्यादि की जीवनियां)

७. फुटकर जीवनियां।

८. हिन्दी साहित्य में अभी तक कुछ विशेष व्यक्तियों की ही जीवनियां लिखी गई हैं। जीवनियां कहानी अथवा उपन्यासों के रूप में काव्य की अंग बनकर नहीं आईं। जब तक जीवनियां स्वतंत्र रूप से काव्य का रूप नहीं बन कर आयेंगी उस समय तक ललित-कला क्षेत्र में इस साहित्य को ऊंचा स्थान नहीं मिल सकता।

हिन्दी में भ्रमर-गीत साहित्य का प्रसार

१. 'भ्रमरगीत' की कथा, भ्रमर गीत से कवि का अभिप्राय और इसका उद्गम स्थान (श्रीमद्भागवत)
२. सर्व प्रथम सूर ने 'भ्रमर गीत' की कल्पना को हिन्दी साहित्य में स्थान दिया।
३. सूरदास और नन्ददास का 'भ्रमरगीत' लेखकों में विशेष स्थान है।
४. सूर की विशेषतायें, नंददास की विशेषतायें।
५. 'भ्रमर-गीत' पर रीति-कालीन कवियों द्वारा रचनायें।
६. *आधुनिक काल में सत्यनारायण, रत्नाकर, 'हरिऔध' तथा मैथिली-*शरण गुप्त द्वारा की गई रचनायें।
७. उपसंहार

मीरा की काव्य-साधना

१. मीरा के जीवन, भक्ति-साधना, निर्भीक-विचार, और तन्मयता पर संक्षिप्त विचार।
२. मीरा का साहित्य, उसमें कृष्ण-भक्ति और गृहस्थ जीवन के प्रति उदासीनता।
३. मीरा की कविता में भक्ति, प्रेम और दर्शन का सुन्दर सम्मिश्रण है और फिर उससे रहस्य-वाद के एक नवीन दृष्टिकोण का उदय।
४. मीरा की कविता में संत शब्दावली का प्रयोग और भक्ति की अबाध धारा का प्रवाह।
५. मीरा की काव्यात्मकता, संगीतात्मकता, माधुर्य और नृत्यप्रधान तत्वों की उसमें विशेषता ?
६. मीरा की कविता में पांडित्य नहीं स्वाभाविक राग और रस का सामंजस्य है, माधुर्य है और कमनीयता है।
७. उपसंहार।

हिन्दी में गीत-काव्य की परम्परा

१. संस्कृत में गीत काव्य-धारा। (गीत-गोविंद का व्यापक प्रभाव)

२. विद्यापति पर गीत गोविंद का प्रभाव और उनकी गीत-काव्य-धारा।

३. सूर और तुलसी की गीतकाव्य-धारा जिसमें भक्ति का प्रचार हुआ। राम साहित्य की अपेक्षा सूर साहित्य में गीतों का प्रचार अधिक हुआ। मीरा और सूर के गीत आज भी गायकों की अमर सम्पत्ति बने हुए हैं।

४. वर्तमान युग में गीतों की एक नई प्रणाली चली है जिसका श्रेय विशेष रूप से जयशंकर 'प्रसाद' और महादेवी वर्मा को पहुँचता है परन्तु गीत लिखने में नरेन्द्र शर्म्मा, बच्चन, पन्त और मैथिली-शरण गुप्त ने भी कुछ कम हिंदी साहित्य को नहीं दिया है। आधुनिक गीत-प्रणाली पर अंग्रेज़ी साहित्य का विशेष प्रभाव दिखाई देता है। (Mystic) रोमांटिक युग के शैले और कीट्स इत्यादि का इन पर अधिक प्रभाव है। इन कवियों के गीतों को गाने में गायकों को उस सुगमता का अनुभव नहीं होता, जिसका अनुभव सूर और मीरा के गीतों को गाकर होता है, फिर भी आज के युग में वह बहुत प्रचलित हो चले हैं और सिनेमा क्षेत्र में इनका प्रयोग विशेषता के साथ हो रहा है। सिनेमा क्षेत्र में 'प्रदीप' 'नरेन्द्र शर्म्मा', 'दीपक', हरीकृष्ण 'प्रेमी' इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

गीतात्मक काव्य लिखने के लिये कुछ विशेष गुण—

(क) संगीतात्मक और कोमल पदावली का प्रयोग।

(ख) आत्म-निवेदन इत्यादि की विशेष भावना का समावेश।

(ग) भावों का संक्षिप्त संतुलन।

(घ) जीवन की रागात्मक वृत्तियों को छूने वाले भावों से ओतः प्रोत होना।

५. उपसंहार।

हिंदी साहित्य की विशेषतायें

१. हिंदी साहित्य में भारत की प्रायः सभी प्रचलित धार्मिक धाराओं का प्रतिपादन और आध्यात्मिक साधनाओं का स्पष्टीकरण मिलता है।

२. हिन्दी साहित्य में हिंदू जातीयता और भारत-राष्ट्रीयता प्रधान भावनायें मिलती हैं।

३. हिंदी साहित्य का उदय स्वतंत्रता में, मध्यकाल परतंत्रता में और वर्तमान परतन्त्रता से जन्म लेकर स्वतन्त्रता के युग में प्रस्फुटित हो रहा है।

४. हिंदी साहित्य में भारतीय जनता के हृदय का स्पष्टीकरण रहा है। जब २ जैसी २ भी परिस्थितियाँ रही हैं उनका स्पष्ट चित्रण हमें हिन्दी साहित्य में मिलता है।

५. हिंदी साहित्य हिंदू-संस्कृति की देन है। इसके बहिरंग पर फारसी और अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव पड़ा है, उसकी आत्मा पर नहीं।

६. हिन्दी साहित्य भारत, भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन, भारतीय समाज, जातियाँ और भारतीय प्रकृति का प्रतिबिम्ब है, प्रतीक है या यह भी कह सकते हैं कि इसमें इन सभी का सामंजस्य है, विचार हैं।

७. उपसंहार।

गोदान पर एक दृष्टि

१. गोदान मुं० प्रेमचन्द जी का अन्तिम उपन्यास है और इसी लिये उनकी सुन्दरतम कलाकृति भी इसे हम कह सकते हैं।

२. उनकी शैली, उनकी भाषा, उनके विचार और उनकी मनोवैज्ञानिकता का पूरा ज्ञान हमें इस उपन्यास द्वारा प्राप्त होता है।

४. इस उपन्यास में शहरी और ग्रामीण दोनों ही पात्रों को रख कर दोनों चरित्रों पर उपन्यासकार ने प्रकाश डाला है।

५. गोदान की समस्यायें उस समय के समाज की समस्यायें हैं और उनका स्पष्टीकरण जैसा सुन्दर गोदान में हुआ है वैसा संभवतः उस काल के किसी समाज सुधारक की समाज सेवा सम्बन्धी पुस्तक में भी नहीं हुआ।

६. गोदान में प्रेमचन्द ने मनोवैज्ञानिक-चित्रण खूब दिये हैं और अनेकों पात्रों को जन्म दिया है। 'गोबर' का चित्रण बहुत सुन्दर और स्वाभाविक हुआ है। प्रधानता इस में ग्राम को ही दी गई है शहर को नहीं।

७. उपसंहार।

केशव का पाण्डित्य

१. केशव को हिन्दी में कठिन 'काव्य का प्रेत' कहा जाता है। इनके विषय में अनेकों किंवदन्तियां भी प्रसिद्ध हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि रीति-काल में जब राजा लोग किसी कवि को बिदाई नहीं देना चाहते थे तो उस से केशव की कविता का अर्थ पूछ लेते थे। अर्थात् केशव को कविता इतनी क्लिष्ट है कि उसका अर्थ लगाना पंडितों के लिये भी कठिन था।

२. केशव चमत्कारवादी कवि थे। हिन्दी में सर्व प्रथम रीति-ग्रन्थ आपने ही लिखे हैं परन्तु रीति-काल का प्रवर्तक होने का सौभाग्य आपको इसलिये प्राप्त नहीं हो सका कि आपने अपने रीति-ग्रंथ में जिस चमत्कारवादी परंपरा को अपनाया है वह हिंदी के आने वाले अन्य रीति-ग्रंथ लेखकों को मान्य नहीं हुआ।

३. केशव की रामचंद्रिका हिन्दी साहित्य की वह निधि है जिसे कहते हैं कि उन्होंने एक ही दिन में लिखकर समाप्त किया था। इस

ग्रंथ में रामायण की कथा का गान है परन्तु भक्ति-भावना को लेकर नहीं, कोरी साहित्यात्मकता को लेकर। प्रबन्धात्मकता का इस में अभाव है और ऐसा प्रतीत होता है कि समय समय पर लिखे गये पदों को इस ग्रंथ मे उन्होंने संग्रहीत कर दिया है।

४. केशव ने अपने काव्य में श्लेष अलंकारों की ऐसी भरमार रखी है कि एक एक शब्द से अनेकों अर्थ निकलते है। कहीं-कहीं पर तो यह अर्थ इतने व्यर्थ के भी हो जाते हैं कि ग्रंथ के भाव से इनका दूसरा अर्थ मेल ही नहीं खाता। वहाँ पर पंडित इन अर्थों को समझकर चमत्कार के रूप में आनंद लाभ कर सकते हैं परन्तु भावुक हृदय के लिये तो उसमें आनंद के लिये कोई स्थान नहीं।

५. केशव के पाँडित्य को हिन्दी के प्रायः सभी विद्वानों ने माना है। यह सत्य है कि उनका दृष्टिकोण हिन्दी में प्रचलित नहीं हो पाया परन्तु वह एक प्राचीन दृष्टिकोण लेकर हिन्दी में आये और उसमें उनके अपनेपन की स्पष्ट झलक वर्तमान है।

६. उपसंहार।

जयशंकर प्रसाद की सर्वाङ्गीणता

१. काव्य-कला के सब क्षेत्रों में बा० जयशंकर प्रसाद जी का समान अधिकार था। आपने हिन्दी साहित्य के सब अंग-प्रत्यंगों की वृद्धि की और सभी क्षेत्रों में पूर्ण कुशलता पूर्वक मार्ग-प्रदर्शन भी किया।

२. आपके काल में काव्य-कला के प्रधान अंग नाटक, कविता-काव्य, उपन्यास, कहानी और निबन्ध समझे जाते थे। इन सभी प्रकार का साहित्य बा० जयशंकर प्रसादजी ने सृजन किया है।

३. जीवन के सभी अंगों पर जयशंकर प्रसाद जी ने प्रकाश डाला है। आपने अपने काव्यों में विशेष रूप से बौद्ध-कालीन संस्कृति पर ही लिखा है परन्तु अन्य कालों को भी सर्वथा भुलाया नहीं

है। आपके उपन्यासों में आधुनिक-काल का भी चित्रण व्यापक रूप में मिलता है।

४. जयशंकर प्रसाद जी के काव्य में कवि होने के नाते कल्पना प्रधान रहती है और ऐतिहासिक नाटकों में भी कल्पना पर विशेष बल दिया गया है।

५ कविता-क्षेत्र में आपने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ही काव्य सफलता पूर्वक लिखे हैं। 'कामायनी' इस युग की एक विचित्र देन है और उस जैसा दूसरा काव्य अभी तक हिन्दी साहित्य में नहीं लिखा गया।

६. आपके नाटकों से आपके ऐतिहासिक ज्ञान का पता चलता है। साथ ही आप हिन्दी के प्रथम महान नाटककार हैं जिनकी समता के लिये आज भी हमारे पास कोई लेखक नहीं है। यह सच है कि आपके नाटक रंगमंच के योग्य नहीं हैं परन्तु फिर भी उनका साहित्यिक महत्व किसी प्रकार कम नहीं होता।

७. समय की प्रचलित खड़ी बोली को जयशंकर प्रसाद जी ने एक नया रूप दिया, हिन्दी को एक नई शैली दी और काव्य को एक नवीन दृष्टिकोण दिया।

८. उपसंहार।

इस प्रकार हमने देखा कि 'प्रसाद' जी जहां तक सर्वांगीणता का सम्बन्ध है, गोस्वामी तुलसीदास से भी आगे बढ़ जाते हैं। क्योंकि गोस्वामी तुलसीदास का जहाँ अपने समय की सब शैलियों पर समान अधिकार था वहां बा० जयशंकर प्रसाद जी ने अपनी नवीन शैली का निर्माण किया है और साथ-साथ काव्य के उन सब अंगों को पुष्ट किया है जिनका नाम-निशान तक भी तुलसीदास जी के समय में वर्तमान नहीं था।

हिन्दी साहित्य में महावीर प्रसाद द्विवेदी का स्थान

१. हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल को भाषा-साहित्य के पंडितों ने तीन कालों में विभाजित किया है। भारतेन्दु-काल, द्विवेदी-काल और वर्तमान-काल। इस प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी जी एक काल के सम्पूर्ण रूप से कर्णधार हैं।

२. जिस काल में आपने हिन्दी-साहित्य की सेवा की है उस समय साहित्य तो क्या भाषा में भी सुधार की नितांत आवश्यकता थी। आपने:—

 १. भाषा को शुद्ध किया।
 २. भाषा की व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियों को दूर किया।
 ३. भाषा में विराम, कौमा इत्यादि चिन्हों को अंग्रेज़ी से ले कर रखा।
 ४. लिपि के दोषों और संकीर्णता को दूर किया।
 ५. भाषा के शब्दों का तरोड़ना-मरोड़ना बन्द किया।
 ६. भाषा में तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग किया।
 ७. सरस्वती पत्रिका में लेख लिखे और लिखवाये।

३. हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम उच्च कोटि के साहित्यिक लेख आपने लिखे और अंग्रेज़ी से अनुवाद किये।

४. हिन्दी भाषा के प्रचार में आपने वह कार्य किया जो ईसाई धर्म के प्रचार में ईसा ने, इस्लाम धर्म के प्रचार में मुहम्मद साहेब ने और बौद्ध धर्म के प्रचार में बुद्ध भगवान ने किया था। अदालतों में हिन्दी प्रयोग करने का आपने आन्दोलन किया और इसी प्रकार के अन्य आन्दोलन भी किये।

५. आपने हिन्दी साहित्य की ओर अधिक पढ़े-लिखे विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया, उनसे लेख लिखवाये और स्वयं भी लिखे

स्कूलों में भी हिन्दी का प्रचार करने में आपने अपना सर्वस्व लगा दिया।

६. इस प्रकार आपने हिन्दी को बल दिया, विद्वान लेखक दिये, भाषा दी और वह भी विशुद्ध भाषा, शब्दकोष दिया, विराम इत्यादि भाषा के संतुलन के लिये चिन्ह दिये और सरस्वती पत्रिका दी। इन सभी कारणों से द्विवेदी जी का स्थान हिन्दी साहित्य में बहुत ऊँचा है।

हिन्दी-साहित्य की सेवा में स्त्रियों का स्थान

१. खेद का विषय है कि नारी जो कि पुरुष की अपेक्षा अधिक भावुक होती है, उसका हिन्दी-साहित्य में स्थान खोजते समय हमें आँखें पसार कर देखना होता है। वीरगाथा-काल में कवियित्री का नाम भी नहीं मिलता।

२. भक्ति-काल में एक चमकती हुई तारिका हमारे सम्मुख आती है मीरा। मीरा का साहित्य हिन्दी-साहित्य की वह निधि है कि जिसकी समानता अन्य किसी के साहित्य से नहीं की जासकती। मीरा के कुछ पद तो भारत के गायकों के कंठ-हार बन गये हैं।

३. आधुनिक काल में आकर हमें हिन्दी साहित्य में स्त्रियों का अभाव दिखाई नहीं देता। इसका एक कारण तो सब से बड़ा यह है कि मुसलमान काल में स्त्री शिक्षा का एक प्रकार से लोप सा ही हो गया था। शिक्षा न रहने पर नारी-सुलभ भावुकता भी क्या कर सकती थी। आज उससे मुक्त होकर साहित्य का सृजन किया है।

४. वर्तमान युग में भी स्त्रियों ने केवल कविता क्षेत्र में ही विशेष प्रगति की है। महादेवी वर्मा और सुभद्रा कुमारी चौहान के नाम इस काल में विशेष उल्लेखनीय हैं।

५. विशेष रूप से हिन्दी साहित्य जिनका आभारी है वह केवल दो ही कवियित्रियाँ हैं एक मीरा और दूसरी महादेवी वर्मा। इन दोनों ने हिन्दी साहित्य-सागर को अमूल्य रत्नों से भरा है।

६. मीरा की कविता में भक्ति और योग की साधना है और महादेवी वर्मा के काव्य में आत्म-चिंतन और रहस्यवाद का वह रूप जिसमें छायावाद की झलक मिलती है। महादेवी के साहित्य में सगुण की उपासना न मिलकर निर्गुण का चिंतन है।

हिन्दी साहित्य में प्रबन्ध-काव्य

१. प्रबन्ध-काव्य किसे कहते हैं? उसके क्या गुण और क्या दोष आचार्यों ने बतलाये हैं। आचार्यों की निर्धारित की हुई परिभाषा पर लिखे गये कितने प्रबन्ध काव्य हिन्दी में उपलब्ध हैं?

२. पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरित-मानस, सूर-सागर, राम-चन्द्रिका, साकेत, यशोधरा और कामायनी हिन्दी के प्रधान प्रबन्ध काव्य हैं।

३. आधुनिक प्रबन्ध लेखकों ने प्राचीन प्रबन्ध काव्य की परिभाषाओं में क्या क्या उलट फेर कर दिये हैं?

४. हिन्दी के कौन कौन कवि सफल प्रबन्ध-काव्य लिख सके हैं।

५. उपसंहार।

आधुनिक साहित्य में मनोविज्ञान

१. आज का साहित्य धर्म के आधार पर न चलकर, चलता है मनोविज्ञान के आधार पर। जिस लेखक के पास मनोविज्ञान का अभाव है वह आज सफल लेखक नहीं बन सकता।

२. समाज का चित्रण आज के साहित्य का प्रधान विषय है और यह बिना मनोविज्ञान के होना असंभव है। इस लिये आज के लेखक को पहले मनोवैज्ञानिक होना होता है और फिर साहित्यिक।

३. मध्ययुग में मानस इत्यादि में मनोविज्ञान है अवश्य, और वह शरत जैसे उपन्यासकारों के मनोविज्ञान की अपेक्षा अधिक गहरा है परन्तु इस उन्नीसवीं सदी के हिन्दी लेखकों के मनोविज्ञान तक नहीं पहुँच सकता।

४. भक्ति-काल में 'मानस' और 'सूर-सागर' में संघर्ष और विघर्ष के मार्मिक चित्रण हैं। यह शेक्सपीयर इत्यादि के मनोवैज्ञानिक सघात और विघातात्मक चित्रणों से उत्तम हैं। रीति-काल में मनोविज्ञान का बिलकुल अभाव दिखलाई देता है।

५. छायावादी कवियों में अन्तर वैज्ञानिकता है परन्तु मानव की प्रवृत्तियों का विवेचन नहीं। वहाँ तो कवियों की रंगीन कल्पना मात्र है।

६. हमें मनोवैज्ञानिकता के दर्शन हिन्दी उपन्यासों और कथाओं में होते हैं और इसका प्रारम्भ मु० प्रेमचन्द से होता है। परन्तु वह मनोविज्ञान भी ऊपरी और छिछला था।

७. 'बंकिम' और 'रवीन्द्र बाबू' के उपन्यासों का आधार मनोविज्ञान है। बंकिम का 'विषवृक्ष' और रवीन्द्र की 'चोखेरबाली' मनोविज्ञान के धरातल पर अवलम्बित हैं।

८. आज का उपन्यास-साहित्य मनोविज्ञान के धरातल पर खड़ा है और स्थिरता के साथ आगे बढ़ रहा है। शरत के साहित्य का हिन्दी में प्रचार होने पर भी उसका प्रभाव हिन्दी उपन्यासों पर नहीं पड़ सका।

९. उपसंहार।

हिन्दी साहित्य में विद्यापति

१. विद्यापति मैथिल कवि थे। उन्होंने हिन्दी में गीत-गोविंद का अनुकरण किया और उसी पद्धति पर साहित्य रचना की।

२. विद्यापति एक रसिक कवि थे। उन्होंने भक्ति भावना में बहकर कृष्ण और राधिका के ऊपर पद्य नहीं लिखे। वह शैव्य थे और

ृंगार-रस की कविता करते थे। इसलिये इनके पदों में भक्ति की खोज करना भूल ही है।

३. विद्यापति को मैथिल-कोकिल भी कहते हैं। यह केवल इसलिये कहते हैं कि इनकी कविता के गाने में कोकिल के कंठ की मधुरता और सरसता पाई जाती है।

४. मैथिल भाषा हिन्दी और बंगला के बीच की भाषा है इसलिये बंगला वाले विद्यापति को बंगला का कवि कहने का भी प्रयत्न करते हैं परन्तु शास्त्रीय जाँच-पड़ताल में उन्हें बंगला का कवि नहीं कहा जा सकता। पूर्वी हिन्दी की 'क्रियाओं' के आधार पर वह भाषा हिन्दी के निकट है।

५. विद्यापति ने अपन्हुति, व्यतिरेक और रूपकातिशयोक्ति अलंकारों का अपनी कविता में आधिक्य के साथ प्रयोग किया है।

६. विद्यापति ने प्रार्थना और नचारी के पद भी लिखे हैं परन्तु वह सब काव्य-प्रणाली के रूप में लिखे हैं भक्ति-भावना से प्रेरित होकर नहीं लिखे।

७. गीत-काव्य की परम्परा में यह हिन्दी के सर्वप्रथम कवि हैं और उनका स्थान हिन्दी में एकाकी है।

८. उपसंहार।

देव का आचार्यत्व

१. देव ने रस, अलंकार, नायक-नायिका भेद इत्यादि सभी पर सुन्दर रचना की है। संचारी भावों में देव ने एक नया चौबीसवाँ संचारी भाव भी खोजकर निकाला है।

२. देव ने राग-रागनियों और पिंगल पर भी लिखा है। देव की 'काव्य-रसायन' पुस्तक से उनके आचार्यत्व का ज्ञान होता है

३. देव की कविता में कहीं पर शिथिलता नहीं है। कविताओं में आभूषण सहित नायिकाओं का चित्रण किया है।

४. देव की शुद्ध ब्रजभाषा में कोमलता और सरलता दोनों गुण हैं। श्रुति-कटु शब्द इनकी रचनाओं में खोजे को भी नहीं मिलता। भाषा की उत्तमता इनका प्रधान गुण है।

५. अनुप्रास और यमक इनकी रचनाओं में भरे पड़े हैं। सुन्दर लोकोक्तियाँ आपने लिखी हैं। नायक-नायिकाओं के वर्णन इतने सुन्दर हैं कि तस्वीर खड़ी हो जाती है।

६. एक-एक छन्द में अनेकानेक अलंकार मिलते हैं। मानुषी प्रकृति का निरीक्षण आपका बहुत सुन्दर है।

७. भाव-भेद, रस-भेद, राग-भेद, अलंकार, पिंगल इत्यादि सभी से आप आचार्यों की श्रेणी में आ जाते हैं। कविता की सरसता और उक्त गुणों के कारण हम कह सकते हैं कि यह कवि और आचार्य दोनों ही थे।

८. देव की कविता में भावों की उड़ान है, चमत्कार है, भाषा में रसाद्रता है, वेग है, काव्य में सिद्धान्त-निरूपण है, क्या नहीं है देव में। यह केशव इत्यादि की भाँति आचार्य हैं और बिहारी की भाँति कवि।

सेनापति का प्रकृति-चित्रण

१. सेनापति भक्ति-काल और रीति-काल के संधि-काल के कवि हैं। इसलिये उनके काव्य में रीति तथा भक्ति दोनों ही भावनाओं का समावेश मिलता है। उनके साहित्य में धार्मिक और शृंगार और अलंकार-प्रियता की उभयपक्षी मनोवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। रामभक्ति सम्बन्धी कविताओं में भक्ति और श्लेष वर्णन, शृंगार वर्णन और ऋतु-वर्णन सम्बन्धी रचनाओं में शृंगारिकता मिलती है।

२. सेनापति का ऋतु-वर्णन चार प्रकार का है—

(१) उद्दीपन-रूप से।

(२) श्लेष आदि अलंकार दिखाने के लिये।

(३) मानवीय-करण करके।

(४) आलम्बन-रूप से।

३. उद्दीपन-रूप में मानवी और दैवी दोनों चित्रण मिलते हैं। संयोग पक्ष वियोग-पक्ष और श्लेषों की सुन्दर रचना सेनापति ने की है। प्रकृति के मानवीकरण में प्रकृति के साथ मानव की भी प्रधानता कवि ने रखी है। प्रकृति को मानव का रूप कवि ने दे दिया है। उसे दूल्हा बनाया है, दुलहिन बनाया है इत्यादि। आलम्बन रूप में हमें सेनापति के सूक्ष्म-निरीक्षण और बिम्ब-ग्रहण तथा संश्लिष्ट-योजना की शक्ति का परिचय मिलता है।

४. सेनापति के ऋतु-वर्णन की तीन विशेषताएं हैं—

(१) सेनापति के वर्णनों में उद्दीपन रूप मिलता है परन्तु आलम्बन-रूपों का भी नितांत अभाव नहीं है।

(२) सेनापति के वर्णनों में बिम्बग्रहण और संश्लिष्ट योजना मिलती है। केवल परिगणन-प्रदर्शन मात्र का प्रयास ही नहीं दीखता।

(३) इन वर्णनों में कल्पना और अलंकार दोनों का सौन्दर्य कवि ने समान रूप से संचित कर रखा है।

५. सेनापति की रचना में रीति-कालीनता होते हुए भी इसमें जो प्रकृति-चित्रण मिलता है वह अन्य कवि में नहीं किया। प्रधान रूप से प्रकृति-चित्रण-क्षेत्र में सेनापति का विशेष स्थान है।

यशोधरा पर एक दृष्टि

१. बा० मैथिली शरण जी के आख्यान-काव्यों में यशोधरा का स्थान साकेत के बाद आता है। इस रचना में प्रगीत मुक्तकों का प्रयोग

कवि ने किया है, जिसके कारण रचना में कुछ दोष आ गये हैं और कुछ गुण भी ।

२. जिस प्रकार 'साकेत' में विरहणी उर्मिला की तपस्या का गुण-गान है, उसी प्रकार इसमें यशोधरा को प्रधान पात्र मान कर कवि ने काव्य का निर्माण किया है । प्राचीन साहित्यिकों द्वारा भुलाये गये इन दो महान पात्रों के चरित्रों को लेकर 'साकेत' और 'यशोधरा' काव्यों की रचना करना बाबू मैथिलीशरण की विशेषता है ।

३. कथा में नाटकीय सौंदर्य है और कवि ने बहुत सहृदयता से काम लिया है । प्रबन्ध-काव्य होने पर भी इसमें नाटक के गुण वर्तमान हैं ।

४. इस प्रबन्ध-काव्य में भावात्मकता है, घटनाओं तथा कथा का क्रमिक विकास है अवश्य, परन्तु गीतों की भाव प्रवणता से कहीं-कहीं पर घटना-संघटन का क्रम टूट जाता है । इस लिये इसमें आख्यान काव्य की सफलता और विफलता दोनों ही वर्तमान हैं ।

५. विरहणी यशोधरा का चरित्र-चित्रण काव्य में प्रधान है परन्तु साथ ही सिद्धार्थ (गौतम बुध) के चरित्र को भी उसी सहानुभूति के साथ कवि ने चित्रित किया है, जिस सहानुभूति के साथ 'साकेत' में लक्ष्मण के चरित्र को ।

६. "अबला-जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ।

इन दो पंक्तियों में यशोधरा काव्य का सार आ जाता है । कवि ने अबला नारी के प्रति संवेदना प्रकट की है ।

७. काव्य में वियोग पक्ष प्रधान है और संयोग पक्ष का नितांत अभाव है । मातृत्व और पत्नीत्व के दोनों पार्श्वों को यशोधरा में चित्रित किया गया है । इन दो पार्श्वों द्वारा नारी जीवन की महानता कवि ने सिद्ध की है ।

८. यशोधरा के विरह-वर्णन मे प्राचीन शैली का चमत्कार है। षड्-ऋतु-वर्णन, विरह की अंतर्दशाओं का चित्रण, प्रकृति-मानव सापेक्ष सब रूढ़िगत हैं। किसी नवीन उद्भावना या उल्लास का प्रयोग कवि ने नहीं किया। वियोग-वर्णन के सहायक प्रकृति-चित्रण सब प्राचीन हैं।

९. वियोग की भाव-व्यंजना मे कवि ने अतुकांत कविता का भी सुन्दर प्रयोग किया है।

१०. उपसंहार।

रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटक

१. रामकुमार वर्मा के नाटकों पर शा, इब्सन, मेटरलिंक इत्यादि के नाटकों का प्रभाव है परन्तु उनके मनोभावों की अभिव्यक्ति भारतीय है।

२. आपने नाटकों में मनोवैज्ञानिक संघर्षों का सूक्ष्म विवेचन किया है और साथ ही हिन्दी साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है।

३. निराशा जनक परिस्थियितों के चित्रण में आप विशेष सफल हुए हैं। अधिकांशतः नाटक आपने दुखाँत लिखे हैं।

४. आप के 'रेशमी-टाई', 'पुरुष या स्त्री', और 'अठारह जुलाई की शाम" नाटकों से वर्मा जी की आदर्शवादी कलाकारिता टपकती है। इन से आपकी सांस्कृतिक और साहित्यिक उद्देश्य की चरम भावना का भी पता चलता है।

५. आपके सभी नाटकों में वस्तु-निर्माण विरह से उत्पन्न होता है और नाटकों का उद्घाटन एक कौतूहल के साथ होता है।

६. इनके चरित्र-चित्रण स्वभाविक, सौंदर्य युक्त और आकर्षक होते हैं। उनमें प्रौढ़ता का अभाव नहीं रहता।

७. हृदय को अधिक से अधिक छूने वाली परिस्थिति पैदा करने वाले पात्रों का चयन रामकुमार जी अपने नाटकों में करते हैं।

८. पात्रों की मानसिक परिस्थितियों के अनुसार ही घटनाओं की क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में संवादों का प्रयोग रामकुमार जी की विशेषता है। भाषा के कलात्मक सौंदर्य के साथ अनुभूति-पूर्ण हृदय-ग्राही और स्वाभाविक वाक्यों का प्रयोग आपकी रचनाओं में मिलता है। आपने प्रायः सुशिक्षित पात्रों का ही समावेश अपने नाटकों में किया है।

९. हास्य और व्यंग्य की पुट भी इनके नाटकों में यत्र-तत्र देखने को मिलती है, परन्तु बहुत कम। इससे नाटक का गाम्भीर्य नहीं टूटता और दर्शक का मन हलका होने के स्थान पर ऊबने लगता है।

१०. आप के नाटक रंग-मंच पर सफलता से अभिनीत किये जा सकते हैं।

११. हिन्दी के एकांकी नाटक लेखकों में आप का स्थान बहुत ऊंचा है और आपने जो रचनायें हिन्दी को प्रदान की हैं उनका महत्व भी बहुत अधिक है।

काव्य-कला-सम्बंधी निबंध

ललित-कला और काव्य

विषय पर दृष्टि डालते समय हमें समझ लेना होगा कि कला क्या है? सूक्ष्म रूप से उपयोगिता और सुन्दरता जिस वस्तु में हो वह कला है। बढ़ई, लुहार, कुम्हार, जुलाहे इत्यादि का कार्य उपयोगी कला के अन्तर्गत आता है और वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला ललित-कला के अन्तर्गत आते हैं। उपयोगी कलायें मानव की आवश्यकता-पूर्ति के लिए होती हैं और ललित-कला मानव के अलौकिक आनन्द प्राप्ति के लिए। यह दोनों ही मानव के विकास के लिये परमावश्यक हैं। ललित-कला की परिभाषा बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने इस प्रकार दी है, "ललित कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इन्द्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान-इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। इस लिए हम कह सकते हैं कि ललित-कलायें मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।"

मनुष्य सौंदर्योपासक-प्राणी है; जब वह जीवन की आवश्यकताओं के स्तर से ऊपर उठता है तो उसका रुझान सौंदर्य-प्रधान ललित-कलाओं की ओर होता है। कोई संगीत की तरफ़ झुकता है तो कोई चित्र-कला की ओर, कोई मूर्ति-कला पर रीझता है तो कोई साहित्य पर। ललित-कलाओं के दो भेद किए जा सकते हैं एक नेत्रगम्य (जैसे भवन-निर्माण, मूर्ति-कला और चित्र-कला तथा दृश्य-काव्य) और दूसरा

श्रवणेन्द्रिय-ग्राह्य (जैसे श्रव्य-काव्य और संगीत) इन दोनों भेदों में संगीत और काव्य उत्तम ललित-कला हैं और वास्तु, चित्र तथा मूर्ति-कलायें मध्यम श्रेणी की । जिस ललित कला में मूर्त-आधार जितना कम है वह कला उतनी ही उच्चकोटि की है। इस प्रकार काव्य का स्थान सब ललित-कलाओं में सबसे ऊँचा ठहरता है।

यहां हम क्रमशः पांचों ललित-कलाओं पर विचार करेंगे। वास्तु-कला का मूर्त आधार ईंट पत्थर और लोहा है। यह सभी निर्जीव वस्तु हैं। इनमें जीवन की वह मादकता कहां जो कविता अथवा संगीत में पाई जाती है। कोई सुन्दर से सुन्दर भवन देखा, और समझ लिया कि यह कुतुबमीनार है, ताजमहल है, मस्जिद है, मन्दिर है इत्यादि वहाँ विचार के लिये, चिन्तन के लिये या भावना के लिये बहुत कम स्थान है। इसी लिये पाँचों ललित-कलाओं में वास्तु कला का स्थान सबसे छोटा है।

मूर्ति-कला में मूर्त आधार पत्थर या अन्य प्रकार की कोई वस्तु है। मूर्तिकार अपनी छैनी से उसे काट छाँट कर उसमें कलात्मकता पैदा करता है, मूर्ति बनाता है। परन्तु इसमें वह गति उत्पन्न नहीं कर सकता। मूर्ति बनाने में मूर्तिकार वास्तुकार की अपेक्षा मानसिक भावनाओं के चित्रित करने में अधिक समर्थ है। वह अपनी मूर्ति में जानदार होने का भ्रम उत्पन्न कर देता है और कभी-कभी यह भ्रम वास्तविकता से अधिक कला-पूर्ण हो जाता है चाहे उसकी उपयोगिता कुछ भी न हो। जहां तक उपयोगिता का सम्बन्ध है वहाँ तक वास्तु-कला मूर्ति-कला की अपेक्षा अधिक ऊंचा आसन ग्रहण करती है परन्तु ललित-कलाओं के क्षेत्र में मूर्ति-कला का स्थान वास्तु-कला की अपेक्षा उच्चतम है।

चित्र-कला का मूर्त-आधार कपड़ा, काग़ज़ इत्यादि हैं। चित्रकार अपनी तूलिका द्वारा उन पर चित्र अंकित करता है। एक मूर्तिकार

पत्थर का स्थूल शरीर सम्मुख रखता है और चित्रकार केवल चित्र द्वारा ही वह सब कुछ दर्शक के सम्मुख रखना चाहता है। इस लिए मूर्त आधार चित्रकार के सम्मुख मूर्तिकार की अपेक्षा कम रहता है। यहीं पर चित्रकार अपनी कला-कुशलता में मूर्तिकार से आगे निकल जाता है। वह चित्रपट पर अपनी कल्पना द्वारा वह चित्र प्रस्तुत करता है कि दर्शक के सम्मुख वह दृश्य उपस्थित हो जाता है जिसे वह आँखों से प्रत्यक्ष रूप में देखता है। चित्रकार केवल चित्र का बाहिरी आकार ही दर्शक के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता, वरन वह अपने चित्र की प्रत्येक रेखा में वह आत्मा फूंकता है कि जिस से चित्र सजीव होकर बोलना प्रारम्भ कर देता है और स्वयं कह उठता है कि मैं अमुक समय का अमुक देश का और अमुक सभ्यता का चित्र हूं। सफल चित्रकार मनुष्य अथवा प्रकृति की भाव-भंगी का प्रतिरूप, दर्शक की आँखों के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है और उसमें होता है उसके अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र।

नेत्रगम्य कलाओं के विषय में विचार करने के पश्चात् अब हम श्रव्य गम्य कलाओं पर विचार करेंगे। संगीत का आधार नाद है जोकि मानव कण्ठ और यंत्रों द्वारा उत्पन्न होता है। यह नाद कुछ सिद्धांतों के आधार पर सात स्वरों में बाँट कर उत्पन्न किया जाता है। एक गायक इसी नाद द्वारा अपने मानसिक भावों को श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत करता है। यह प्रभाव बहुत व्यापक होता है और यहां तक कि अच्छा गायक जीव-जन्तुओं को भी अपने संगीत के वशीभूत कर लेता है। कहते हैं गान-विद्या में इतनी शक्ति भी रही है कि उसने अपने वश में प्रकृति की शक्तियों को भी कभी कर लिया था। दीपक राग, मेघ-राग के विषय में तानसेन इत्यादि की अनेकों किंवदंतियाँ प्रचलित भी हैं। यदि उन्हें केवल किंवदंतियाँ भी मान लें तो इतना तो सत्य ही है कि संगीत में रुलाने और हँसाने की शक्ति वर्तमान है। वह मानव को क्रोध में उन्मत्त बना सकता है और साथ ही फिर शांत

रस में प्रवाहित भी कर सकता है। अच्छे गायक के गान का नेत्र बन्द करके सुनने से श्रोता अपने सामने उसी दृश्य का अनुभव कर सकता है जिसका वर्णन वह अपने राग में कर रहा है। तलवारों की झंकार, विरहणी का रोदन, पक्षियों का कलरव, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट यह सब भाव रागों में बहुत सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किए जाते हैं। संगीत मानव की आत्मा को प्रभावित करता है। काव्य-कला के अतिरिक्त मानव को प्रभावित करने में संगीत कला अन्य सब ललित-कलाओं से अधिक सफल है। "संगीत कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनमें अन्योन्याश्रय-भाव है; एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।" (बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०)

काव्य-कला का स्थान सब ललित कलाओं में सर्वोच्च है। काव्य-कला का आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं है। इसका अस्तित्व केवल शब्दों पर अवलम्बित है। काव्य-कला नेत्र-गम्य और श्रव्य-गम्य दोनों ही प्रकार की होती है। नाटक काव्य का एक विशेष अंग है जिसका रंगमंच से ही सम्बन्ध रहता है और रंगमंच का सौंदर्य नेत्रों के ही क्षेत्र के अंतर्गत आता है। काव्यों के पठन-पाठन में भी नेत्रों से ही काम लेना होता है और उन्हीं के द्वारा काव्य को मस्तिष्क और हृदय तक पहुँचाया जाता है। संसार की सभी वस्तुओं के संकेत भाषा के पंडितों ने निश्चित कर लिये हैं और भाव तथा ध्वनि के आधार पर उनमें वह अर्थ भी व्यापक हो चुके हैं जो इन्द्रियाँ द्वारा मस्तिष्क या हृदय अनुभव करता है। जीवन की घटनाओं और चित्रणों को केवल आँखों से देखना ही एक काव्यकार के लिये आवश्यक नहीं वरन वह तो अपने शब्दों द्वारा ऐसा चित्र पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करेगा कि एक क्षण के लिये पाठक अपने को भूल कर कवि कल्पना में झूमने लगेगा और वह अनुभव करेगा कि वास्तव में वही चित्र जिसे वह

पढ़ रहा है उसके नेत्रों का सत्य बन गया है। इन्हीं मानसिक चित्रों द्वारा काव्य का पंडित दूसरों के हृदयों में अपनी पैठ करता है और वह अपनी पैनी दृष्टि द्वारा दूसरों के हृदयों की परख कर लेता है। यह सब कार्य भाषा द्वारा होता है। इसलिये एक लेखक की भाषा उस की वही है जो मूर्ति कलाकार की छैनी और पत्थर, चित्र-कलाकार की तूलिका और कागज और संगीतकार की मधुर ध्वनि और यंत्र। इसी के द्वारा वह अन्य जगत से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है।

संसार की सभी वस्तुओं का तथा भावनाओं और कल्पनाओं का ज्ञान हमें बाह्यसाधनों द्वारा और आंतरिक साधनों द्वारा होता है। बाह्यसाधनों द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान बाह्यज्ञान कहलाता है और आंतरिक साधनों द्वारा प्राप्त आंतरिक ज्ञान कहलाता है। पूर्व संचित अनुभवों और और कल्पनाओं से द्वारा प्राप्त आंतरिक ज्ञान होता है और संसार की वस्तुओं को आंखों से देखकर, हाथोंसे छूकर और नाकसे सूंघकर बाह्यज्ञान होता है। इस प्रकार हमने ज्ञान के साधनों पर विचार किया। लेखक अपनी और अपने पूर्ववर्ती लेखकों की कल्पना शक्ति का अपने काव्य में प्रयोग करता है और इस प्रकार बाह्य तथा आंतरिक ज्ञान दोनों का ही प्रयोग वह अपने साहित्य की साधना के लिये करता है। साहित्य-कला को हमने ऊपर अन्य सभी कलाओं पर प्रधानता दी है और उसका एक प्रधान कारण यह भी बतलाया है कि काव्य-कला में अन्य कलाओं की अपेक्षा बहुत कम मूर्त आधार है, बल्कि यों कह सकते हैं कि बहुत कुछ हद तक है ही नहीं और मानसिक आधार को ही विशेष स्थान दिया गया है। केवल काव्य-कला ही एक ऐसी कला है कि जो बाह्य ज्ञान का बिना आश्रय लिये मानसिक भावनायें उत्पन्न करती हैं वरना इसे छोड़ कर अन्य सभी कलाओं को किसी न किसी रूप में बाह्य ज्ञान का आश्रय लेना होता है। काव्य-कला पूर्ण रूप से आंतरिक ज्ञान पर अवलम्बित है। काव्य मन के आधार पर स्थिर है और वह काव्य की कल्पनाओं और भावनाओं का मूलस्रोत है। साहित्य का उद्गम

स्थान मन होने से यह स्पष्ट है कि उसका प्रभाव भी अन्य कलाओं की अपेक्षा मानव पर अधिक गहरा होगा। काव्य का भंडार प्रतिक्षण और प्रतिपल वृद्धि की ही ओर चलता जाता है। उसका विनाश नहीं होता वह तो कंजूस की तिजोरी है जो उसमें कुछ डालना सीखा है निकालना नहीं। मूर्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, चित्र फट जाते हैं परन्तु साहित्य जो एक बार संसार में आ चुका फिर जाने वाला नहीं। मानव सृष्टि के आरम्भ से मानव ने जो अनुभव किया, देखा, सोचा और कल्पनायें कीं वह सब उनके साहित्य में धरोहर की तरह सुरक्षित रखा है। मानव के लिये यह महाजन की तिजोरी कितनी मूल्यवान हो सकती है इससे इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

ललित-कला और काव्य के विषय में संक्षिप्त विचार—

१. कला की उपयोगिता और उसका सौंदर्य।
२. कला और उसके विभाग।
३. ललित-कलाओं में मूल आधार।
४. वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला।
५. ललित-कलाओं का ज्ञान।
६. काव्य-कला की अन्य सब कलाओं पर प्रधानता और उसके कारण।

काव्य क्या है ?

साहित्य—साहित्य मानव के विचारों, भावनाओं और संकल्पों की संसार के प्रति भाषामय अभिव्यक्ति है। साहित्य वह है जिसमें अर्थ और हित दोनों निहित हों। शब्द और अर्थ, विचार और भाव दोनों का समन्वय जिस काव्य में हो वही साहित्य है। साहित्य को अंग्रेजी मे लिट्रेचर (Literature) और अरबी में 'अदब' कहते हैं। काव्य का स्थान साहित्य में बहुत ऊंचा है। साहित्य का हृदय और मस्तिष्क भी हम काव्य को कह सकते हैं।

काव्य के पक्ष—काव्य के दो पक्ष होते हैं, अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष जिसे भाव-पक्ष और कला-पक्ष भी कहते हैं। काव्य में रागात्मकता, कल्पना, बुद्धि और शैली का सामंजस्य होता है। कवि अपने काव्य में रागात्मकता को प्रधानता देता है क्योंकि उसके काव्य की आधार-शिला अनुभूति है। कवि कल्पना द्वारा नये चित्र उपस्थित करता है और शैली द्वारा इन सबकी अभिव्यक्ति करता है। शैली और रागात्मकता के संतुलन के लिये कवि बुद्धि का प्रयोग करता है और इस प्रकार वह सफल काव्य का निर्माण कर पाता है।

काव्य की परिभाषा और आत्मा—भरत मुनि और विश्वनाथ जी ने रस को काव्य की आत्मा माना है और दण्डी तथा मम्मट आचार्यों ने अलंकार को। हिन्दी में आचार्य केशव ने दूसरे मत का प्रतिपादन किया है परन्तु वह प्रणाली हिन्दी में मान्य नहीं हुई। 'काव्य-प्रकाश' के कर्ता मम्मटाचार्य ने 'गुण युक्त और दोष रहित रचना' को काव्य कहा है चाहे उसमें अलंकार न हों। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी रागात्मक तत्व को प्रधानता देकर लिखा है, "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।" इस प्रकार हम काव्य की इस प्रकार परिभाषा करते हैं—"काव्य वह सरस रचना है जिसमें गुणों की प्रधानता और दोषों का अभाव हो। आवश्यकतानुसार ध्वनि और चमत्कार का भी प्रयोग उत्तम काव्य में होना चाहिये। रस वास्तव में काव्य की आत्मा है।"

काव्य के अंग—काव्य के आचार्यों और लेखकों ने अनेकों भेद किये हैं। कवि अथवा लेखक अपनी अनुभूति के स्पष्टीकरण के लिये जिस मार्ग को भी अपनाता है बस वही काव्य का एक अंग बन जाता है। काव्य के प्रधानतया दो भेद माने गये हैं, विषय सम्बन्धी

(Subjective) जिसे गीतात्मक (Lyric) भी कह सकते हैं और दूसरा विषय सम्बन्धी (Objective) जिसे प्रकथनात्मक (Narrative) कहते हैं। महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक रचनायें प्रकथनात्मक रचनायें हैं। जिस प्रकार पद्य-क्षेत्र में महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक गीत आते हैं उसी प्रकार गद्य-क्षेत्र में उपन्यास, कहानी, और गद्य-काव्य लिखे जाते हैं। गद्य का क्षेत्र पद्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है इस लिये गद्य में उपन्यास, कहानी और गद्यगीत के अतिरिक्त हमें निबन्ध, जीवनी इत्यादि इसके अन्य विभाग भी मिलते हैं। पद्य-क्षेत्र में इस प्रकार की रचनायें नहीं की जा सकतीं। काव्य के क्षेत्र में गद्य और पद्य सब समान रूप से आते हैं। महाकाव्य, खंडकाव्य, गद्य-गीत, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, जीवनी और समालोचना के अतिरिक्त काव्य का एक और प्रधान विभाग नाटक रह जाता है। नाटक में गद्य और पद्य दोनों का सामंजस्य मिलता है। प्राचीन नाटकों में कविता की प्रधानता थी तो वर्तमान नाटकों में गद्य की। काव्य के ऊपर दिये गये भेदों के अतिरिक्त दो और भी भेद किये जाते हैं। भारतीय शास्त्रज्ञों ने काव्य के भेद श्रव्य-काव्य और दृश्य-काव्य किये हैं। श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत सभी काव्य विभाग आ जाते हैं। दृश्य-काव्य के अन्तर्गत केवल नाटक जिसे रूपक भी कहते है, आता है। नाटक 'दृश्य' और 'श्रव्य' दोनों के अन्तर्गत समान-रूप से आता है क्योंकि इसका आनन्द पढ़कर और रंगमंच पर देखकर दोनों ही प्रकार से प्राप्त होता है।

व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान जो ऊपर काव्य के दो भेद पश्चिमी विद्वानों ने निर्धारित किये हैं वह भी सदोष ही हैं क्योंकि दोनों के बीच कोई निश्चित रेखा खींचना कठिन है। भावना, व्यक्ति और विषय को पृथक्-पृथक् करना कठिन कार्य है। इनका मेल इतना सन्निष्ट है कि पृथक्-पृथक् करने का प्रयास विडम्बना-मात्र है। कोई गीत-

काव्य ऐसा नहीं हो सकता कि जिसका बाह्य संसार से कोई सम्बन्ध ही न हो और महाकाव्य कोई ऐसा नहीं लिखा जा सकता कि जिसमें कवि की आर्त आत्मा की भावनाओं की अभिव्यक्ति पाई ही न जाती हो। इस प्रकार सीमा निर्धारित करने में केवल भाव की प्रधानता को ही महत्व दिया जाता है।

काव्य के आकार विषयक भेद और उनकी विशेषतायें—आकार के आधार पर श्रव्य-काव्य के तीन भेद किये जाते हैं। गद्य, पद्य और मिश्रित (चम्पू)। दृश्य-काव्य में नाटक या रूपक आता है। पद्य में जहाँ संगीतात्मकता की विशेषता रहती है वहाँ गद्य में चरित्र चित्रण और स्पष्टीकरण अधिक उत्तम रूप से किया जा सकता है। आकर्षण दोनों में किसी प्रकार कम नहीं होता। पद्य का आनन्द-लाभ जहां सब पाठक नहीं ले सकते वहाँ गद्य में कहानी ने आज के युग में इतनी प्रधानता प्राप्त कर ली है कि वह काव्य का सर्वप्रिय अंग बन गई है। इसका सबसे प्रधान कारण यही है कि कहानी और गद्य जीवन के अधिक निकट तक पहुँच सकते हैं। कविता जहां जीवन के गूढ़ रहस्य के उद्‌घाटन में अधिक सफल हो सकती है वहाँ उपन्यास और कहानी जीवन की साधारण नित्य के व्यवहार में आने वाली समस्याओं का स्पष्टीकरण इतने रोचक ढंग से कर सकते हैं कि पाठक उनमें अपनेपन का अनुभव करने लगता है।

प्रबन्ध-काव्य—प्रबन्ध-काव्य में तारतम्यता पाई जाती है, कथा लड़ी-बद्ध रहती है, क्रम कहीं नहीं टूटता—जैसे कामायनी।

मुक्तक-काव्य—मुक्तक-काव्य तारतम्यता, क्रमबद्धता और लड़ी-बद्धता से मुक्त होकर चलता है, स्वच्छंद, अबाध और उन्मुक्त धाराओं में। बिहारी सतसई, पल्लव, गुंजन, यामा अनामिका, निशानिमंत्रण इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

महाकाव्य—महाकाव्य प्रबन्ध काव्य का भेद है, इसका विशाल आकार भावों की उदारता और जीवन की अनेक रूपता को लिये हुये रहता है। रामायण, कामायनी इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

खण्ड-काव्य—खंड-काव्य भी प्रबन्ध-काव्य का भेद है और इसमें जीवन के एक खण्ड विशेष पर कवि प्रकाश डालता है। जयद्रथ वध, पंचवटी इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

उपन्यास, कहानी, निबन्ध—उपन्यास, कहानी और निबन्ध के विषयों पर हमारी इसी पुस्तक में पृथक् सम्पूर्ण निबन्ध दिये गये हैं।

इस प्रकार हमने काव्य का सूक्ष्म रूप से निरीक्षण करके देखा कि काव्य साहित्य का वह प्रधान अंग है जिसके अन्तर्गत गद्य और पद्य की प्रबन्ध तथा मुक्तक सभी रचनायें आ जाती हैं। इन सभी रचनाओं की आत्मा 'रस' है और अलंकार, ध्वनि तथा चमत्कार उसके आकर्षण। आकर्षण और रस यही दोनों वस्तु काव्य को साहित्य का प्रधान अंग बनाये हुए हैं और यही काव्य की विशेषतायें हैं। साहित्य के अन्तर्गत जहाँ इतिहास, भूगोल, गणित इत्यादि सब आते हैं वहाँ काव्य के अन्तर्गत केवल ललित साहित्य ही आता है।

काव्य के विषय में संक्षिप्त विचार:—

१. साहित्य क्या है और काव्य का उससे क्या सम्बन्ध है ?
२. काव्य के प्रधान कौन कौन से अङ्ग हैं ?
३. काव्य की परिभाषा और उसकी आत्मा ?
४. काव्य के प्रधान अंग और उनकी परिभाषायें तथा क्षेत्र।
५. काव्य के आकार विषयक भेद और उनकी विशेषतायें।
६. उपसंहार।

साहित्य-कला की उपयोगिता

मानसिक दृष्टि में सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण कराना कला का क्षेत्र है। उपयोगिता और फिर सौंदर्य प्रधान उपयोगिता बस यही कला की विशेषता है। कोनैन खाकर ज्वर उतर जाता है परन्तु कोनैन खाने का नाम सुनकर भी ज्वर सा चढ़ जाता है। इस लिये कोनैन उपयोगी होते हुए भी अपने अन्दर सौंदर्य का समावेश नहीं रखती। इसके विपरीत एक वीर सैनिक युद्ध-क्षेत्र में सनसनाती हुई गोलियों के समक्ष जा रहा है रण-वाद्यों को सुनता हुआ मस्त हाथी की तरह और मन में तनिक भी भयभीत नहीं होता। वह रण-वाद्य अपने अन्दर एक बल रखता है और वह बल है उस कला का, उस रणवाद्य का।

इस प्रकार कला और उपयोगिता दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं जैसा कि कुछ कला के पुजारी या जिन्हें व्यभिचारी कहा जाये, मानते आये हैं। हिन्दी साहित्य के रीति काल में इस भावना ने विशेष ज़ोर पकड़ा था। शेष सभी कलायें कला-उपयोगिता को लेकर चली हैं, केवल कल्पनाओं पर आधारित होकर नहीं चलीं। कल्पना भी यदि सत्य को ठुकराकर चलेगी तो अपना महत्व खो बैठेगी; न उसमें सौंदर्य ही रहेगा और न वह मिठास ही।

संक्षिप्त रूप से हिन्दी के इतिहास पर भी हम दृष्टि डाल सकते हैं। वीरगाथा काल का साहित्य पहिले उपयोगी था बादमें कलात्मक, इसी प्रकार भक्ति काल का साहित्य पहिले उपयोगी था उसके पश्चात कलात्मक परन्तु रीतिकाल में यह दृष्टिकोण बदल गया। बदल गया इस लिये क्यों कि पराधीनता के काल में ऐश और आरामतलबी का साम्राज्य छा गया और भक्ति के प्रतीकों को शृंगार का आश्रय बना कर कवियों ने प्रयोग किया। कवि जीवन विहीन होकर कला के हाथों में खेलने वाले वह कल पुर्जे बन गये जो सूई के नकवे में से केवल

एक ही नम्बर का सूत निकाल सकते थे। कवियों की स्वाभाविकता नष्ट हो गई, उनकी स्वाधीनता नष्ट हो गई, उनकी कल्पना नष्ट होगई और वहाँ पर रह क्या गया केवल एक प्रणाली के ही अनुसार निर्जीव 'दों का मदारी की तरह इधर उधर नचाना।

यह था कला का पतन-काल। यह कला में उत्थान नहीं था। कला अपने उत्थान में देश का, समाज का, जाति का और सब के साथ विश्व के उत्थान का संदेश लेकर चलती है। उसमें संकीर्णता नहीं होती, उसमें होती है व्यापकता, प्रस्फुटन, एक विशाल चिंतन, एक महान आदर्श जो सुन्दर होने के साथ ही साथ उपयोगी भी होता है। कला की उपयोगिता में सौंदर्य का होना अनिवार्य है।

कला जीवन का ही एक अंग है इस से पृथक् कोई वस्तु नहीं। उदाहरण के लिये दो युवतियों को लीजिये। दोनों एक ही अवस्था की हैं और यौवन के पूर्ण वेग में बह रही हैं परन्तु एक में भोलापन है और दूसरी में चांचल्य। भोली बालिका फटे वस्त्र पहिने है परन्तु उसका यौवन फूटा पड़ रहा है, उसने लिपस्टिक का प्रयोग नहीं किया हुआ है परंतु उसके कपोलों की लालिमा गुलाब के पुष्प को भी लजा रही है और दूसरी बालिका ने बाहरी आवरणों से अपने शरीर को सजाया हुआ है। अब यदि दोनों किसी कवि के सम्मुख जायें तो उस फटे वस्त्र वाली बालिका को ही वह अपनी कविता की नायिका स्वरूप स्वीकार करेगा। क्योंकि उसके स्वाभाविक सौंदर्य में कला के लिये स्वाभाविक निमंत्रण है। यह निमंत्रण बनावट में कहाँ? कला जीवन की बनावट पर नहीं जाती वह तो आकर्षित होती है जीवन की निर्मलता पर, जीवन की पवित्रता पर और सच तो यह है कि वह जीवन की वास्तविकता को प्रेम करती है।

आज का युग क्या चाहता है? क्या है आज के युग की पुकार? वह कहता है वास्तविकता की ओर चलो, बनावट से मानव ऊब चुका

है। भारत का कलाकार भी आज वास्तविकता की खोज कर रहा है और उसी में उसे मिली है अपनी कला की उपयोगिता। कला जीवन के लिये है, कला समाज के लिये है, कला देश के लिये है। यह सत्य कला पर विचार करते समय कभी नहीं भुलाना चाहिये।

हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यासकार मुं० प्रेम चन्द ने कला का जो दृष्टिकोण संसार के सम्मुख रखा है वह हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि विश्व साहित्य में बहुत कम कलाकार रख सके हैं। खेद का विषय है कि उस महान् कलाकार के विचारों को समाज उस समय उचित आदर न दे सका और उसकी रचनाओं का अन्य भाषाओं में प्रकाशन न होसका, उसे उचित सम्मान और स्थान न मिल सका परन्तु वह हिन्दी साहित्य में कला का वह रूप प्रस्तुत कर गया कि जिसकी छाप कविता, कहानी, नाटक, सभी पर पड़े बिना न रह सकी। इस उपयोगिता ने ही प्रगतिवाद का रूप ग्रहण किया और रूस के साहित्य तथा विचारावलि का भी इस पर प्रभाव पड़ा।

समय बदल गया, युग बदल गया। मूर्ति-कला में नंगी तस्वीर बनाने का समय निकल गया। चित्र-कला मे भी नंगी नारियों के स्तन-मात्र दिखलाने से आज काम नहीं चलता। संगीत में अभी भी विरह कथा का बोल-बाला है,परन्तु यह तो जीवन की चिर-संगिनी है और उपयोगिता में इसका स्थान किसी प्रकार अन्य भावनाओं से पीछे नहीं रहता। आज भिखारियों के चित्रों को लोग पसंद करते हैं, किसानों के चित्रों में सौंदर्य दिखलाई देता है, किसान काव्यों के विषय बनकर काव्यकार के मस्तिष्क में आते हैं, श्रमजीवी के परिश्रम से प्रभावित होकर कवि रचना लिखते हैं और उनसे प्रभावित होकर समय करवट लेता जा रहा है। यह समय की प्रगति है जो रुक नहीं सकती और रुकनी भी नहीं चाहिये क्योंकि यह जीवन में क र्मण्यता का पाठ पढ़ाती है, अकर्मण्यता का नहीं, प्रगति की ओर जाती है रूढ़िवाद

की ओर नहीं, कुछ करना सिखाती है, आलस्य में पड़े-पड़े जीवन व्यतीत करना नहीं। जीवन में यह उपयोगिता लाना चाहती है केवल सौंदर्य और वह भी वासनामय सौंदर्य मात्र नहीं। आज का युग इस प्रकार की कला के उत्थान में प्रयत्न-शील है और आज के कलाकार जीवन के इस उपयोगिता-वादी मर्म को भली प्रकार समझ चुके हैं। वह व्यर्थ की झूठी प्रयोजन-विहीन कलात्मकता में फंसे रह कर अपनी कल्पना-शील, चिंतन-शील, अनुभव-शील, भावना-शील मनोवृत्तियों को कुंठित करना नहीं चाहते, वह चाहते हैं उपयोगिता के साथ एक प्रगति और इस मार्ग में उन्हें सफलता भी कम नहीं मिल रही है। हिन्दी के वर्तमान लेखक इस प्रकार का साहित्य सृजन करने में बहुत प्रयत्न-शील हैं।

समय-समय पर कला के पुजारियों ने कला के अपने-अपने विचारों के आधार पर अर्थ लगा कर कला की परिभाषायें निर्धारित की हैं वह कहते हैं—

कला-कला के लिये है।

कला-जीवन के लिये है।

कला-उपयोगिता के लिये है।

कला-जीवन की वास्तविकता से पलायन के लिये है।

कला-सेवा के लिये है।

कला-आत्मानंद का दूसरा नाम है।

कला-आत्माभिव्यक्ति के लिये है।

कला-विनोद और विश्राम के लिये है।

कला में सृजनात्मकता होनी आवश्यक है।

हम कला में इन सभी गुणों को देख कर प्रसन्न हो सकते हैं यदि उसमें उपयोगिता का अभाव न हो क्योंकि उपयोगिता कला का प्रधान गुण होना चाहिये।

आज साहित्य-कला पर हमारे देश का भविष्य आधारित है। हमारे बच्चों का जीवन उसी साहित्य के कर कमलों में पलकर संसार के सम्मुख आयेगा। जिस प्रकार का वह साहित्य होगा उसी प्रकार के हमारे आने वाले बालकों के चरित्र भी होंगे। यदि हमारे साहित्य में उपयोगिता का अभाव हो गया तो हमारे बच्चों के जीवनों में उपयोगिता कहाँ से आयेगी? वे बच्चे होंगे हमारे साहित्य की छाया, प्रतिबिम्ब। इस लिये अच्छे कलात्मक साहित्य में उपयोगिता का होना उतना ही आवश्यक है जितना दूध में घी का होना अथवा उसमें मिठास का होना।

साहित्य-कला की उपयोगिता—

१. कला में उपयोगिता और सौंदर्य का सम्मिश्रण होनी चाहिये तभी वह अधिक उपयोगी भी हो सकती है।

२. कला का निर्माण भी उपयोगिता के ही आधार पर हुआ है और होना भी चाहिये। जब जब कला ने उपयोगिता को ठुकराया है उपयोगिता ने कला को ठुकरा दिया है।

३. देश, समाज, और विश्व के हित के लिये उपयोगी कला को ही कलाकारों को अपनाना चाहिये। इसी में देश का कल्याण है।

४. हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि सहित्यकारों ने उपयोगिता को कभी नहीं भुलाया।

५. रीति-काल काव्य-कला का पतन काल था।

६. आज का साहित्य कला में स्वाभाविकता चाहता है, जीवन चाहता है और चाहता है दैनिक जीवन की रागात्मक प्रवृत्तियाँ।

७. साहित्य पर देश और जाति का भविष्य अवलम्बित है।

८. उपसंहार।

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है

साहित्यकार समाज का एक प्राणी है। जो कुछ वह लिखता है अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होकर लिखता है। समाज के व्यवहार, धर्म कर्म वातावरण, नीति और रीति रिवाज किसी न किसी रूप में उसके काव्य में आये बिना नहीं रहते। आदि कवि वाल्मीकि ने भी आदि काव्य रामायण में अपने समय की राज्य कुटुम्ब की व्यवस्था को लेकर उसे आदर्श रूप दिया है। गोस्वामी तुलसी दास जी ने रामचरित मानस में भी यही किया है। साहित्य के इतिहासों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि समाज का साहित्य से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है। शेक्सपीयर के नाटकों में रानी विक्टोरिया के समय के समाज का प्रतिबिम्ब है और बर्नार्डशा के साहित्य में आज के युग का। प्रेमचन्द के उपन्यासों में १६३० और उससे पहिले भारत के सामाजिक आन्दोलनों के बिम्ब हैं और इसी प्रकार मैथिलीशरण के काव्य में भी। काव्यकार क्योंकि समाज का एक अंग है इसलिये वह समाज से बाहर जाकर कोई चमत्कार पूर्ण रचना नहीं कर सकता और यदि करता भी है तो वह समाज में अपनाई नहीं जा सकती क्योंकि उस में अपनेपन का अभाव रहता है।

साहित्य में समाज का दो प्रकार का प्रतिबिम्ब मिलता है एक विपक्षी और दूसरा पक्षी। जो समाज का विपक्षी साहित्य होता है वह समाज की कटु आलोचना करके उसकी कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करता है। वह समाज की पुरातन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करता है और यही विद्रोह की भावना लेकर एक विस्फोट की भाँति आता है। उसमें मंडन न होकर खंडन की प्रवृत्ति होती है। वह निर्माण न करके विनाशकारी प्रवृत्तियों से अधिक प्रेरित रहता है। वर्तमान प्रगति वादी साहित्य इस प्रकार के साहित्य का प्रतीक है। यह साहित्य एक

नया समाज चाहता है, नये रीति-रिवाज चाहता है। धर्म के बखेड़ों से मानव को मुक्त कर देना चाहता है, जाति-पांति के बंधनों को तोड़ देना चाहता है, ऊंच-नीच, छोटा बड़ा यह सब कुछ यह कुछ नहीं देखना चाहता। यह समाज की किसी भी मान्यता को नहीं मानता इसकी मान्यतायें नवीन हैं, इसका सामाजिक ढांचा नवीन है, इसकी कल्पनायें नवीन हैं, और इसकी विचार धारा नवीन है। इस साहित्य में हमें समाज का धुँधला सा प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है परन्तु आने वाले समाज की यह साहित्य आधार शिला होता है। इस प्रकार के साहित्य को हम समाज-गत न कह कर व्यक्ति-गत कहेंगे।

दूसरा साहित्य वह है जो समाज की मान्यताओं को मानते हुए सुधारात्मक प्रवृत्तियाँ लेकर चलता है। वह समाज को जैसा देखता है वैसा का वैसा ही चित्रित भी करता है। वह सामाजिक व्यवस्था की कटु आलोचना नहीं करता और न क्रांति दृष्टा ही होता है। कहीं कहीं पर यह समाज की त्रुटियों की उपेक्षा भी करता है। समाज की नीति, धर्म, मर्यादा इत्यादि का यह खंडन नहीं करता। यह समाज की स्वीकृति का साहित्य है जिसमें समाज का स्पष्ट प्रतिबिम्ब रहता है। यह साहित्य अपने समय की परिस्थितियों से संतुष्ट रहता है, समय की वाहवाह इसके साथ रहती है और समाज के प्रति असंतोष की भावना इसमें नहीं रहती। इस साहित्य में गति कम होती है और भविष्य के प्रति विचार भी कम होता है। यह अपने ही काल से संतुष्ट रहता है। यह साहित्य पूर्ण रूप से समाज-गत होता है और इसमें व्यक्ति की प्रधानता न होकर समाज की प्रधानता रहती है।

ऊपर हमने साहित्य को व्यक्ति-गत और समाज-गत दो भागों में विभक्त किया है पर दोनों को प्रेरणा समाज से ही प्राप्त होती है उद्गम एक होकर भी मूल दोनों के पृथक् पृथक् हो जाते हैं। समाज-गत साहित्य में प्रतिक्रिया मिलती है। वह समाज को ज्यों का त्यों स्वीकार

ही नहीं करता वरन उसकी रूढ़ियों को छिन्न भिन्न होता हुआ भी नहीं देख सकता। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उसके अन्दर एक मोह रहता है, एक प्रेम रहता है और आकर्षण भी। इसके ठीक विपरीत व्यक्तिगत साहित्य समाज में उथल-पुथल कर देना चाहता है, वह चाहता है परिवर्तन, एक क्रांतिकारी परिवर्तन। वह वर्तमान पर दृष्टि न डाल कर भविष्य पर ही देखता है। वह ज्यों का त्यों रहने का आदि नहीं, वह तो प्रगति चाहता है धर्म में, समाज में, रीति-रिवाजों में और यहाँ तक कि राजनीति में भी। जहाँ पहिले प्रकार का साहित्य समाज में स्थिरता चाहता है वहाँ दूसरे प्रकार का साहित्य उसमें ताज़गी लाने का प्रयत्न करता है और समय के पुरानेपन के कारण उसमें जो सड़न पैदा हो गई है उसे काट कर फेंक देना चाहता है।

भक्ति काल, रीति-काल, और वर्तमान-काल के सुधार-वादी साहित्य समाज की मान्यताओं को मान कर चले हैं। कुछ सुधारात्मक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कोई क्रांति की भावनायें उनमें नहीं मिलती। अपने अपने काल का प्रतिबिम्ब उन साहित्यों में स्पष्ट रूप से वर्तमान है। उनमें पूर्ण रूप से स्वीकृति की भावना है, विद्रोह की नहीं। यही कारण था कि इन साहित्यों के सृजन कर्त्ता अपने समय में पूजे गये, सम्मानित हुए और उनकी रचनाओं को समाज ने अपना कहकर अपनाया। संत साहित्य ने समाज की कुरीतियों के विरुद्ध विद्रोह किया, एक क्राँति पैदा करने का प्रयत्न किया, इसी लिये समाज ने उनकी उपेक्षा की और उन्हें वह सम्मान न मिल सका जो भक्त कवियों को प्राप्त हुआ। आज के युग के प्रगतिशील लेखक समाज के कटु आलोचक हैं। वह समाज के रीतिरिवाजों पर गहरी चोट करते हैं और उसकी मान्यताओं को नहीं मानते। सुधारवादियों में भी क्राँति की लहर दौड़ रही है। समाज की रूढ़ियों को ज्यों का त्यों मानकर चलने वाले साहित्य को संघर्ष के अन्दर से होकर नहीं निकलना होता और दूसरे वर्ग को

प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिये समाज से टक्कर लेनी होती है। पहिले प्रकार के साहित्य के मार्ग में सब सुविधायें हैं और दूसरे प्रकार के साहित्य के मार्ग में सब असुविधायें ही असुविधायें हैं।

समाज का प्रतिबिम्ब साहित्य में दो प्रकार से आता है। एक प्रत्येक्ष रूप से और दूसरा अप्रत्यक्ष रूप से। जिस साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से समाज का प्रतिबिम्ब होता है वहाँ पर समाज को आधार रूप से लेकर लेखक चलता है और जहाँ अप्रत्येक्ष रूप से समाज का प्रतिबिम्ब आता है वहां साहित्य में समाज आधार स्वरूप न आकर गौण रूप से आता है; परन्तु कोई भी साहित्य ऐसा नहीं लिखा जा सकता कि जिसे लेखक समाज से नितांत अछूता ही रख सके। हम ऊपर कह भी चुके हैं कि लेखक समाज का एक अंग मात्र है और वह कोई भी रचना ऐसी नहीं लिख सकता कि जिसमें उसके अपने व्यक्तित्व की कहीं न कहीं पर झलक न आ जाये और यदि कहीं पर भी उसके साहित्य में अपनी झलक आजाती है तो वह झलक उसकी अपनी न होकर समाज की ही होती है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कोई भी कवि अथवा लेखक ऐसा नहीं है कि जिसके साहित्य में उसके समय की छाप न मिलती हो। यही दशा संसार के सभी साहित्यों की है। इससे सिद्ध हुआ कि साहित्य समाज से दूर रहकर अपना स्वतंत्र रूप से निर्माण नहीं कर सकता। कला कला के लिये चिल्लाने वाले कलाकार भी समाज से अपने को पृथक् करके नहीं चल सकते। उनके साहित्य में भी किसी न किसी रूप में समाज की झलक आ ही जाती है।

विषय का संक्षिप्त विवेचन—

१. कलाकार समाज का प्राणी है इस लिये उसके साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब आना अनिवार्य है।

२. संसार के सभी देशों के साहित्यिक इतिहासों पर दृष्टि डालने से पता

चलता है कि इन देशों का समाज जब जब जैसी जैसी धाराओं में बहा है उसका उनके साहित्य पर आवश्यम्भावी भाव दृष्टिगोचर हुआ है ।

३. साहित्य समाज-गत और व्यक्ति-गत दो प्रकार का होता है परन्तु व्यक्तिगत साहित्य पर भी अप्रत्यक्ष रूप से समाज का प्रभाव रहता है, क्यों कि दोनों के मूल में समाज ही है ।

४. उपसंहार ।

कविता क्या है ?

साहित्य-दर्पणकार ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है । रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के समूह को रस गंगाधर के रचयिता ने काव्य कहा है । काव्य के अन्तर्गत गद्य और पद्य दोनों ही आ जाते हैं । यहाँ हम केवल कविता विषय पर ही विचार करेंगे । जिस पद्यमयी रचना को पढ़कर चित्त अह्लादित हो उठे, अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, मन सांसारिक दुःख को भूल कर आनन्द विभोर हो उठे उसे कविता कहते हैं । इस विषय पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार देखिये:—

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है । राग से यहाँ अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहने वाली अन्तःकरण की वृत्ति से है । जिस प्रकार निश्चय के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिये भी कुछ विषयों का बाह्य या मानस प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है । यही हमारे रागों या मनोवेगों के—जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं—विषय है ।

रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करके कविता मानव-जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। यदि इन प्रवृत्तियों को समेटकर मनुष्य अन्तःकरण के मूल रागात्मक अंश को सृष्टि से किनारे कर ले तो फिर उसके जड़ हो जाने में क्या सन्देह है? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, को देख क्षण भर लीन न हुआ, तो उसके जीवन में रह क्या गया? नाना रूपों के साथ मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनो-वेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने का भी उद्योग करती है।

कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देती है। हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर मोहित होने लगते हैं, कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है, हमे जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है। कविता की प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य में बहुत कम प्रवृत्त होते हैं। केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम के करने या न करने के लिए प्रायः तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित हो जाती है तो हमें आह्लाद, क्रोध, करुणा आदि से विचलित कर देती है। तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। केवल बुद्धि हमें काम करने के लिये उत्तेजित नहीं करती। काम करने के

लिये मन ही हमको उत्साहित करता है। अतः कार्य-प्रवृत्ति के लिये कविता मन में वेग उत्पन्न करती है।

कविता के द्वारा हम संसार के सुख, दुःख, आनन्द और क्लेश आदि यथार्थ रूप से अनुभव करने में अभ्यस्त होते हैं जिससे हृदय की स्तब्धता हटती है और मनुष्यता आती है।

मनोरंजन करना कविता का वह प्रधान गुण है जिससे वह मनुष्य के चित्त को अपना प्रभाव जमाने के लिये वश में किये रहती है, उसे इधर उधर जाने नहीं देती। यही कारण है कि नीति और धर्म सम्बन्धी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते, जैसा कि काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कह कर कि 'परोपकार करो', 'सदा सच बोलो', 'चोरी करना महापाप है' हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई अपकारी मनुष्य परोपकारी हो जायगा, झूठा सच्चा हो जायेगा, और चोर चोरी करना छोड़ देगा। क्योंकि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी सूखी शिक्षाएँ ग्रहण करने के लिये उद्यत ही नहीं होता, दूसरे मानव-जीवन पर उनका कोई प्रभाव अंकित न देखकर वह उनकी कुछ परवा नहीं करता। परन्तु कविता अपनी मनोरंजक शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुनने वाले का चित्त उचटने नहीं देती, उसके हृदय के मर्मस्थानों को स्पर्श करती है और सृष्टि में उक्त कर्मों के स्थान और सम्बन्ध की सूचना देकर मानव-जीवन पर उनके प्रभाव और परिणाम विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है।

परन्तु केवल मन को अनुरंजित करना और उसे सुख पहुँचाना ही कविता का धर्म नहीं है। कविता केवल विलास की सामग्री नहीं। क्या हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि का आदि-काव्य, कालीदास का मेघदूत, तुलसीदास का रामचरित-मानस या सूरदास का सूरसागर विलास की सामग्री हैं? यदि इन ग्रंथों से मनोरंजन होता है तो चरित्र-

संशोधन भी अवश्य होता है। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी भाषा के अनेक कवियों ने शृंगाररस की उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भी विलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है।

चरित्र-चित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है, उतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं। आदि-काव्य रामायण में जब हम भगवान् रामचन्द्र के प्रतिज्ञा-पालन, सत्य-व्रताचरण और पितृभक्ति आदि की छटा देखते हैं, भरत के सर्वोच्च स्वार्थत्याग और सर्वांगपूर्ण सात्विक चरित्र का अलौकिक तेज देखते हैं, तब हमारा हृदय श्रद्धा, भक्ति और आश्चर्य से स्तंभित हो जाता है। इसके विरुद्ध जब हम रावण की दुष्टता और उद्दंडता का चित्र देखते हैं, तब समझते हैं कि दुष्टता क्या चीज है और उसका प्रभाव और परिणाम सृष्टि में क्या है? अब देखिये, कविता द्वारा कितना उपकार होता है। उसका काम, भक्ति, श्रद्धा, दया, करुणा, क्रोध, और प्रेम आदि मनोवेगों को तीव्र और परिमार्जित करना तथा सृष्टि की वस्तुओं और व्यापारों से उनका उचित और उपयुक्त सम्बन्ध स्थिर करना है।

कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है, जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।

कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य होगी। इसका क्या कारण है? बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा घना मंडल बाँधता चला आ रहा है, जिसके भीतर फँसकर वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध कभी-कभी नहीं रख सकता। इस बात

से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जागृति रखने के लिये कविता मनुष्य-जाति के संग लगी गई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि शेष प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पावे।

कविता सृष्टि-सौंदर्य का अनुभव कराती है और मनुष्य को सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्त और कुत्सित वस्तुओं से विरक्त कराती है। कविता जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुख आदि का सौंदर्य चित्त में अंकित कराती है, उसी प्रकार औदार्य, वीरता, त्याग, दया इत्यादि का सौंदर्य भी दिखाती है। जिन वृत्तियों का प्रायः बुरा रूप ही हम संसार में देखा करते हैं, उनका सुन्दर रूप भी वह अलग कर के दिखाती है। दशवदन-निधन-कारी राम के क्रोध के सौंदर्य पर कौन मोहित न होगा? जो कविता रमणी के रूप-सौंदर्य से हमें आह्लादित करती है, वही उसके अन्तःकरण की सुन्दरता और कोमलता आदि की मनोहारिणी छाया दिखाकर मुग्ध भी करती है। बाह्य सौंदर्य के अवलोकन से हमारी आत्मा को जिस प्रकार संतोष होता है, उसी प्रकार मानसिक सौंदर्य से भी। जिस प्रकार वन, नदी, पर्वत, झरने आदि से हम आह्लादित होते हैं, उसी प्रकार मानसिक अंतःकरण में प्रेम, स्वार्थत्याग, दया, दाक्षिण्य, करुणा, भक्ति आदि उदात्त वृत्तियों को प्रतिष्ठित देख हम आनन्दित होते हैं। कविता सौंदर्य और सात्विकशीलता या कर्त्तव्य-परायणता में भेद नहीं देखना चाहती। इसी से उत्कर्ष-साधन के लिये कवियों ने प्रायः रूप-सौंदर्य और अन्तःकरण के सौंदर्य का मेल कराया है।

जो लोग स्वार्थवश व्यर्थ की प्रशंसा और खुशामद करके वाणी का दुरुपयोग करते हैं, वे सरस्वती का गला घोंटते हैं। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों को कविता न करनी चाहिये। कविता उच्चाशय, उदार और निःस्वार्थ हृदय की उपज है। सत्कवि मनुष्य-मात्र के हृदय में सौंदर्य

का प्रवाह बहाने वाला है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक सब समान हैं। वह उन्हें मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं समझता।

कविता की भाषा—कविता का सम्बन्ध संगीत से है इसलिये कविता की भाषा में माधुर्य और प्रसाद गुणों का होना आवश्यक है। कविता में कर्ण कटु शब्दों का प्रयोग अखरता है और सरस शब्द उच्चारण में अच्छे प्रतीत होते हैं। स्वराघात का ध्यान रखते हुए भाषा का कविता में प्रयोग किया जाना चाहिये। ऐसा न होने पर कविता गायक और पाठक दोनों की ही प्रिय नहीं बन सकती। भाषा कविता का शरीर है। आत्मा के सौंदर्य के साथ साथ शरीर सौंदर्य की भी आवश्यकता होती है। पाठक अथवा श्रोता का प्रथम आकर्षण कविता के बाह्यरूप के ही कारण होता है और फिर वह कविता की अन्तरात्मा तक पहुँचता है। साधारणतया सभी पाठक कविता की अन्तरात्मा तक पहुँच भी नहीं पाते हैं और यदि उनके सामने बाह्यरूप से कुरूप कविता आये तो वह उसके पठन पाठन से भी वंचित रह जाते हैं। कविता को यदि हम एक नारी का रूप मान लें तब भी उसका प्रथम आकर्षण उसका रूप, उसका सौंदर्य ही रहेगा। नारी का स्वभाव, उसका शील, उसका कर्तव्य यह सब बाद की वस्तु हैं जिन्हें पह-चानने और जानने में समय लगता है, कठिनाई होती है और कभी कभी असफलता भी हो जाती है। यही दशा कविता भी की है। इसलिये कविता के अर्थ और भावों के साथ साथ उसकी भाषा में सौंदर्य आना भी आवश्यक है।

कविता के गुण—गुणों का सम्बन्ध विशेष रूप से रसों से रहता है, कविता में रसों का होना जितना आवश्यक है उतना ही गुणों का भी है प्रसाद, ओज, माधुर्य इत्यादि गुण कविता में रसों के साथ भावों के अनु-सार ही कवि रख सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है

कविता म जैसा रस चल रहा है उस में उसी प्रकार की भाषा और गुण कवि को प्रयोग करना चाहिये। गुण और रसों में विभिन्नता हो जाने से काव्य का सौंदर्य नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। इस लिये लेखक को रस और गुण का सामंजस्य करके अपनी रचना को उच्च बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

रस—रस कविता की आत्मा है। रीति-कालीन कवियों ने कविता में अलंकारों को प्रधानता दी है परन्तु आज के युग में उनका सिद्धांत मान्य नहीं है आज के युग के आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और अलंकारों को काव्य के सौंदर्य की सामग्री मात्र। अब यह विवाद समाप्त हो चुका है। आज अलंकार वर्ण्य विषय न रह कर केवल सौंदर्य बढ़ाने के साधन मात्र रह गये हैं। रस विहीन काव्य नीरस होने से काव्य ही नहीं रहता। न उसमें कोई सौंदर्य होता है और न हृदय-ग्राहिता। इसलिये कविता में रस का होना नितान्त आवश्यक है। कविता में कुछ न कुछ पुराने शब्द भी आ जाते हैं। उनका थोड़ा बहुत बना रहना अच्छा भी है। वे आधुनिक और पुरातन कविता के बीच सम्बन्ध-सूत्र का काम देते हैं। अँगरेज़ी कविता में भी ऐसे शब्दों का अभाव नहीं है जिनका व्यवहार बहुत पुराना ज़माने से कविता में होता आया है। 'Main' Sawain' (मेन, स्वेन आदि शब्द ऐसे ही हैं। अँगरेज़ी कविता समझने के लिए इनसे परिचित होना आवश्यक है। पर ऐसे शब्द बहुत थोड़े आने चाहिएँ; वे भी ऐसे जो भद्दे और गँवारू न हों। कविता में कही गई बातें चित्र रूप में हमारे सामने आती हैं, संकेत रूप में नहीं आतीं।

श्रुति सुखदता, भाव-सौंदर्य और नाद-सौंदर्य के संयोग से कविता की सृष्टि होती है। श्रुतिकटु मानकर कुछ अक्षरों का परित्याग, वृत्त-विधान और अंत्यानुप्रास का बन्धन, इसी नाद-सौंदर्य के निबाहने के लिए हैं। बिना इसके कविता करना, अथवा इसी को सर्वस्व मानकर कविता

करने की कोशिश करना, निष्फल है। नाद-सौंदर्य के साथ भाव-सौंदर्य भी होना चाहिए। कुछ लोग अंत्यानुप्रास की बिलकुल आवश्यकता नहीं समझते। छन्द और तुक दोनों ही नाद-सौंदर्य के उद्देश्य से रखे गये हैं। फिर क्यों एक निकाला जाय और दूसरा नहीं? नाद-सौंदर्य कविता के स्थायित्व का वर्द्धक है, उसके बल से कविता ग्रन्थाश्रय-विहीन होने पर भी किसी न किसी अंश में लोगों के मुख में बनी रहती है। यह कविता की आत्मा नहीं तो शरीर अवश्य है।

अलंकार—कविता में भाषा को खूब ज़ोरदार बनाना पड़ता है। उसकी सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार का चित्र चटकीला करने और रस-परिपाक के लिए कभी वस्तु के रूप और गुण को वैसाही और वस्तुओं के साहचर्य द्वारा और मनोरंजक बनाने के लिए उसके समान रूप और धर्मवाली और और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। इस तरह की भिन्न-भिन्न वर्णन-प्रणालियों का नाम अलंकार है। इनका उपयोग काव्य में प्रसंगानुसार विशेष रूप से होता है। इनसे वस्तु-वर्णन में बहुत सहायता मिलती है। कहीं-कहीं तो इनके बिना कविता का काम ही नहीं चल सकता। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि अलंकार ही कविता है। जहाँ किसी प्रकार की रसव्यंजना होगी, वहीं किसी वर्णन-प्रणाली को अलंकारिता प्राप्त हो सकती है। जिस प्रकार कुरूपा स्त्री अलंकार धारण करने से सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार अस्वाभाविक, भद्दे और क्षुद्र भावों को अलंकार स्थापना सुन्दर और मनोहर नहीं बना सकती।

कविता के विषय में संक्षिप्त विचार—

१. कविता की परिभाषा, जीवन से सम्बन्ध और उपदेशात्मकता।
२. कविता की भाषा, कविता के गुण और कविता में रस।
३. श्रुति सुखदता और अलंकार।

रूपक (नाटक) की रूपरेखा

रूपक दृश्य काव्य है। यह श्रव्य काव्यों की अपेक्षा अधिक प्रभाव-स्पादक है क्योंकि इसमें कल्पना को दृश्यों का प्रत्यक्ष आश्रय मिलता है। नाटक में स्थापत्य, चित्र कला, संगीत, नृत्य और काव्य इन सभी कलाओं का सामंजस्य मिलता है। भरत मुनि ने कहा है योग, कर्म सारे शास्त्र, सारे शिल्प और विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न पाया जाये। नाटक में केवल वर्णन मात्र ही नहीं होता वरन उनका प्रदर्शन भी नेत्रों के सम्मुख आता है। शास्त्रीय भाषा में नाटक को रूपक कहते हैं। नाटक में रस का संचार काव्य और अभिनय दोनों के ही द्वारा होता है इस लिये अन्य काव्यों की अपेक्षा नाटक रस-प्रवाह में सब से अधिक सफल हुआ है। नाटक अनुकरण का दूसरा नाम है। हम नाटक में दूसरों की आत्माभिव्यक्ति कर लेते हैं और इस प्रकार रसास्वादन करते हैं। नाटक में पारस्परिक परिचय प्राप्त होता है और अनुकरण द्वारा हम दूसरों के जीवन में अपनी पैठ कर लेते हैं।

नाटक के प्रधान तत्व—नाटक के कथानक में पात्रों की विशेषता रहती है। चरित्र-चित्रण नाटककार अपने मुख से कहकर न करके अभिनय और अन्य पात्रों द्वारा कराता है। कथानक भी कथनीय कथनों द्वारा ही प्रस्फुटित होता है पात्रों की भाव-भंगी और क्रिया कलाप भी इसमें सहायक होते हैं। नाटक लिखने का कुछ न कुछ उद्देश्य भी अवश्य रहता है। उसका सम्बन्ध धर्म, समाज, जाति, अथवा इतिहास किसी से भी हो सकता है। इस प्रकार इन सभी कार्यों की पूर्ति के लिये नाटक में कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, अभिनय और उसके उद्देश्य का होना नितांत आवश्यक है। नाट्य शास्त्र में नाटक के चार तत्व माने हैं—वस्तु, पात्र, रस और अभिनय

कुछ आचार्य वृत्ति को पाँचव ।तत्व मानते हैं। वृत्ति वास्तव में क्रिया प्रधान शैली है जोकि अभिनय के अंतर्गत भी आसकती है।

कथा-वस्तु—नाटक का कथानक 'वस्तु' कहलाता है। अंग्रेजी में इसे प्लाट (Plot) कहते हैं। यह मुख्य और गौण दो प्रकार का होता है जिसका सम्बन्ध प्रधान और गौण पात्रों तथा समस्याओं से रहता है। रामायण में रामायण की प्रधान कथा है परन्तु इसके अंतर्गत, सुग्रीव, विभीषण इत्यादि की भी कथायें आ जाती हैं। वह अपने में सम्पूर्ण हैं परन्तु फिर भी काव्य में उनका स्थान गौण ही है। कथा वस्तु विशेषरूप से पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा काल्पनिक होती है। इसमें से किन्हीं भी दो के सम्मिश्रण से एक नवीन प्रकार की कथावस्तु भी बन सकती है। कथा वस्तु की पाँच श्रेणियाँ या अवस्थायें नाट्य शास्त्र मे मानी हैं। (१) प्रारम्भ—इसमें किसी फल के लिये इच्छा होती है। (२) यत्न—इच्छापूर्ति का प्रयत्न इसके अँतर्गत आता है। (३) प्राप्त्याशा—इच्छित फल की प्राप्ति की आशा इसमें होती है। (४) नियताप्ति—इस दशा में प्राप्ति के विषय में कुछ निश्चय हो जाता है। (५) फलागम—क्योंकि नाटक को सुखांत माना है इस लिये अंत में फल प्राप्ति आवश्यक है। योरुपीय नाट्य शास्त्रों में भी यह पाँच अवस्थायें Exposition, Incident, Rising action, Crisis, Denoument, Catastrophe के नामों से प्रसिद्ध है। इन्हीं अवस्थाओं द्वारा नाटक का उतार चढ़ाव होता है।

अर्थ प्रकृतियां—अर्थ प्रकृतियां कथा वस्तु के वह चमत्कार पूर्ण अंग हैं जो कथा-वस्तु को कार्य की ओर ले जाते हैं। यह 'बीज', 'बिन्दु', 'पताका', 'प्रकरी', और कार्य पाँच होती में।

संधियां—संधियों में अवस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों का मेल कराया जाता है। यह संधियां एक एक अवस्था की समाप्ति तक चलती

हैं और प्रकृतियों से मेल कराती हैं। सँध्यायें अर्थ प्रकृतियों की ही भांति यह भी पांच हैं—'मुख', 'प्रतिमुख', 'गर्भ' 'विमर्श' और 'निर्वहण'।

अर्थोपेक्षक—नाटक में कुछ सामग्री ऐसी होती है जिसका दृ ंक को केवल पात्रों द्वारा केवल सूचना भर दिखाई जाती है उसे सूच्य कहते हैं और सूच्य की सूचना देने के साधन अर्थोपेक्षक कहलाते हैं। यह भी पाँच ही होते हैं। (१) विष्कम्भक—इसमें पहिले हो जाने वाली या बाद में होने वाली घटना की सूचना दी जाती है। केवल दो अप्रधान पात्रों के कथनोपकथन द्वारा ऐसा कराया जाता है। नाटक के प्रारम्भ अथवा दो अंकों के बीच में यह आ सकता है। शुद्ध और संकर इसके दो प्रकार हैं। (२) चूलिका—पर्दे के पीछे से जिस कथा भाग की सूचना दी जाती है वह चूलिका कहलाती है। (३) अङ्कास्य-अङ्क के अंत में मंच छोड़ कर जाने वाले पात्रों से आगामी अंक की जो सूचना दिखाई जाती है वह अंकास्य कहलाता है। (४)अंकावतार—अंकावतार में बिना पात्रों के बदले हुए ही पिछले ही अंक की कथा को आगे चलाया जाता है। पहिले ही अंक के पात्र बाहर जाकर फिर लौट आते हैं। (५) प्रवेशक—प्रवेशक घटनाओं की सूचना देने के लिये होता हैं।

कथनोपकथन—कथनोपकथन चार प्रकार का होता है। (१) सर्वश्राव्य—जो सब के सुनने के लिये होता है। (२) अश्राव्य—जो अन्य पात्रों के सुनने के लिये नहीं होता। (३) नियतश्राव्य—जो कि कुछ नियत पात्रों के सुनने के लिये होता है और (४) आकाश भाषित—जिसमें कि आकाश की ओर मुंह करके किसी कल्पित व्यक्ति से बात की जाती है।

पात्र—नाटक में पात्रों की विशेषता रहती है और नाटक के सभी तत्व पात्रों के ही आश्रित रहकर चलते हैं। कथा का प्रधान पात्र

नायक कहलाता है और उसे परखने की कसौटी यह है कि कथा का फल जिस पात्र से सम्बन्धित हो बस वही नायक है। श्रोता, द्रष्टा और पाठक नायक के ही उत्थान और पतन में अधिक रुचि रखते हैं। हमारे नाट्य शास्त्रों में नायक को सभी उच्च और उदार गुणों से सम्पन्न माना है। वह विनय-शील, त्यागी, कर्तव्य-परायण, कार्यकुशल, वीर, पराक्रमी, उच्चवंशज, साहसी, स्वाभिमानी, कलाकार, सुन्दर, इत्यादि गुण वाला होना चाहिये। आज का नाटककार अपने नायक को सर्व-गुण सम्पन्न तो चाहता है परन्तु वह उच्चवंशज भी हो इसकी ओर विशेष ज़ोर नहीं देता। वह तो कीचड़ से कमल खोजने का प्रयत्न करता है और मिट्टी से हीरा निकालता है। आज का नाटककार नायक को मानव मानकर चलता है, इस लिये उसके चरित्र में कमज़ोरियाँ भी आ सकती हैं। नायक कुछ विशेष गुण सम्पन्न होता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह साँसारिक कमज़ोरियों से मुक्त है। नाट्य शास्त्र ने नायक चार प्रकार के माने हैं। (१) धीरोदात्त—यह नायक शोक और क्रोध में अविचलित नहीं होता, गम्भीरता, क्षमा-मान, आत्म-श्लाघा न करने वाला, अहंकार-शून्य होना, दृढ़-व्रत होना यह इसके प्रधान गुण हैं। महाराज रामचन्द्र धीरोदात्त—के आदर्श हैं। (२) धीर-ललित—यह नायक सरल स्वभाव वाला, सुख-संतोषी, कलाविद और निश्चिन्त होता है। शकुंतला के महाराज दुष्यन्त इसके उदाहरण हैं। (३) धीरप्रशांत—यह नायक ब्राह्मण या वैश्य होता है। क्षत्रिय नहीं क्योंकि संतोष इसका प्रधान गुण है, 'मालती माधव' का माधव इसका उदाहरण है। (४) धीरोद्धत—यह नायक मायावी और आत्म-प्रशंसापरायण होता है। धोखा और चपलता इसकी नस नस में भरा रहता है। अहंकार और दर्प इसके गुण हैं। रावण इसका उदाहरण है।

नायकों के श्रृंगारिक दृष्टिकोण को सामने रखकर उन्हें चार भेदों में विभाजित किया गया है। (१) अनुकूल—ऐसा नायक एक पत्नीव्रत होता है जैसे श्री रामचन्द्र (२) दाक्षिण—जो नायक कई रानियाँ रखकर भी प्रधान महिषी का आदर करता है और यथासम्भव सब को प्रसन्न रखता हो। उदाहरण स्वरूप श्री कृष्ण को ले सकते हैं (३) शठ—यह नायक अन्य स्त्रियों से भी प्रेम प्रकट अवश्य करता है परन्तु निर्लज्जता के साथ नहीं। (४) धृष्ट—यह नायक खुले रूप में दुराचार करता है और निर्लज्ज भी होता है। वह अपनी स्त्री का दिल दुखाने में भी नहीं चूकता।

विदूषक—संस्कृत नाटकों में रहस्योद्घाटन के लिये विदूषक का प्रयोग किया जाता था। अंगरेजी नाटकों में इस प्रकार के पात्र को क्लाउन कहा जाता है। यह पात्र नाटक के गम्भीर वातावरण में हास्य की पुट लाता है। नायक का यह विश्वासपात्र पात्र होता है। संस्कृत नाटकों में उसका ब्राह्मण होना आवश्यक था। नायक के प्रेम कार्य में यह विशेष सलाहकार रहता है।

अन्य पात्र—नायक और विदूषक के अतिरिक्त प्रति नायक, नायिका, प्रतिनायिका यह तीन अन्य प्रधान पात्र होते हैं। नायक का कार्य बिना प्रतिनायक के सम्पन्न हो ही नहीं सकता और नायिका का इसी प्रकार प्रतिनायिका के बिना। इस लिये ये पात्र भी नाटक में उतने ही आवश्यक हैं।

चरित्र-चित्रण—नाटक में चरित्र-चित्रण उपन्यास की भांति विश्लेषणात्मक ढंग से न होकर परोक्ष या अभिनयात्मक ढंग से होता है। नाटक के पात्र एक दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं और कभी कभी पात्र स्वयं अपने चरित्र का भी उद्घाटन करते हैं। स्वगत कथन अस्वाभाविक अवश्य लगता है परन्तु वह चरित्र पर प्रकाश डालने के लिये कहीं कहीं पर आवश्यक हो जाता है।

रस सिद्धान्त—रस सिद्धांत की विवेचना हमारे यहां नाटकों से ही आरंभ होता है। प्रत्येक नाटक में कोई न कोई रस अंगी रूप से ले लिया जाता है, और अंग रूप से दूसरे रस भी उसमें आते हैं। पश्चिमी नाटककारों ने इसकी अपेक्षा उद्देश्य को प्रधानता दी है। जैसे हमारे नाटककार किसी प्रधान रस को लेकर रचना करते हैं। वैसे पाश्चात्य नाटककार किसी विशेष उद्देश्य को व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से लेकर चलते हैं। यह उद्देश्य आंतरिक और बाह्य ंघर्षों से सम्बन्ध रखते हैं।

दुखांत और सुखांत नाटक—भारतीय साहित्य की आदर्श-वादिता बपौती है। इसी के आधार स्वरूप संस्कृत साहित्य में दुखांत नाटकों का समावेश नहीं किया गया। अच्छे काम करने वाले का अंत दुखमय दिखाकर समाज में अच्छे कामों के प्रति अभिरुचि नहीं हो सकती। यही कारण था कि नाटक में घोर करुणा-रस का प्रवाह होने पर भी नाटककार उन्हें अंत में सुखांत ही कर देते थे। पाश्चात्य साहित्य में आदर्शवादिता का अभाव और यथार्थवादिता की प्रधानता मिलती है। दुखांत नाटक में दर्शक की सहानुभूति पात्रों के साथ स्वाभाविक रूप से हो जाती है। इस स्वाभाविक आकर्षण को भारतीय कलाकारों ने कला की कमज़ोरी मान कर उसे नहीं अपनाया। साथ ही भारतवासी जीवन का आदर करते थे और मंच पर मानव को इस प्रकार नष्ट होता हुआ देखकर आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि भारतीय नाटककारों ने दुखांत नाटक न लिखकर सुखांत नाटक ही लिखे हैं। आज के युग में दुखांत नाटक का लिखा जाना भी प्रारम्भ हो गया है।

अभिनय—अभिनय नाटक का प्रधान अंग है। भरत मुनि ने अभिनय की विषद विवेचना की है। अभिनय के चार प्रधान प्रकार हैं। (१) आंगिक—आंगिक अभिनय का सम्बन्ध पात्रों के रंगमंच

पर अंग संचालन-विधि से है। वह किस प्रकार चलता है, उठता है, बैठता है, हाथ चलाता है, पैर चलाता है, नेत्र घुमाता है; भौंहें चलाता है, मुस्कराता है इत्यादि। (२) वाचिक—इसके अंतर्गत वाणी और स्वर का सम्बन्ध है। वाणी द्वारा आंगिक अभिनय को स्पष्टता मिलती है। भरत मुनि ने वाणी के अभिनय में स्वर-शास्त्र, व्याकरण तथा छंद-शास्त्र को लिया है। इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न श्रेणी के पात्रों से भिन्न-भिन्न स्वराघात के साथ भाषा बुलवाई जाती है। (३) आहार्य अभिनय—इसका सम्बन्ध पात्रों के विभिन्न प्रकार के आभूषणों, वस्त्रों और उनके रंगों का विवेचन किया जाता है। पात्रों के वर्णों का भी सम्बन्ध आहार्य अभिनय से ही है। (४) सात्विक-अभिनय—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्पन और अश्रुप्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण को सात्विक अभिनय कहते हैं।

वृत्तियां—नाटक में चार वृत्तियां होती हैं। (१) कौशिकी-वृत्ति—इसका सम्बन्ध श्रृंगार और हास्य से है। (२) सात्वती-वृत्ति—इसका सम्बन्ध शौर्य, दान, दया और दाक्षिण्य इत्यादि से है। (३) आरभटी वृत्ति—माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष आघात प्रतिघात इत्यादि इसके अन्तर्गत आते हैं। (४) भारती वृत्ति—इसका सम्बन्ध स्त्रियों से न होकर पुरुष नटों से रहता है। साहित्य-दर्पणकार का मत है कि यह सभी रसों में प्रयोग की जाती है। इसका सम्बन्ध केवल शब्दों से है।

रूपकों के भेद—नाटक शब्द से रूपक शब्द अधिक व्यापक है। इसलिए भारतीय नाट्य शास्त्रज्ञों ने रूपक शब्द का ही प्रयोग किया है। रूपक रस प्रधान होते हैं और उपरूपक भाव प्रधान। रूपक दस प्रकार के होते हैं (१) नाटक—नाटक में पाँच संधियां, चार वृत्तियाँ और चौंसठ संध्य माने गये हैं। पांच से दस तक अंक इसमें होते हैं। इसका विषय कल्पित नहीं होता और नायक धीरोदात्त होता है।

उदाहरण में भवभूति के उत्तर रामचरित नाटक को ले सकते हैं। (२) प्रकरण—इसकी वस्तु नाटक की सी होती है परन्तु इसका विषय कल्पित होता है। शृंगार रस की इसमे प्रधानता रहती है। (३) भाण—यह एक अंक और एक पात्र होता है। इसमें धूर्त पात्र हास्य प्रधान अभिनय करके दर्शकों को हँसाता है (४) व्यायोग—यह वीर रस प्रधान एक अंकीय नाटक होता है। इसमें स्त्री पात्र का अभाव रहता है।(५) समवकार—१२ तक इसके नायक हो सकते हैं। देव या दानवों की इसमें कथा रहती है (६) डिम—इसमें चार अंक और १६ नायक होते हैं। रौद्र रस का इसमें प्राधान्य रहता है। (७) ईहा मृग—इसमें धीरोदात्त नायक और एक प्रति नायक रहता है। इसमें चार अंक होते हैं और कथा में प्रेम प्रधान रहता है। (८) अङ्क—यह एक अंक का करुण रस प्रधान नाटक होता है। (९) वीथी—यह शृंगार रस का कल्पित एक अंक का नाटक होता है। (१०) प्रहसन—इसमें हास्य रस की प्रधानता रहती है उपरूपकों के यह अट्ठारह भेद हैं। नाटिका त्रोटक, गोष्ठी सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका।

रंगमंच—अभिनेयत्व नाटक का प्रधान गुण है और इसके लिए रंगमंच की आवश्यकता है। हिन्दी का रंगमंच अपूर्ण और अधूरा है। भरतमुनि ने तीन प्रकार की नाट्य शालायें बतलाई हैं। चतुरस्त्र, विकृष्ट और त्र्यस्र। वर्तमान युग में रंगमंच बहुत समुन्नत दशा को प्राप्त हो चुका है। बिजली ने रंगमंच में कुछ ऐसी विशेताएँ पैदा कर दी हैं कि दर्शक देख कर चकित हो जाता है। नवीन आविष्कारों ने रङ्गमंच के उत्थान में बहुत सहयोग दिया है। जो नाटक रङ्गमंच पर

सफल नहीं हो सकते वह अधूरे हैं और उन्हें वह सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता जो रङ्गमंच पर सफल उतरने वाले नाटकों को प्राप्त होगा ।

इस प्रकार हमने रूपक शीर्षक के अंतर्गत नाटक के प्रधान तत्वों, नाटक की कथावस्तु, संधियाँ, अर्थप्रकृतियाँ, कथनोपकथन, पात्र, चरित्र-चित्रण, रस सिद्धांत, वृत्तियाँ और रङ्गमच पर विचार किया। यह नाटक के प्रधान तत्व हैं और उत्तम नाटककार इन सब का सामंजस्य करके अपने ग्रंथ की रचना करता है ।

रूपक पर संक्षिप्त विचार—

१. रूपक की परिभाषा ।

२. नाटक के प्रधान तत्व और कथा वस्तु ।

३. रूपक की अर्थ प्रकृतियां और संधियाँ ।

४. रूपक के पात्र, कथनोपकथन और चरित्र चित्रण ।

५. अभिनय, रस तथा सिद्धान्त ।

६. वृत्तियाँ और नाटक के भेद तथा उप भेद ।

७. रंगमंच तथा उपसंहार ।

उपन्यास क्या है ?

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी । जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं । किन्हीं दो विद्वानों की रायें नहीं मिलतीं । उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों । उपन्यास के विषय में मु० प्रेमचन्द इस प्रकार लिखते हैं—

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूं। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है ।

किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। यही चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म–जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि उपन्यासकार को चरित्रों का चित्रण करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए—उसमें अपनी तरफ से काट-छाँट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए?

यहीं से उपन्यासकारों के दो वर्ग हो जाते हैं। एक आदर्शवादी वर्ग और दूसरा यथार्थवादी वर्ग।

यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न-रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम अच्छा होता है या कुचरित्रता का परिणाम बुरा—उसके चरित्र अपनी कमज़ोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है। नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, और अपमानित होते हैं। नको नेकी का फल उलटा मिलता है। बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं। उनको बदी का फल उलटा मिलता है। यथार्थवाद अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और क्योंकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्जवल से उज्जवल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको

निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है और हमको अपने चारों की बुराई नज़र आने लगती है।

इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद* अत्यन्त उपयुक्त है; क्योंकि इसके बिना, बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखायें जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर, मानव-स्वभाव की विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले---वह भूल जाये कि मैं चिन्ताओं के बंधन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तब फिर ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों?

यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की मूर्तिमान हों और जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।

इसलिए वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं जहां यथार्थ और आदर्श दोनों का समावेश हो गया है। उसे आप आदर्शोन्मुख

यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह ज़रूरी नहीं कि वह निर्दोष हो,—महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं—चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती बल्कि, यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष-चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। उस चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, केवल मनोरंजन मात्र हो सकता है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्म-परिष्कार भी है। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हम में सद्भावों को भरता है और हमारी दृष्टि को फैलाता है।"

इस प्रकार मु० प्रेमचन्द जी ने उपन्यासों के दो भेद किये एक यथार्थवादी और दूसरा आदर्शवादी। इन दो भेदों के अतिरिक्त भी उपन्यासों के अनेकों भेद और उपभेद होते हैं।

कथा प्रधान उपन्यास—कथा प्रधान उपन्यास में लेखक का ध्यान विशेष रूप से उपन्यास की कथा और घटना चक्रों पर रहता है। वह पाठक को कथा के सौंदर्य में फँसाकर रखता है और उसी सौंदर्य से अपने उपन्यास को रोचक बनाने का प्रयत्न करता है। कथा का तारतम्य कहीं पर टूटने नहीं देता। जासूसी उपन्यासों में विशेष रूप से यह सौंदर्य मिलता है। इन उपन्यासों में घटनाओं का जमाव इतना रोचक और सुव्यवस्थित होता है कि पाठक एक बार कथा प्रारम्भ करके फिर समाप्त करने से पूर्व छोड़ नहीं सकता। इस प्रकार के उपन्यास निम्न कोटि के

उपन्यास ही रहते हैं। इन उपन्यासों में घटनाओं की जादूगरी के लिये ही प्रधान स्थान रहता है। जीवन पर इन उपन्यासों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और यदि पड़ता भी है तो वह उपन्यास-व्यसन के ही रूप में पड़ता है। क्योंकि जीवन के अन्दर इनके विषय की ना तो पैठ ही होती है और ना जीवन के रहस्य के विषय में वह कुछ कहते ही हैं।

चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास—चरित्र चित्रण प्रधान उपन्यासों में कथा और घटनाओं पर विशेष ज़ोर न देकर चरित्र चित्रण पर विशेष बल दिया जाता है। इन उपन्यासों में जीवन की समस्याओं को लेकर लेखक चलता है और उन्हीं के आधार पर चरित्रों का निर्माण करता है। उसके पात्र समाज के चरित्रों के प्रतीक बनकर चलते हैं और इस रूप में वह न केवल देश और समाज का ही वरन मानवजाति का प्रतिनिधित्व करते हैं। लेखक अपने पात्रों में वह जीवन भरता है जिनकी मानव और समाज को आवश्यकता होती है, और साथ-साथ उन्हें उन पात्रों के साथ रखता है जिनके कारण समाज दूषित है, कलुषित है और निंदित है। चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यासकार के सम्मुख एक बड़ा भारी उत्तरदायित्व रहता है और चरित्र चित्रण में जितनी स्वतंत्रता एक उपन्यासकार को है उतनी अन्य किसी भी साहित्यकार को नहीं है। नाटककार, निबन्धकार, काव्यकार, कवि कोई भी इतनी स्वतन्त्रता से अपने पात्रों का चित्रण नहीं कर सकता जितना एक उपन्यासकार। इसलिये उपन्यासकार का चरित्र-चित्रण सब से पूर्ण रहता है। इस कोटि के उपन्यास सब से उत्तम कोटि के उपन्यास कहलाते हैं।

सामाजिक उपन्यास—सामाजिक उपन्यासों में समाज के यथार्थवादी और आदर्शवादी चरित्र उपन्यासकार प्रस्तुत करता है। देश और समाज के हित के लिये ऐसे उपन्यासकार हितकर

सिद्ध होते हैं और ऐसे उपन्यासकारों को समाज में प्रसिद्धि भी अधिक मिलती है। इस प्रकार के उपन्यासों में क्योंकि समाज को अपने चित्र देखने को मिलते हैं इसलिये उसे सब से अधिक प्रिय इसी प्रकार की रचनायें होती हैं। चरित्र-चित्रण भी लेखक कई प्रकार से करते हैं। एक तो केवल उनकी ऊपरी परिस्थितियों को लेकर वर्णनात्मक रूप से करते हैं और दूसरे मनोवैज्ञानिक रूप से करते हैं। मु० प्रेमचन्द के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता न मिलकर वर्णनात्मकता अधिक मिलती । आज के उपन्यासकारों में मनोवैज्ञानिकता दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है।

ऐतिहासिक उपन्यास—ऐतिहासिक उपन्यास कथा प्रधान भी हो सकते हैं और चरित्र-चित्रण प्रधान भी। इन उपन्यासों में पात्र औरकथा इतिहास में से ली जाती हैं। ऐतिहासिक कहने का अर्थ यह नहीं हो । कि उनमें इतिहास के आधार पर कोरी कथा मात्र का वर्णन होता है। उपन्यासलकार अपनी कल्पना के आधार पर इसमें रोचकता पैदा करने के लिये उलट-फेर भी कर सकता है, परन्तु वह उलट-फेर इतना अधिक नहीं होना चाहिये कि जिससे प्रधान तथ्यों का अनुमान ग़लत लगने लगे। काल और प्रधान घटनाओं को ऐसे उपन्यासों में भुला कर नहीं चला जा सकता। हिन्दी में वृन्दावन लाल वर्मा ने इस प्रकार के सुन्दर उपन्यास लिखे हैं।

इस प्रकार हमने उपन्यास-साहित्य पर विचार किया और उपन्यास को किन किन वर्गों में बाँटा जा सकता है उन पर भी विचार किया। चरित्र-चित्रण का उपन्यास में अन्य सभी प्रकार के साहित्य से अधिक क्षेत्र है,इस लिये जीवन की जितनी सुन्दर विवेचना उपन्यास में हो सकती है उतनी न प्रबन्ध काव्य में हो सकती है और नाही नाटक में मुक्तक कविता, निबन्ध और कहानी के तो क्षेत्र ही बहुत सीमित होते

हैं। इसलिये मानव जीवन की विवेचना का उपन्यास सब से अच्छा और सुन्दर माध्यम है।

उपन्यास के विषय में संक्षिप्त विचार—

१. परिभाषा।
२. आदर्शवादी और यथार्थवादी उपन्यास।
३. कथा-प्रधान और चरित्र प्रधान उपन्यास।
४. सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास।
५. उपसंहार।

कहानी की रूपरेखा

मु० प्रेमचन्द के शब्दों में "आख्यायिका केवल घटना है।" आंशिक रूप में यह सत्य भी है और जिस दृष्टिकोण से मुंशी प्रेमचन्द ने कहानियां लिखीं हैं वहां यह पूर्ण रूप से सत्य थी परन्तु आज बहुत सी कहानियों में हमें घटना मिलती ही नहीं केवल पात्र या परिस्थिति का विश्लेषणात्मक चित्रांकन ही मिलता है। वह भी कहानियां हैं और बहुत कला-पूर्ण कहानियां हैं। प्रेमचन्द जी ने स्वयं भी लिखा है, "वर्तमान आख्यायिका (या उपन्यास) का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनायें या पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणतः मेरी 'सुजान भगत', 'मुक्ति-मार्ग', 'पंच परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' इत्यादि कहानियों में एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।" इस प्रकार प्रेमचन्द जी के विचारानुकूल यदि हम कहानी की परिभाषा दें तो यों कह सकते हैं कि कहानी एक घटना है जिसका स्थान मानव के मन में भी हो सकता है और जीवन की बाह्य परिस्थिति में भी।

आज की कहानी नानी देवते की कहानी न होकर कला-पूर्ण मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन है। किन्तु जब कहानी मनोवैज्ञानिकता से फिसल कर मनोरंजन के क्षेत्र में आजाती है तो इसकी परिभाषा हमें फिर बदलनी पड़ती है। यह सर्वदा नहीं होता कि सभी कहानियाँ किसी लक्ष्य, धर्म अथवा नीति और समस्या को ही लेकर लिखी जायें। कितनी ही रचनायें लेखक की कल्पना पर आधारित रहकर उसकी कला के चमत्कार स्वरूप ही प्रस्फुटित होती हैं। उनमें सौंदर्य होता है, चमत्कार होता है, आकर्षण होता है, हृदय-ग्राहिता होती है परन्तु समस्या या मनोवैज्ञानिकता नहीं होती और इस प्रकार की कुछ कहानियां संसार-साहित्य में उच्च कोटि की कहानियाँ हैं। उदाहरण-स्वरूप हम 'गिफ़्ट ऑफ मैगी' को ले सकते हैं। कहानी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और साथ ही उसकी टैकनीक भी एक प्रकार की नहीं होती। वह अनेकों प्रकार की होती है। जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य, और नाटक से उपन्यास का क्षेत्र अधिक व्यापक है उसी प्रकार निबन्ध, मुक्तक कविता और गद्य-गीत इत्यादि से कहानी का क्षेत्र अधिक व्यापक है।

कहानी में मानव अमानव सभी प्रकार के पात्र लिये जासकते हैं। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में वर्तमान कहानी का प्रारम्भिक रूप भी देखने को नहीं मिलता क्योंकि कहानी और उपन्यास संस्कृत साहित्य की देन नहीं हैं। फिर भी संस्कृत साहित्य में कुछ कुछ कहानी के आकार की रचनायें अवश्य मिलती हैं जिनमें गम्भीर विषयों को सरल बना कर समझाने का विद्वानों ने प्रयत्न किया है। जाबालि और नचिकेता के उपाख्यान इसी प्रकार की रचनायें हैं। ऋग्वेद की अपाला की कथा और ब्राह्मणों की वामदेव और रोहित की कथाओं में भी कहानी का ही रूप मिलता है। संस्कृत साहित्य के पश्चात् हमें बौद्ध भिक्षुओं की जातक कथायें मिलती हैं। यह कथायें मध्य एशिया,

योरोप, अरब, मिश्र इत्यादि प्रदेशों तक बौद्ध भिक्षुओं द्वारा पहुँचीं। ३०० ई० पूर्व डेमी ट्रीमिस्स ने यूनान में इनका संग्रह किया और बाद में यही संग्रह "ईपस की कहानियाँ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। योरोप के सत्तारहवीं शताब्दी के साहित्य पर इन कहानियों का प्रभाव मिलता है। जातक कथायें पाली और प्राकृत भाषा में लिखी गई थीं। अपभ्रंश और पैशाचिक भाषाओं में भी इन बौद्ध कथाओं के आधार पर कथाओं की रचना हुई। गुणाड्य की 'बृहत कथा' ६०० ई० पू० में लिखी गई। यह ग्रंथ अब नहीं मिलता परन्तु संस्कृत "बृहत कथा मंजरी" और "कथा सरित्सार" में इसकी कथायें मिलती हैं। यह कथायें आरम्भ में उपदेशात्मक प्रकृति को लेकर लिखी गईं परन्तु धीरे धीरे यह मनोरंजकता की ओर बढ़ती गईं। "दशकुमार चरित्र" की रचना तक इन कथाओं में धार्मिक प्रवृत्ति धीरे धीरे कम होकर उनमें सांसारिकता आगई।

आज की कहानी का इस प्राचीन कहानी साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं और नांही यह साहित्य उस प्राचीन साहित्य की देन ही है। आज के युग का कथा-साहित्य पूर्ण रूप से पश्चिम की उपज है। १६ वीं शताब्दी से पूर्व कहानी अपने वर्तमान रूप में नहीं थी परन्तु उपन्यास और नाटक इत्यादि में कथा के तत्व वर्तमान थे। कहानी ने नाटक से कथनोपकथन और नाटकीयता ली और उपन्यास से चरित्र-चित्रण। काव्य से कहानी ने प्रकृति-चित्रण और रसात्मकता ली। इस प्रकार वर्तमान कहानी ने नाटक, काव्य और उपन्यास तीनों के तत्वों का अपने में सामंजस्य करके पाठकों का मनोरंजन किया। तीनों तत्वों की प्रधानता होने के कारण ही आज कहानी साहित्य ने जो सर्वप्रियता प्राप्त की है वह साहित्य का कोई भी अन्य अंग प्राप्त नहीं कर सका।

कहानी में एक भाव, एक घटना, एक स्थान और एक चरित्र-चित्रण होने की आवश्यकता होती है परन्तु यह सभी प्रतिबन्ध निभाने

कभी कभी लेखक के लिये कठिन हो जाते हैं। कथानक से इन सब का सम्बन्ध है। कहानी यदि एक उद्देश्य या दृष्टिकोण को लेकर चलती है तो उसमें आद्योपांत भाव की एकता भी रहेगी। कहानी का बीज-वस्तु एक और स्पष्ट होना चाहिये। लेखक को लिखते लिखते बीज-वस्तु से बहक कर इधर उधर नहीं निकल जाना चाहिये। कथा का कथानक बीज-वस्तु पर ही केन्द्रित रहकर चलना चाहिये, कथा के तीन अंग होते हैं। आरम्भ, कथानक और अंत, परन्तु इन सब का विभाजन करके ही लेखक लेखनी उठाये यह आवश्यक नहीं। कथा सर्वदा सुसंगठित रहनी चाहिये। कथा में जहाँ तक हो सके एक ही घटना रखी जाये और यदि एक से अधिक रखनी अनिवार्य हो जायें तो उनका पारस्परिक सूत्र सुदृढ़ होना चाहिये। कथा में पात्र जितने कम हों उतना अच्छा है। व्यर्थ के पात्र तो होने ही नहीं चाहिये। कथा-वस्तु स्वाभाविक, सरल और मनोरंजक होनी चाहिये, जिससे पाठक उसे पढ़ने में उकता न जाये। कथा सांकेतिक हो तो और भी अच्छा है। कथा का प्रवाह टूटना नहीं चाहिये और नाही उसमें बाधा पड़नी चाहिये। कहानी अप्रतिपादित वस्तु की ओर कलात्मक रूप से संकेत करने वाली होनी चाहिये। उसे इतिवृत्तात्मक कथा-मूलक निबन्ध की भाँति नहीं लिखा जा सकता। कला होने के नाते इसमें साँकेतिक प्रवृत्ति का आना बहुत आवश्यक है।

वर्तमान कहानियों में चरित्रों का निर्माण मनोविज्ञान के आधार पर होता है। केवल समस्या मूलक कहानियों में ही हमें चरित्र-चित्रण मिलता है कथा प्रधान कहानियों में नहीं। पात्र-प्रधान कहानियों में पात्रों का विश्लेषण अनिवार्य हो जाता है। चरित्र-चित्रण उपन्यास का विषय अवश्य है परन्तु चरित्र का 'निर्माण' कथा में ही होता है और उसका विकास और विश्लेषण उपन्यास में हो पाते हैं। पात्र-प्रधान कहानी में चरित्र-चित्रण प्रधान है और मनोवैज्ञानिक कहानियों में

समस्या का उद्‌घाटन, परन्तु समस्या के उद्‌घाटन में चरित्र-चित्रण कुछ कुछ अंशों में अवश्य आ जाता है। यहां तक हम कथानक, पात्र और चरित्र-चित्रण पर विचार कर चुके। अब हमें शैली पर विचार करना है।

शैली का सम्बन्ध कला के विषय और लेखक की प्रणाली से विशेष होता है। शैली विषय और लेखक की प्रणाली तथा भाषा तीनों के सामंजस्य से बनती है। वस्तु-प्रधान, कथनोपकथन प्रधान, दृश्य-चित्रण-प्रधान तथा सम्बोधन-प्रधान शैलियों द्वारा कहानियाँ लिखी जाती हैं। कुछ कहानियाँ केवल कथनोपकथन के आधार पर चलती हैं। जयशंकर प्रसाद जी की कहानियाँ इसी श्रेणी के अंतर्गत आती हैं। कुछ कहानियों में कथनोपकथन तथा वस्तु वर्णं-दोनों का सामंजस्य करके कहानीकार चलता है और इस सम्मिलन को बहुत कला-पूर्ण ढंग से निभाता है। कुछ लेखक अपनी शैली में सम्बोधन पर विशेष ज़ोर देते हैं तो उनकी शैली सम्बोधन-प्रधान कहलाती है। कुछ शैलियाँ विचारों के आधार पर बनती हैं। कुछ लेखक की भाषा के आधार पर बनती हैं और कुछ व्यक्ति-प्रधान शैलियाँ होती हैं। "प्रबन्ध सागर" के भूमिका भाग में हमने शैलियों पर प्रकाश डाला है। उसे पढ़ने पर भी विद्यार्थियों को इस विषय का ज्ञान हो जायेगा और वह स्वयं भी विभाजन करके नवीन शैलियों के नाम-करण कर सकते हैं।

इस प्रकार कहानी वह साहित्य-कला है जो आज के हर पाठक को सर्वप्रिय है और विशेष रूप से भावुक प्रेमियों की। साहित्य का यह अंग अन्य सभी अंगों की अपेक्षा अधिक वृद्धि कर रहा है और करेगा भी क्योंकि जीवन की समस्याओं का सब से अधिक मनोरंजक रूप में केवल यही कला स्पष्टीकरण कर सकती है।

कहानी के विषय में संक्षिप्त विचार —

१. कहानी पर मु० प्रेमचन्द के विचार और उनकी परिभाषा।

२. कहानी का प्राचीनतम रूप।

३. आधुनिक कहानी की रूप-रेखा और उसकी शैलियाँ।

४. उपसंहार।

समालोचना और साहित्य

समालोचक साहित्यकार का पथप्रदर्शक होता है और आलोचना साहित्य का निर्धारित मार्ग। आलोचना के विषय में पहिले एक बात समझ लेनी चाहिये कि इस विषय पर लेखनी उठाने का साहस केवल विषय के पंडितों को ही करना चाहिये अन्यथा वह आलोचना पथभ्रष्ट करने वाले मूर्ख गाइड का कार्य करेगी जिससे लेखक, रचना और विशेष रूप से साहित्य की हानि होगी। आलोचना करने का अधिकार केवल उस व्यक्ति को ही है जो विषय का भली प्रकार ज्ञाता हो, विषय के ऊँच-नीच को समझता हो, उसके पक्ष और विपक्ष पर अपनी राय प्रकट कर सके।

आलोचना-क्षेत्र में जो कुछ भी कार्य हुआ है वह गद्य युग में ही समझा जा सकता है। वैसे संस्कृत साहित्य में भी हमें बड़े-बड़े ग्रंथों के भाष्य मिलते हैं और उनकी सुन्दर टीकायें भी हुई हैं परन्तु उस काल की और वर्तमान काल की टीका प्रणाली में महान अंतर है। प्राचीन आलोचना को हम समालोचना कहें भाष्य कहें, टीका कहें, प्रशंसा कहें या और भी इसी प्रकार का कोई शब्द खोजा जा सकता है परन्तु यह मानना होगा कि आचार्यों ने सभी ग्रंथों के केवल एक ही पहलू पर विचार किया है दूसरे पर नहीं। यदि प्रशंसा करने पर तुल गये हैं तो राई को पर्वत कर दिया है और यदि बुराई पर उतर आये हैं तो पर्वत को राई बना दिया है। संस्कृत-साहित्य से लगाकर हिन्दी

साहित्य के महावीर प्रसाद द्विवेदी युग तक हमें यह प्रणाली देखने को मिलती है। पं० पद्मसिंह शर्मा की बिहारी सतसई की टीका को देखने से यह पता चलता है कि शर्मा जी ग्रंथ हाथ में लेकर इस बात पर तुल गये हैं कि उन्हें ग्रंथ की प्रशंसा ही करनी है यदि ग्रंथ में कहीं पर ज्योतिष का कोई शब्द आ गया है तो उन्होंने ग्रंथकार को ज्योतिषी मान लिया है और यदि वैद्यक का शब्द आगया है तो वैद्यराज इसी प्रकार एक-एक शब्द से शर्मा जी ने बिहारी को न जाने कितनी उन विद्याओं का प्रकांड पंडित ठहराया है जिन्हें एक-एक को सीखने में मनुष्य का जीवन चला जाता है और उनका अध्ययन समाप्त नहीं होता।

ख़ैर! यह थी प्राचीन प्रणाली। आज का आलोचक या समालोचक इस दृष्टिकोण से यदि चलेगा तो वह लेखक का तो मार्ग अवरुद्ध करेगा ही अपना भी मार्ग अवरुद्ध कर लेगा। आज केवल तारीफ़ करने वाली आलोचना काम नहीं देती। समालोचक को विषय का विश्लेषण करना होता है। विषय के अच्छे-अच्छे तत्वों को एक ओर निकालना होता है और न्यूनता प्रदर्शित करने वाले तत्वों को एक तरफ़। फिर समालोचक को यह भी प्रदर्शित करना होता है कि लेखक के उन तत्वों में कमी रह जाने का कारण क्या है और जिन तत्वों में सौंदर्य आया है, उनमें सौंदर्य लेखक की किस विशेषता के कारण आया। आज के समालोचक को रचना के साथ साथ लेखक को भी समझना होता है समालोचक का कर्त्तव्य केवल अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा भर कहकर समाप्त नहीं होता। यदि वह किसी चीज़ को बुरा कहने का साहस करता है तो उसे अच्छी वस्तु का उदाहरण देना होता है, उसके अनुकूल परिस्थितियों का संकेत करना होता है और लेखक के सम्मुख एक सुझाव रखना होता है जिससे वह भविष्य में इस प्रकार की भूल अपनी रचनाओं में न करे। ऐसा करने का साहस साधारण समालोचक नहीं कर सकता।

समालोचना पर साहित्य का भविष्य आधारित है। यदि आलोचनायें उचित हैं और उनका मार्ग-प्रदर्शन ठीक है तो कोई कारण नहीं कि साहित्य का भविष्य उज्वल होगा और यदि आलोचनाओं में स्वार्थ और द्वेष की बदबू आती है तो समझ लो कि उन आलोचनाओं से प्रभावित होने वाला साहित्य भी सड़ जायेगा और एक न एक दिन उससे भी बदबू आने लगेगी। यदि अच्छे लेखक को प्रोत्साहन न मिला तो वह लिखना बन्द कर देगा और यदि खराब लेखक की प्रशंसा हुई। उसे प्रोत्साहन मिला तो वह अपनी त्रुटियों का साहित्य में ज्यों का त्यों रख कर गले सड़े साहित्य से साहित्य भंडार को भर देगा और कोई कारण नहीं है कि फिर उसके सम्पर्क में आकर अच्छे साहित्य में भी सड़न पैदा न हो जाये। अच्छे लेखक उसका अनुकरण करना प्रारम्भ कर देंगे और इस प्रकार एक ऐसी गलत प्रणाली का साहित्य में आविष्कार होगा कि आवे का आवा ही खराब हो जायेगा और फिर कुम्हार के उस आवे में से जो बर्तन भी निकालेगा वह या तो टूटा हुआ होगा या कच्चा होगा। परिपक्वता नहीं आ पायेगी और साहित्य में एक ऐसा कमज़ोर उथलापन आ जायेगा। वह साहित्य उच्च कोटि के साहित्यों में गिना जाना बन्द हो जायेगा। वह अन्य साहित्यों से दौड़ में पछड़ कर पीछे रह जायेगा और इस सब का दोष जायेगा समालोचकों के सिर पर।

समालोचना स्वयं भी एक साहित्य है। यह न केवल साहित्य के समझने में सहायक के रूप में ही प्रशंसनीय है वरन स्वतंत्र रूप से भी अपने में अपनापन रखता है। कहानी, उपन्यास, इत्यादि के पढ़ने में जिस प्रकार पाठक आनंद-लाभ करते हैं उसी प्रकार अच्छी समालोचना के पढ़ने पर भी पंडितों के सिर झूम जाते हैं और वह लेखक के प्रति वाह वाह कहे बिना नहीं रहते। समालोचना उथला विषय नहीं है, गूढ़ विषय है, खोज का विषय है जिसमें लेखक को मस्तिष्क और भावुकता

दोनों से काम लेना होता है। लेख की खोज करते हुए भी समालोचक को लेखक के प्रति भावुकता को नहीं खो देना होता। समालोचक चाहे डाक्टर की भाँति लेखों को काट-छांट कर फेंक दें परन्तु उसका उद्देश्य सर्वदा लेखक का सुधार करना ही होना चाहिये। नश्तर मारने वाला भी डाक्टर हमें प्रिय लगता है और वह समाज का सबसे बड़ा हितैषी है। इसी प्रकार समालोचक भी साहित्य का सबसे बड़ा हितैषी होता है। डाक्टरों की भांति इनके भी दो भेद हैं। एक वह जो मीठी तथा पैनी छुरी से काम लेता है और एक वह जो भावुकता को पास तक नहीं फटकने देता। वह यदि कोनैन देना चाहता है तो खांड चढ़ी हुई गोलियाँ नहीं देता, बस साधारण ही दे डालता है।

इस प्रकार समालोचना साहित्य का प्राण है, स्फूर्ति है। मार्ग दर्शक है। न्यूनता-निवारण-विधि है, सहयोग है, प्रोत्साहन है, क्या नहीं है आलोचना, यदि वह वास्तव में ..ने कर्त्तव्य को समझकर लिखी गई है। एक बच्चे का बनना और बिगड़ना जिस प्रकार एक शिक्षक पर आधारित है उसी प्रकार एक लेखक का बनना और बिगड़ना उसके समालोचक पर आधारित है।

समालोचना और साहित्य पर संक्षिप्त विचार —

१. प्राचीन साहित्य में समालोचना और उसके प्रकार।

२. समालोचक का कर्त्तव्य और उसका उत्तरदायित्व।

३. उचित समालोचना से लाभ और ग़लत समालोचना से हानि।

४. समालोचना की आवश्यकता।

५ उपसंहार।

काव्य में रस और अलंकार

साहित्य के आचार्यों में काव्य के विषय में दो प्रधान विचार मिलते हैं। एक चमत्कारवादी विचार-धारा और दूसरी रसवादी विचार-धारा। रीति-काल में विशेष रूप से जिस धारा का ज़ोर रहा वह अलं-

कारवादी विचार धारा है। शेष सभी कालों में रसवादी धारा का प्राधान्य मिलता है। अलंकारवादी विचार-धारा के दो प्रवाह हिन्दी साहित्य में आये, एक केशव द्वारा, जिसमें मम्मट और उद्‌घट का अनुकरण किया गया था। इस चमत्कारवादी काव्य धारा में प्रवाहित होने वाले कवि कविता को अलंकारों के लिये मानते हैं। वहाँ वाह-वाह का बोल बाला-रहता है और हृदय को छूने वाले तत्वों का अभाव। केशव की तमाम रामचंद्रिका को पढ़ जाने पर भी कहीं एक पंक्ति ऐसी नहीं मिलेगी जिसे पढ़कर पाठक एक क्षण के लिये हृदय थाम कर बैठ जाये, हाँ, यह अवश्य है कि यदि पंडित है तो वह शब्दों की उछल-कूद पर वाह वाह हर पद पर कह सकता है। चमत्कार प्रधान कविता लिखने वाले कवियों में बिहारी को हम अपवाद स्वरूप ले सकते हैं क्योंकि उसकी कविता में चमत्कार की प्रधानता होते हुए भी रस का नितांत अभाव हो ऐसी बात नहीं है।

'अलंकार' का अर्थ है 'सौन्दर्य वर्धक आभूषण'। आभूषण किसी भी वस्तु का बाह्यरूप बन सकते हैं अंतरंग नहीं। बाह्यरूप कितना भी सुन्दर क्यों न हो जब तक उसमें प्राण न हों, जीवन का रस न हो तब तक वह बाह्य रूप व्यर्थ ही रहता है। 'रस' का सम्बन्ध काव्य के बाह्यरूप से न होकर उसकी आत्मा से होता है। काव्य की आत्मा में जीवन-स्फूर्ति लाना, मादकता लाना, हृदय आहित लाना, यह सब रस का कार्य है। यदि 'अलंकार' काव्य में आकर्षण पैदा करता है तो 'रस' काव्य को जीवन प्रदान करता है। जिस प्रकार एक पत्थर की सुन्दर मूर्ति को आभूषण से लादने पर भी वह चल नहीं सकती चाहे संगकार ने उसे कितना ही सुन्दर क्यों न बनाया हो और उसका अङ्ग-अङ्ग आभूषणों से लदा हुआ क्यों न हो। उसी प्रकार काव्य भी बिना रस के उसी सुन्दर प्रस्तर-मूर्ति के समान है यदि उसमें रस का संचार नहीं है। रस का संचार काव्य की प्रधान आवश्यकता है

रस का सम्बन्ध संचारीभावों और उद्भावों से है और उन्हीं का आश्रय लेकर वह परिपक्व अवस्था तक पहुंचता भी है। रस-विहीन काव्य उस ओंडे के पट्ठे के समान है जिस गन्ने को कोल्हू में पेलकर रस निकाल लिया गया हो और वह सूखा पट्ठा अवशेष रह गया हो। अलंकारों से काव्य का सौंदर्य बढ़ता है, उसमें प्रभावोत्पादकता आती है, भाषा में सौंदर्य आजाता है और कहीं कहीं पर चमत्कार रस प्रवाह में भी सहायक होता है परन्तु फिर भी अलंकारों का प्रयोग सोच समझ कर करना होता है, आँख मीच कर नहीं। घी बल-वर्धक पदार्थ है परन्तु अधिक घी लेने से हानि प्रद ही सिद्ध होता है। मात्रा से अधिक अलंकारों का प्रयोग भी काव्य में सौंदर्य लाने की अपेक्षा उल्टा भद्दापन लाने लगता है और काव्य उनके भार से बोझिल हो उठता है। उनकी दशा ठीक उसी प्रकार की हो जाती है जैसे मानो किसी नाजुक सी बालिका के गले में पाँच सेर की माला डाल दी जाये, उसके हाथों में दो सेर के कड़े, पैरों में पाँच पाँच सेर के आभूषण और इसी प्रकार आभूषणों से उसे लाद दिया जाये। अब चाहे वह आभूषण सोने को ही क्यों न हों, और उनमें हीरे जवाहरात ही क्यों न जड़े हों, परन्तु उस बालिका का बदन तोड़ने के लिये तो वह आभूषण का कार्य न करके हथकड़ी, बेड़ी और तौक़ का कार्य करेंगे और बोझ के कारण उसकी गरदन ऐसी झुक जायेगी कि वह अपने साधारण सौंदर्य को भी अवशेष नहीं रख सकेगी। उसकी गर्दन झुक जायेगी कमर में बल पड़ जायेगा, मुँह पर स्वेद-कण झलक आयेंगे, मस्तक पर उद्विग्नता के चिन्ह होंगे और वह अपने को एक ऐसे विचित्र वातावरण में पायेगी कि उसका मन और उसकी आत्मा अपने को उन आभूषणों से मुक्त करने के लिये छट पटाने लगेगी। अब सोचिये ऐसे आभूषणों से क्या लाभ? काव्य की दशा भी अधिक अलंकारों के चक्कर में पड़कर ठीक उस बालिका की ही भाँति

होती है। काव्य का सौंदर्य नष्ट हो जाता है और अलंकारों की कूद-फाँद नट की कलाबाज़ी से बढ़कर और कुछ नहीं रहती।

किसी काव्य को सुनकर या अभिनय को देखकर हृदय में जो अकथनीय और अनुपम रस उत्पन्न होता है उसे रस कहते हैं। बुद्धि कल्पना और अनुराग का आश्रय लेकर कवि काव्य का सृजन करता है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारीभाव मानव के मन में उत्पन्न होते हैं। स्थायीभाव स्थिर रहते हैं और अन्य सब परि-स्थितियों के वश उत्पन्न होते रहते हैं। "स्थायी भाव विभाव के सहारे उत्पन्न और पोषित होकर अनुभाव रूपी वृक्ष बनता है। फिर संचारी फूल के समान क्षण-क्षण फूलकर इन सब के संयोग से मकरंद रूप रस बनता है जो कि मधुप रूपी कवियों का जीवनाधार होता है।" इससे सिद्ध होता है कि रस स्थायी भाव की परिभाषा की परिपाक अवस्था है और वह हृदय में किसी न किसी रूप में हर समय वर्तमान रहती है।

अलंकार दो प्रकार के होते हैं, एक शब्दालंकार और दूसरे अर्था-लंकार। शब्दालंकार का सम्बन्ध केवल शब्द तक सीमित रहता है काव्य के अर्थ से उसका सम्बन्ध नहीं रहता। दूसरे प्रकार के अलंकार अर्थालंकार होते हैं जिनका सम्बन्ध काव्य के अर्थ से रहता है। प्रथम प्रकार के अलंकार में ध्वनि की विशेषता रहती है और वह संगीत में बहुत सहायक होते हैं। दूसरे प्रकार के अलंकार काव्य में गाम्भीर्य लाते हैं और कवि के पांडित्य की कसौटी के रूप में भी हम उन्हें रख सकते हैं। कुछ लोगों का मत है कि "अलंकारों के बिना भी कविता अच्छी बन सकती है, अतः ये अनावश्यक हैं।" परन्तु हम इससे सहमत नहीं। कविता में जहाँ अलंकारों का आधिक्य बुरा लगता है, वहाँ इनका अभाव भी अखरने लगता है। यत्र-तत्र अलंकारों के आजाने से काव्य की रोचकता और सौंदर्य में वृद्धि होती है। बिना अलंकारों

के भी काव्य शोभा नहीं क्यों कि शृंगार सौंदर्य वर्धक होता है और सौंदर्य के बिना काव्य-कला निरर्थक है।

रस नौ हैं 'शृंगार', 'हास्य', 'करुणा', 'रौद्र', 'वीर', 'भयानक', 'वीभत्स', 'अद्भुत' और 'शांत' और इनके नौ ही स्थायी भाव हैं जो हृदय में हर समय वर्तमान रहते हैं। नाट्य शास्त्र में आठ 'रस' माने जाते हैं क्योंकि वहाँ 'शांत रस' के लिये कोई स्थान नहीं। कुछ विद्वान 'स्नेह' को स्थायीभाव मान कर 'वात्सल्य' को एक दसवां रस मानते हैं। कुछ विद्वान 'अनुराग' को स्थानीय भाव मानकर 'भक्ति' को ग्यारहवाँ रस मानते हैं परन्तु परम्परा गत प्रचलित रस नौ ही हैं, क्योंकि 'अनुराग' और 'स्नेह' को पंडित 'रति' के अंतर्गत लेकर भक्ति और वात्सल्य को भी शृंगार के ही अंतर्गत ले लेते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि काव्य के लिये अलंकार और रस उसके बाह्यरूप और आत्मा के समान ही कला को जीवित रखने के लिये दोनों ही नितांत आवश्यक है। रस विहीन काव्य काव्य नहीं है और अलंकार-विहीन काव्य सुन्दर नहीं है। सुन्दर न होने पर भी काव्य अपने आसन से गिर जाता है और उसके पठन पाठन में जो अलौकिक आनंद आना चाहिये वह नहीं आ पाता। अंत में रस और अलंकार के विषय को समाप्त करते हुए हम विद्यार्थियों को यह और बतलावें कि भरत मुनि और विश्वनाथ जी ने रस को काव्य की आत्मा माना है और यही मत आज के विद्वान भी मानते हैं। दण्डी मम्मट आदि का अलंकार को काव्य की आत्मा मानने वाला मत आज के काव्यकारों के लिये मान्य नहीं है।

काव्य में रस और अलंकार संक्षिप्त रूप में—

१. अलंकार के लिये काव्य की रचना नहीं होनी चाहिये। काव्य की सौंदर्य वर्धकता के लिये अलंकारों का प्रयोग होना चाहिये।

२. रस काव्य की आत्मा है। बिना रस काव्य निर्जीव पत्थर के पुतले के समान है।

३. रस स्थायीभाव के रूप में हृदय में हर समय वर्तमान रहता है जो परिस्थिति पाकर पनपता है।

४. उपसंहार।

काव्य की कसौटी

कोई काव्य हीन है अथवा उत्कृष्ट इसकी कसौटी काव्य के गुण और दोष हैं। इस लिये उस कसौटी का निर्णय करने से पूर्व यह आवश्यक है कि काव्य के उन गुण और दोषों का निर्णय किया जाये कि जिनके आधार पर काव्य का हीनत्व और उत्कृष्टत्व निर्धारित करना है। आज के समालोचक और प्राचीन विचारकों के मत में अनेकानेक दृष्टिकोणाँतर हो गये हैं। प्राचीनतम विचारक अथवा यों कहिये कि काव्याचार्य अलंकार को काव्य की कसौटी मानते थे। इस विचार के प्रवर्तकों के रूप में हम मम्मटाचार्य और आचार्य उद्भट को ले सकते हैं। उस समय अलंकार के अंतर्गत केवल शब्दालंकार और अर्थालंकार ही नहीं आते थे वरन काव्य के गुण, दोष, ैली इत्यादि सभी विचार इन चमत्कार वादी आचार्यों के विचार से अलंकार के ही अंतर्गत आ जाते थे।

धीरे २ अलंकार का यह स्थूल विचार खंड खंड होकर रसवाद, रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद, ध्वनिवाद इत्यादि के क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ और आगामी आचार्यों ने समय समय पर अपने विचार प्रकट किये। इन सब वादों के आचार्यों ने अपने अपने वाद को काव्य की कसौटी माना है। परन्तु यदि हम विश्लेषणात्मक रूप से विचार करें तो उन में से एक भी वाद काव्यत्व की सर्वाङ्गीणता के विचार से सुन्दर काव्य की कसौटी नहीं बन सकता। यह सभी वाद काव्य के आंगिक निरीक्षण

में ही सफल हो सकते हैं विषय की सम्पूर्ण रूप से विवेचना नहीं कर सकते। पंडित राज जगन्नाथ ने "रमणीय अर्थ" वाले काव्य को सुन्दर काव्य कहा है। विश्वनाथ ने "रस" को काव्य की कसौटी माना है। आचार्य उद्‌भट ने "अलंकार" को काव्य की आत्मा माना है। आचार्य कुंतल के विचार से 'वक्रोक्ति' प्रधान काव्य सर्वोत्तम काव्य है। आचार्य वामन ने "रीति" को ही काव्य का सर्वोत्तम गुण कहा है। इस प्रकार प्राचीनतावलम्बियों ने काव्य की यह पांच कसौटियाँ निर्धारित की हैं। साहित्य के मर्मज्ञों ने इन्हीं पांच विचारों के मताधीन ध्वनि सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, और रीति सम्प्रदाय का निर्माण किया और यह पांचों धाराएं समय समय पर अपनी अपनी विशेषता के साथ हिन्दी साहित्य में प्रवाहित होती आ रही हैं।

ऊपर दी गई पांचों धाराओं के आचार्यों ने अपना मतनिर्धारित करने में हठ से काम लिया है समन्वय की भावना से नहीं। किसी भी विचार के निर्धारित करने में जब हठ से काम लिया जायेगा तो सत्य को तिलांजलि देनी होगी। यही कारण है कि किसी तथ्य निरूपण में कभी भी हठ से काम नहीं लेना चाहिए। जब हम काव्य की कसौटी पर विचार करते हैं तो हमें विचारना चाहिये कि हमारा विचार किसी भी ऐसी वस्तु पर केन्द्रित न हो कि जिसका सम्बन्ध काव्य के किसी आंशिक रूप से हो। आज का विचारक काव्य के किसी गुण को काव्य की कसौटी न मान कर पाठक या रसिक हृदय व्यक्ति के हृदय को काव्य की कसौटी मानता है। रसिक हृदय रचना पढ़कर एक दम कह सकता है कि अमुक काव्य किस श्रेणी का है? जो रचना पाठक के हृदय को जितने निकट से छूने में सफल होती है वह रचना उतनी ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार सुसंकृत-रासिक पाठक या श्रोता का हृदय ही उत्तम काव्य की कसौटी हुआ। सभी रसिक हृदय व्यक्तियों में भी

अंतर होता है और फिर संसार के सभी व्यक्ति सुसंस्कृत या रसिक भी नहीं हो सकते। इस लिए यह कसौटी भी सबके लिए मान्य नहीं हो सकती।

वास्तव में काव्य के परखने के लिये किसी निश्चित कसौटी को निर्धारित करना एक समस्या है। काव्य-समीक्षा के लिये किसी निश्चित सिद्धांत का निरूपण करना कठिन है। किसी भी काव्य को परखने के लिए ऊपर दिये गये वादों को भी ध्यान में रखना चाहिये। यह सत्य है कि उनमें से पूर्ण एक भी नहीं है परन्तु आंशिक रूप से सभी का अच्छे साहित्य में किसी न किसी रूप में समावेश रहा है। रीति, वक्रोक्ति और अलंकार यह काव्य के गुण और शैलियाँ भी कही जा सकती हैं। गुण और शैली दोनों का ही काव्य में महत्व है। जिस सीमा तक इनका काव्य में महत्व है उसी सीमा तक यह काव्य की कसौटियां भी हैं। यह तीनों ही काव्य के गुण हैं सम्पूर्ण काव्य के नहीं, किसी किसी काव्य में इनमें से एक की प्रधानता भी हो सकती है और किसी में दो की।

'रीति' 'वक्रोक्ति' और 'अलंकार' के बाद रह जाते हैं ध्वनि और 'रस'। कुछ आचार्य 'ध्वनि' को काव्य मानते हैं और कुछ रस को परन्तु हम इन पांचों के समन्वय को काव्य कहते हैं। 'ध्वनि' और 'रस' काव्य के वह प्रधान गुण हैं कि जिन्हें आचार्य आत्मा कह कर पुकारते हैं। काव्य में भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव यह सभी खोजने पड़ते हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि अच्छे काव्य में यह सभी प्रचुर मात्रा में मिल सकें। किसी काव्य में किसी विशेष गुण का आधिक्य होता है तो दूसरे में किसी दूसरे का।

ऊपर काव्य के अन्तर्गत जिन जिन तत्वों का हमने विवेचन किया है उनमें बौद्धिक तत्व पर विचार नहीं किया गया। आज के युग में मनोविज्ञान का स्थान साहित्य में प्रधान है। केवल रस और ध्वनि के

ही आधार पर कोई साहित्य सर्वगुण सम्पन्न नहीं हो सकता। आज का समालोचक साहित्य के अन्य तत्वों पर विचार करने से पूर्व मनोवैज्ञानिक तत्व को खोजता है। 'रस' का सम्बन्ध हृदय से है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। इस प्रकार मानव में हृदय और मस्तिष्क यही दो प्रधान स्थान प्रतीत होते हैं जिनका साहित्य से सम्बन्ध है। किसी काव्य में हृदय तत्व की प्रधानता रहती है तो किसी में बुद्धि तत्व की। दोनों ही प्रकार के साहित्य उच्च कोटि के साहित्य हो सकते हैं। हिन्दी के भक्ति साहित्य में हृदय पक्ष प्रधान है तो संत साहित्य में बुद्धि पक्ष। जिस साहित्य में दोनों पक्षों का सामंजस्य हो वह सबसे सुन्दर काव्य हो सकता है। इस प्रकार हमने काव्य का विवेचन करके उसके पांच वादों पर विचार किया और अंत में काव्य के हृदय पक्ष और बुद्धि पक्ष पर दृष्टि डाली। अब प्रश्न रह जाता है उत्तम काव्य की कसौटी के निर्धारित करने का। इसलिये काव्य कसौटी पाठक का हृदय और उसकी बुद्धि ही ठहरते हैं। इन्हीं दो मानव के पक्षों पर उत्तम काव्य का माप दंड निर्धारित किया जा सकता है।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. काव्य के प्रधान गुण कौन कौन से हैं ?
२. रीति वाद, वक्रोक्तिवाद, अलंकार वाद, ध्वनि वाद और रसवाद का स्पष्टीकरण।
३. अच्छे काव्य में सभी गुणों के समन्वय की आवश्यकता है।
४. अच्छे काव्य में हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनों अथवा एक की भी प्रधानता रह सकती है।
५. उपसंहार।

कुछ काव्य-कला सम्बन्धी निबन्धों की रूप-रेखायें

आधुनिक साहित्य में रस का स्थान

१. रस और प्रज्ञात्मकता; ज्ञान और राग के पारस्परिक सम्बन्ध।

२. प्राचीन साहित्य-शास्त्रों में की गई रस-विवेचना और उसका संक्षिप्त विचार।

३. आधुनिक कविता व्यंजनात्मकता (Objective) की ओर से आत्म व्यंजनात्मकता (Subjective) की ओर बढ़ रही है।

४. आत्मव्यंजनात्मक कविता पर बंगला और अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव है जिसमें रस-सृष्टि पर ध्यान नहीं दिया गया। यह सब भाव प्रधान कवितायें हैं।

५. आज का साहित्य कोरा रस-प्रधान साहित्य नहीं है उस पर बुद्धि-वाद का पूर्ण प्रभाव है, और बिना मनोविज्ञान के आज जिस साहित्य का निर्माण किया जायगा वह सम्मान को प्राप्त नहीं हो सकता।

६. प्राचीन रस के दृष्टिकोणों में भी अन्तर होता जा रहा है। वीर रस केवल भूषण और सूदन की मार-काट तक ही सीमित नहीं रह सकता। आत्मबलिदान और आत्मपीडन की भावनाओं को लेकर आज वीर रस पूर्ण कवितायें लिखी जाती हैं। 'वीभत्स' में केवल रक्त, मांस, मज्जा इत्यादि का नाम लेने भर से काम नहीं चल जाता। श्रृंगार का क्षेत्र केवल 'परकीया' और 'सामा-न्या' तक ही सीमित नहीं रहा। श्रृंगार और दाम्पत्य का अन्तर कवियों ने आज स्पष्ट कर दिया है। आज के कवियों का सम्मान केवल रस सिद्धान्त के रीतिकालीन विश्लेषणों तक ही सीमित नहीं है। उसमें विभिन्न भावों का चमत्कार और सौंदर्य भर कर मुक्तक कविताओं की रचना की जाती है।

७. आज के मुक्तक-कविता-क्षेत्र में रस परिपाक के लिये कम सम्भा-वना है। छोटे २ गीतों में अनुभाव विभाव इत्यादि भरकर रस

उत्पादन की चेष्टा नहीं की जाती। आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, अनुभव इत्यादि सभी को यदि उस छोटी सी कविता में ठूंसकर रस पैदा करने का प्रयत्न किया जाय तो न रस ही उत्पन्न होगा और न भावों की ही तीव्रता और सौंदर्य उसमें आ पायेगा।

८. आज के बदलते हुए दृष्टिकोण में रसों के वर्तमान प्रयोगों को देखना होगा और उनका अन्तर समझना होगा। रस के साथ भावों का समावेश और आत्माभिव्यक्ति का मनोवैज्ञानिक पुट का आना आवश्यक है। इस प्रकार वर्तमान परिस्थिति में रस का जो रूप बन गया है उस पर नवीन प्रकार से विचार करने की आवश्यकता है और इस बात की भी आवश्यकता है कि समय और आवश्यकता के अनुसार उन्हें परिवर्तित और परिवर्धित किया जाये।

काव्य में करुणा रस का स्थान

१. काव्य शास्त्र के आचार्यों ने 'शृंगार' और 'करुण रस' को रस-राज माना है। भवभूति ने करुण-रस को स्वतन्त्र मानकर अन्य रसों को इसका विकार मात्र माना है।

२. शृंगार रस जीवन की सबसे अधिक परिस्थितियों को छूता है। यह सब रसों से अधिक व्यापक है। इसमें सबसे अधिक संचारी भाव आते हैं। इसलिये इसे रसराज कहा जाता है परन्तु स्थाई प्रभाव और मनोवृत्तियों के परिष्कार को यदि काव्य में हम प्रधानता दें तो 'शृंगार' को रस राज न कहकर हमें 'करुण रस' को ही रस राज कहना होगा।

३. करुण रस की अनुभूति का विश्लेषण। करुण रस में अपने दुःख के साथ ही साथ पर दुःख की भावना का प्राधान्य रहता है और पर दुःख में भी आत्मा उसी प्रकार द्रवित हो उठती है जिस प्रकार अपने दुःख में।

३. " मनुष्य के अन्तःकरण में सात्विकता की ज्योति जगाने वाली करुणा है।" राम चन्द्र शुक्ल। जैन और बौद्ध धर्म में करुण रस को प्रधानता दी गई है। मानव के हृदय पर किसी भी मनोवृत्ति का इतना उद्वेग पूर्ण और स्थाई प्रभाव नहीं पड़ता जितना करुणा का पड़ता है।

५. करुणा के कई भेद किये जा सकते हैं; जैसे स्त्री-विछोह, पति-विछोह, पुत्र-विछोह इत्यादि। पति विछोह में पद्मावत में नाग-मती की क्या दशा होती है इससे हिन्दी साहित्य के पाठक पूर्ण परिचित हैं। पुत्र-विछोह में दशरथ का प्राणांत हो जाता है। यह दो प्रधान करुण रस के कारण हैं। इनके अतिरिक्त धन सम्पत्ति को लुट जाने पर भी करुणा का उदय होता है परन्तु यह कारण कवि हृदय पर विशेष प्रभाव नहीं डालता।

६. करुणा की प्रवृत्ति मानव की श्रेष्ठतम प्रवृत्ति है जिसका प्रभाव भावुक हृदय पर होना अनिवार्य है। वैभव को देख कर चाहे हम उसकी ओर आकर्षित न हों परन्तु किसी को यदि वास्तव में करुणाजनक परिस्थिति में देखते हैं तो चाहे हम उसे सहायता पहुँचाने के योग्य भी न हों परन्तु हमारा हृदय अवश्य पिघ-लने लगेगा।

७. हिन्दी साहित्य में सम्पूर्ण रूप से किसी कवि ने करुण रस प्रधान ही रचना की हो ऐसी बात न होते हुए भी प्राचीन साहित्य में सूर और नन्ददास के भ्रमरगीत तथा जायसी का नागमती विरह वर्णन विशेष उल्लेखनीय हैं। आधुनिक कविता-साहित्य में करुण रस पर प्रबन्धात्मक और मुक्तक दोनों प्रकार की उच्चकोटि की रचनायें मिलती हैं। मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, पंत, महादेवी वर्मा, बच्चन इत्यादि कवियों ने उच्चकोटि की करुण रस प्रधान कवितायें की हैं।

८. करुणा का स्थान हृदय में बहुत स्थाई है। किसी भी काव्य को हृदय-ग्राही बनाने के लिये या तो उसमें शृंगारिकता का होना आवश्यक है या संवेदना का। संवेदना प्रधान साहित्य समाज और देश के लिये शृंगारिक काव्य की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। संवेदना के साथ करुणा का घनिष्ट सम्बन्ध है। जहां संवेदना है वहां सहयोग है और जहाँ सहयोग है वहां उत्थान है। इस प्रकार करुण रस प्रधान साहित्य उन्नति मूलक है अवनति मूलक नहीं। उसमें निराशा का स्थान अवश्य है परन्तु दया और संवेदना से उत्साह अधिक गति के साथ साहित्य में स्थान पाता है।

९. उपसंहार—इस प्रकार करुण रस द्वारा हमारी सहानुभूति को प्रश्रय मिलता है, संवेदना के साथ सहयोग और प्रोत्साहन मिलता है। भावुक हृदय की कोमल वृत्तियाँ करुण रस से प्रभावित हो कर जन-मंगल की ओर अग्रसर होती हैं।

काव्य में कल्पना का स्थान

१. भूमिका—वास्तविक अनुभव, लोकज्ञान और मनोविज्ञान का सम्पूर्ण ज्ञान होने पर भी काव्य का सृजन बिना कल्पना के नहीं हो सकता। साधारण वस्तु के वर्णन में अलौकिक आनंद की अनुभूति करना कवि-सुलभ कल्पना का ही कार्य है।

२. काव्य में अलंकारों का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है और अलंकारों का जन्म ही कल्पना से होता है। बिना कल्पना के अलंकारों में चमत्कार नहीं आ सकता। प्राचीन आचार्यों के एक वर्ग ने तो कल्पना को इतना महत्वपूर्ण माना है कि उन्होंने अलंकार को ही काव्य मान लिया है।

३. कवि संसार की सभी वस्तुओं को नहीं देखता परन्तु अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर अपनी अनुभूति से उन तथ्यों तक

अपनी पहुँच कर लेता है जिन्हें साधारण व्यक्ति आँखों से देख कर भी प्राप्त नहीं कर सकता।

४. कवि संसार के सम्मुख देश, समाज और मानव के हित के लिये आदर्श उपस्थित करता है। यह आदर्श ही प्रतीक के रूप में सामने आते हैं और मानव का पथ प्रदर्शन करते हैं। कवि यह सब कुछ कल्पना के ही आधार पर कर सकता है। गोस्वामी तुलसी-दास ने राम, सीता, दशरथ, भरत इत्यादि के चरित्रों का निर्माण कल्पना के ही तो आधार पर किया है।

५. कल्पना आनन्द मूलक है, मनोरंजन मूलक है, रसोत्पादक है और गाम्भीर्यवर्धक है। इस प्रकार इन सभी गुणों को काव्य में कल्पना से प्रश्रय मिलता है। कल्पना कवि की वह शक्ति है कि जिसके बल से कवि मानव को देवता और निर्बल को सबल बना सकता है। कल्पना के आधार से मानव अपनी वर्तमान कठिन परिस्थितियों को भूलकर भविष्य के आनंद में झूम सकता है और इस प्रकार प्रयत्नशीलता की ओर अग्रसर होता है।

६. कल्पना द्वारा कवि अव्यवहारिक और व्यवहारिक बातों की सीमा तक सुगमतापूर्वक पहुँच जाता है। वह परिचित वस्तु में नमक मिर्च मिलाकर उसे ताज़ा बना देता है। अनदेखी वस्तु को कल्पना द्वारा पाठक के सम्मुख उपस्थित कर देता है। पुराने अनुभवों और इतिहास का आधार लेकर पूर्वकाल को वर्तमान में लाकर सजा देता है और इस प्रकार समाज अपनी आज की तुलना प्राचीन से करके उन्नति का मार्ग खोज लेता है।

६. उपसंहार—कल्पना में सत्य और असत्य का समन्वय है, उच्छृ-खलता और गाम्भीर्य का सामंजस्य है। कल्पना के आधार पर ही कवि इस लोक में उस लोक के चित्र उपस्थित करता है और

मानव को आशावादी होने का पाठ पढ़ाता है। मानव जीवन से नैराश्य को नष्ट कर देने के लिये कल्पना नितांत आवश्यकता है। इस प्रकार कल्पना काव्य का वह प्रधान गुण है कि जिसके बिना काव्य की भित्ति खड़ी ही नहीं की जा सकती और यदि हो भी जायेगी तो उसमें सौंदर्य और चमत्कार का अभाव रहेगा और यह दोनों काव्य के प्रधान गुण हैं।

काव्य में शैली की विशेषता

१. परिभाषा—शैली अंग्रेजी शब्द (Style) का पर्यायवाची है। मन के विचार, बुद्धि के चिंतन और हृदय की अनुभूतियों के काव्य में स्पष्टीकरण के ढंग को शैली कहते हैं।

२. यह स्पष्टीकरण अतः भाषा के कारण, भावनाओं के कारण, चिंतन के कारण और व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण होता है। इस लिये शैलियों का विभाजन भी इन्हीं विशेषताओं के आधार पर किया जाता है।

३. विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और तर्क प्रधान चार प्रधान साहित्य की शैलियां मानी जाती हैं और इन चारों में अपनी अपनी विशेषतायें होती हैं। इन सभी शैलियों के मूल में मानव की दो प्रधान प्रवृत्तियां कार्य करती हैं। (१) चिंताधर्मी प्रवृत्ति और (२) अनुभूति धर्मी प्रवृत्ति।

४. भाषा सम्बन्धी शैलियां भाषा के गुणों और दोषों के आधार पर बनती हैं जो माधुर्य, ओज, प्रसाद इत्यादि गुणों से युक्त होती हैं।

५. व्यक्ति प्रधान शैली में लेखक का व्यक्तित्व झलकता है। उसकी व्यक्तिगत विशेषतायें उसके लेख की भाषा और उसके भावों में इस प्रकार प्रयुक्त होती हैं कि उस लेख को पढ़ते ही पाठक कह उठता है कि अमुक रचना अमुक व्यक्ति की है।

६. कुछ आचार्य रसों के आधार पर भी नवीन शैलियों का निर्माण करते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक लेखक अपनी शैली पृथक ही मानते हैं।

७. इस प्रकार काव्य के आकार में शैली को यदि हम काव्य की देह नहीं कह सकते हैं। तो उसकी वेश-भूषा अवश्य कह सकते हैं। काव्य की सजावट, काव्य का भाव, काव्य का विषय इन सभी का शैली से घनिष्टतम सम्बन्ध है। शैली काव्य में आकर्षण पैदा करती है और पाठक के मन में काव्य को पढ़ने की रुचि पैदा करना भी काव्य-शैली का ही गुण है। शैली विहीन काव्य बेपैंदी के लोटे के समान है जिसका कोई स्थायित्व नहीं।

साहित्य किस लिये ?

१. साहित्य किस उद्देश्य से लिखा जाता है इसके विषय में अनेकों मत प्रचलित हैं और सभी मताधारी तर्क द्वारा अपने पक्ष को पुष्ट करते हैं। मनोवैज्ञानिक साहित्य को 'अहं' के स्पष्टीकरण का माध्यम समझता है। उसकी दृष्टि में 'आत्म प्रकाशन' ही साहित्य का चरम लक्ष है। आशावादी साहित्य द्वारा भविष्य के सुखमय होने का स्वप्न देखता है। आदर्शवादी—समस्त संसार में प्यार और सहिष्णता की कल्पना करता है। नीतिवादी साहित्य द्वारा मन और आत्मा का परिष्करण करना चाहता है। कलावादी साहित्य का उद्देश्य केवल 'कला' को मानता है।

२. साहित्य के प्रधान अंग उसकी भाषा, भाव और कल्पना हैं। भाषा काव्य का साधन है साध्य नहीं। परन्तु साहित्यकार के लिये यह उतनी ही आवश्यक है जितनी कि किसी भवन निर्माता को भवन बनाने की सामग्री, या मूर्तिकार के लिये पत्थर अथवा चित्रकार के लिये उसी की तूलिका, उसका कागज़ और उसका

कपड़ा। भाषा के पीछे दौड़ने वाले काव्य शैली को काव्य का सर्व-स्व मान लेते हैं।

३. विचारों या भावों का कलात्मक स्पष्टीकरण काव्य कहलाता है। उपयोगात्मक या व्यवसाई ढंग से लिखी गई रचना काव्य की कोटि में नहीं आती। साहित्य में कल्पना का स्थान अवश्य है परन्तु वह निरर्थक नहीं होनी चाहिये।

४. काव्य का विवेचन करते समय सार्थकता को ध्यान में रखना नितांत आवश्यक है। वह काव्य जो सार्थक नहीं काव्य कहलाने का भी अधिकारी नहीं हो सकता। काव्य किसी बात को कलात्मक ढंग से कहने का नाम है। कलात्मक ढंग से कही गई बात का प्रभाव उपदेशात्मक बातों की अपेक्षा अधिक होता है। इस लिये समाज के उत्थान और पतन में जो हाथ साहित्य का रहता है वह अन्य किसी वस्तु का नहीं रहता। साहित्य समाज की नीव-शिला है और इसी के धरातल पर समाज के चरित्र का निर्माण होता है।

५. काव्य का प्रवाह रस, नीति और बुद्धिवाद तीन धाराओं में हुआ है। तीनों के पृथक पृथक् दृष्टिकोण हैं परन्तु सर्वोच्च साहित्य वही है जिसमें तीनों का समन्वय मिले

६. साहित्य विवेचन में हमें दो प्रधान वाद दृष्टिगोचर होते हैं एक आनन्दवादी और दूसरा उपयोगितावादी। आनन्दवादी एक प्रकार से व्यक्ति प्रधान है और उपयोगितावादी समाज प्रधान। समाज प्रधान जनता का अपना साहित्य होता है इसी लिये उसके प्रचार और व्यापकत्व में भी सहयोग मिलता है। व्यक्ति-प्रधान साहित्य विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक और सीमित होता है, इस लिये इसकी पहुँच उतनी व्यापक नहीं हो पाती।

७. इस प्रकार साहित्य को हम केवल मनोरंजन के लिये नहीं मान सकते। साहित्य का बहुत बड़ा उपयोग है और साहित्यकार के

ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। साहित्यकार का सृजन पकौड़ी और मिठाई बनाने वाले के समान नहीं है। उसका प्रभाव व्यापक है, स्थाई है। इसलिये उस काव्य में भी व्यापक और स्थाई गुणों का वर्तमान होना आवश्यक है। काव्य का प्रभाव पाठकों के आचरण पर पड़ता है, मस्तिष्क पर पड़ता है और उनके जीवन पर पड़ता है इसलिये साहित्यकार को कोई अधिकार नहीं है कि वह पाठकों के जीवन से खिलवाड़ करे। साहित्य समाज का पथ निर्देशक बनकर आना चाहिये, पथ भ्रष्टा नहीं।

साहित्य-क्षेत्र में गद्य और पद्य

१. प्रायः सभी देशों का प्राचीनतम साहित्य पद्य में मिलता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य का प्रारम्भ पद्य से होता है।

२. प्राचीन काल में न पुस्तकों का साधन था और न छापेखानों का। विविध वैज्ञानिक दिशाओं में ज्ञान का विस्तार भी आज जैसा नहीं था। विद्या का गुण समझा जाता था कि "विद्या कंठ" अर्थात् जो कुछ ज्ञान कंठस्थ है बस वही तुम्हारी विद्या है। एक काल वह रहा है जब काव्य-ग्रंथ पिता पु को कंठस्थ करा देता था और फिर पुत्र अपने पुत्र को। इसी प्रकार काव्य स्थाई रहता था।

३. उस काल में काव्य सूत्र रूप में सुरक्षित रखा जाता था। बड़े बड़े उपन्यासों को कंठस्थ करना एक समस्या थी और फिर पद्य की अपेक्षा गद्य को कंठस्थ करना भी कठिन कार्य था। इसीलिये उस काल में पद्य की रचना हुई भी तो भी वह काव्य का रूप नहीं बन सकी।

४. आधुनिक काल में जब कागज़ और छापेखानों का आविष्कार हो गया और मोटे से मोटे साहित्यिक ग्रन्थों के भी सुरक्षित रखने का

साधन बन गया तो साहित्यिक क्षेत्र में पद्य का स्थान गद्य ने लेना प्रारम्भ कर दिया। भारतेन्दु-युग से पूर्व हिन्दी साहित्य में गद्य लिखी अवश्य गई परन्तु साहित्य के दृष्टिकोण से उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं

५. पद्य का स्थान गद्य ने लेना प्रारम्भ कर दिया और काव्य का क्षेत्र भी व्यापक होने लगा। जहाँ साहित्य में कविता और नाटक ही लिखे जाते थे वहां उपन्यास, कहानी, गद्य-गीत, जीवनियाँ और समालोचनाओं का अपार साहित्य लिखा जाने लगा।

६. पद्य में जहाँ रागात्मक वृत्तिप्रधान रहती है वहां गद्य में व्यापक चरित्र-चित्रण और विस्तार के साथ वर्णन करने की शक्ति वर्तमान है। आज गद्य और पद्य दोनों में अपार साहित्य का सृजन हो रहा है और पद्य का स्थान गद्य ने ले लिया है। गद्य में यह विशेषता है कि इसके अन्तर्गत हर विषय का स्पष्टीकरण हो सकता है। पद्य में सभी विषयों पर रचना नहीं की जा सकती। पद्य के लिये कुछ विशेष ही विषय चुनने होते हैं।

काव्य के प्रमुख अंग

१. काव्य के दो मुख्य अंग हैं (१) दृश्य-काव्य और (२) श्रव्य-काव्य।

२. दृश्य काव्य के अन्तर्गत नाटक आता है। नाटक रूपक का ही पर्यायवाची शब्द हो गया है। नाट्य शास्त्र के पंडितों ने दस प्रकार के रूपक और अठारह कार के उपरूपक माने हैं। नाटक रंग मंच पर पात्रों द्वारा खेला जाता है और इस प्रकार वह दृष्टि के सम्मुख अपना प्रदर्शन करके दर्शकों को प्रभावित करता है।

३. नाटक को दृश्यकाव्य माना अवश्य गया है परन्तु श्रव्यकाव्य के भी गुण होते हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार बाबू जयशंकर

प्रसाद के नाटक दृश्य काव्य के अन्तर्गत रखने की अपेक्षा श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत बहुत सुगमता से रखा जा सकता है।

४. श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, गद्य काव्य, जीवनियां, इत्यादि आते हैं।

५. उपसंहार—काव्य के प्राचीन अङ्गों में आज वृद्धि होगई है। पहिले केवल भांति भांति की कविताओं को ही काव्य कहा जाता था परन्तु आज गद्य का साहित्य में स्थान बन जाने से काव्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी, निबन्ध इत्यादि भी आगये हैं। इस प्रकार काव्य के अङ्गों में बराबर वृद्धि होती जा रही है और काव्य हर प्रकार से उन्नतिशील है।

धार्मिक और दार्शनिक निबंध

हिन्दू धर्म और उसके धर्म-ग्रन्थ

वर्तमान हिन्दू धर्म प्राचीन आर्यत्व का अवशेष है। जिस समय आर्य भारत में आये तो यहाँ पर द्राविड़ लोग रहते थे। आर्यों ने उन में कुछ को तो अपना दास बना कर शूद्र नामकरण कर दिया और उनमें से कुछ दक्षिण भारत को भाग गये। उत्तर भारत पर आर्यों का धीरे धीरे साम्राज्य स्थापित होगया और आर्य-धर्म भारत का प्रधान धर्म बन गया।

आर्य ऋषि-मुनियों ने अपने धर्म-ग्रन्थों का निर्माण किया। वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, पुराण, उपपुराण इत्यादि आर्यों के प्रधान ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे गये। इनके अतिरिक्त गीता, ब्राह्मण-ग्रन्थ, तन्त्र-ग्रन्थ, षट् दर्शन और उनकी टीकायें इत्यादि भी बहुत से ग्रंथ हैं। इन ग्रन्थों में रामायण, महाभारत और पुराणों को छोड़कर शेष ग्रंथों में कर्मकांड और आध्यात्मिक चिंतन दिया गया है।

मध्य-युग में आकर यही आर्य धर्म हिन्दू धर्म कहलाया और इसमें अनेकों प्रकार के विचारक जन्म लेकर आये। अनेकों वादों का हिन्दू धर्म में उदय हुआ। नये नये आचार्यों ने अपने नये नये दृष्टिकोण जनता के सामने रखे और धर्म भी विविध धाराओं में बहने लगा। एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत-वाद यह प्रधान प्रवृत्तियां धर्म के क्षेत्र में आगईं। इस प्रकार आर्यों की प्राचीन और नवीन अनेकों धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ अनेकों ग्रन्थ लिखे

गये परन्तु जिन्हें हिन्दुओं के प्रतीक-धर्मग्रन्थ कह सकते हैं वह केवल रामायण, महाभारत और पुराण ही हैं। हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों का सम्बन्ध केवल इन्हीं ग्रन्थों से है।

हिन्दू शब्द आर्यों को मुसलमानों ने दिया जिसका अर्थ है 'काफ़िर'। यह अपमान सूचक शब्द था परन्तु धीरे धीरे रूढ़ि हो गया और व्यापक भी। इसी शब्द के आधार पर हमारा धर्म हिन्दू धर्म हुआ, जिस समय से इस धर्म और संस्कृति के साथ हिन्दू शब्द का सम्मिलन हुआ है उस समय से इस धर्म को परतन्त्र परिस्थितियों में रहना पड़ा है। देश के परतन्त्र होने पर भी पूर्वजों ने धर्म का ढांचा इतना सुदृढ़ बना दिया था कि घोर आपत्तिकाल में भी धर्म की बराबर रक्षा होती रही और धर्मवीरों ने प्राणों की आहूतियां समय समय पर दे दे कर भी धर्म की रक्षा की। हिन्दू धर्म के लालों ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये हंसते हंसते बलिदान दिये हैं। गुरु गोविन्दसिंह के बच्चे, बन्दा वैरागी, हकीकतराय, स्वामी श्रद्धानन्द इत्यादि के अमर बलिदान हिन्दू धर्म के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों से लिखे हुए हैं। उनकी अमर कहानियां आज भी धर्म परायण शिक्षित नारियां अपने बच्चों को सुनाकर उनमें धार्मिक भावनाओं का समावेश करती हैं।

हिन्दू धर्म चार प्रधान वर्णों में विभाजित है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रारम्भ में इन चारों वर्णों का निर्माण जन्म के आधार पर न होकर कर्म के आधार पर हुआ था परन्तु धीरे २ धर्म में विचारकों का स्थान कर्मकांडी रूढ़िवादियों ने ले लिया और कर्म का स्थान भी जन्म ने लेना प्रारम्भ कर दिया। धीरे धीरे इन चारों वर्णों का भी विभाजन होना प्रारम्भ होगया और हिन्दुओं में अनेकों जातियों का उदय हुआ। अनेकों प्रकार के ब्राह्मण बन गये, अनेकों प्रकार के वैश्य हो गये और इसी प्रकार शूद्रों में भी विभाजन हो गया। हिन्दू धर्म के

साथ ही साथ हमें भारत में कुछ अर्ध हिन्दू जातियां भी मिलती हैं जिन्हें हम भुला कर नहीं चल सकते। उदाहरण के लिये सिख सम्प्रदाय और जैनियों को ही ले सकते हैं। इन के धर्म ग्रंथ पृथक अवश्य हैं परन्तु रीति रिवाजों में यह हिन्दुओं की ही भाँति गौ की रक्षा करना अपना धर्म समझते हैं, हिन्दू त्यौहारों को मनाते हैं और सिर पर चुटिया भी रखते हैं।

हिन्दू धर्म में जातियों का उदय हुआ। इस से समाज और धर्म छिन्न-भिन्न होता गया। जाति विद्वेश की मात्रा बढ़ी और पारस्परिक घृणा को प्राश्रय मिला। जाति के उत्थान में यह सहायक न होकर बाधक हुईं। अमानुषिक प्रवृत्तियाँ इनमें जागृत हो गईं और मानवता तथा सभ्यता का धीरे धीरे ह्रास होने लगा। जाति प्रथा का एक लाभ अवश्य हुआ कि इसने किसी न किसी रूप में आर्यत्व की शुद्धरक्तता को स्थाई रखने में सहायता दी।

हिन्दू धर्म आज तक जीवित है किस आधार पर? केवल अपने धर्म-ग्रन्थों के आधार पर वह जीवित है। इन्हीं ग्रन्थों ने धर्म को जीवन प्रदान किया है और हिन्दू संस्कृति को मर्म की थाती के रूप में सुरक्षित रखा है। यों जितने भी ग्रंथ हम ऊपर गिना चुके हैं सभी महत्वपूर्ण हैं परन्तु यहां हम विशेष रूप से रामयाण और महाभारत पर ही विचार करेंगे क्योंकि संस्कृत ग्रंथ धीरे धीरे केवल पंडितों के धन बन गये और साधारण जनता का उन तक पहुँचना असम्भव हो गया। जनता ने गीता, रामायण और महाभारत की कथाओं पर ही संतोष किया और जो इनसे बढ़े उन्होंने पुराणों तक अपनी पहुँच की। इससे अधिक नहीं।

रामायण—रामायण की रचना महाकवि बाल्मीकि ने की और गोस्वामी तुलसीदास ने उसको भाषा में लिखा। तुलसी कृत रामायण ने जनता में वह सम्मान प्राप्त किया जो सम्भवत: आर्यों के आदि

काल में वेदों ने प्राप्त किया होगा। आज रामचरित मानस हिन्दू धर्म का प्राण है। रामायण आपत्ति काल में सुदृढ़ रहना सिखाता है और कर्तव्य परायणता तो उसमें कूट कूट कर भरी है। रामायण में रामराज्य का इतना सुन्दर चित्र संसार के सामने रखा है कि आज के युग का महान राजनीतिज्ञ गांधी भी उससे प्रभावित हुआ और उसने भारत का कल्याण भविष्य में रामराज्य की स्थापना में ही सोचा। रामायण, व्यक्ति के लिये है, समाज के लिये है, धर्म के लिये है, और देश के लिये है। रामायण में जितनी भी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं वह सभी व्यापक हैं, सब काल के लिये हैं। जीवन की साधारण प्रवृत्तियों में कभी कोई अंतर नहीं होता।

महाभारत-गीता—गीता हिन्दू धर्म का वह महान उपदेश है कि जिसका सम्मान न केवल भारतवर्ष में ही है वरन अन्य देशों में उसे बड़े चाव से पढ़ा जाता है। लोकमान्य तिलक ने गीता के ही आदेश पर चलकर भारत में असहयोग आन्दोलन को जन्म दिया और बाद में महात्मा गांधी ने उसे अपनाया। गीता का महान उपदेश—

अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दंड देना धर्म है॥

इसी बात को लेकर लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टक्कर ली और भारत को स्वतन्त्र कराया। हिन्दू धर्म ग्रंथों में कितनी महान शक्ति है इस से हम इसका अनुमान कर सकते हैं। हिन्दू धर्म ग्रन्थ, हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति के प्राण हैं, जीवन हैं, और इन्हीं के बल पर वह युग युग तक अपने को स्थाई रख सकेगा।

विषय पर सँक्षिप्त विचार—

१. प्रस्तावना—आर्यधर्म का प्रसार।
२. आर्यों के प्रधान ग्रंथ और उनका प्रभाव।

३. मुसलमान काल में हिन्दू धर्म का विविध रूपों में फैलना ।
४. आधुनिक राजनीति पर रामायण और गीता का प्रभाव ।
५. उपसंहार ।

हिन्दू धर्म और विज्ञान

धर्म और विज्ञान दोनों परस्पर विरोधी विचार जन्य हैं । धर्म का उद्गम श्रद्धा है तो विज्ञान का तर्क एक अनुभूति आश्रित है तो दूसरा-बुद्धिगम्य । धर्म का जन्म हृदय सेहोता है तो विज्ञान का मस्तिष्क में । धर्म रूढियों पर आश्रित है और विज्ञान प्रगतिवाद पर, खोज पर, नवीन दृष्टिकोण पर । एक प्राचीन है और दूसरा नवीन । दोनों में सामंजस्य स्थापित करना कठिन है परन्तु यह सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न ब्रह्मसमाज तथा आर्य समाज के प्रवर्तकों ने किया है । अब विचारणीय बात यह है कि क्या वास्तव में धर्म का विचार से कोई सम्बन्ध नहीं और विज्ञान श्रद्धाशून्य है ? हृदयवाद के लिये वहाँ कोई स्थान नहीं । हिन्दू धर्म के मूल तत्वों पर जब हम विचार करके देखते हैं तो हमें पता चलता है कि हिन्दू धर्म श्रद्धाश्रित न होकर तर्क और सत्य पर आश्रित है । उपनिषदों में सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग पर ऋषियों ने विशेष बल दिया है ।

धर्म का क्षेत्र दर्शन है । इस दर्शन में धर्म विचार करता है कि मानव और मानव का जीवन क्या है, अन्य जीव-जन्तुओं का जीवन क्या है ? जीवन में परिवर्तन का क्या स्थान है, जीवन क्या है और कैसे है, मृत्यु क्या है; जीवित और मृतक में क्या अन्तर है, चेतना किसे कहते हैं; इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया दुख, सुख क्या सत्य है या असत्य, मन क्या है, यह संसार मिथ्या है या सत्य—यह सभी प्रश्न दार्शनिक के प्रश्न हैं । धर्म की भी मूल समस्यायें यही हैं । इन्हीं समस्याओं को धर्म ने सुलझाया है । और विज्ञान भी इन्हीं की वैज्ञानिक खोज में लगा हुआ है । अन्तर केवल दृष्टिकोण का है ।

हिन्दू धर्म के अनुसार प्रकृति की शक्तियां प्रकाश, ताप, स्थल, जल-वायु इत्यादि देवता कहलाती हैं। इनकी शक्तियां महान हैं। प्राण द्वारा मानव का इन महान शक्तियों से सम्पर्क स्थापित होता है। आर्य जाति ने इन महान शक्तियों की उपासना के लिये ही सब कर्मकांड की योजना की है, योगी प्राण शक्ति का संग्रह करके नाशकारी विकारों से आत्मा को मुक्त करता है और ऊर्ध्वरेता बनकर अमृत तत्व अर्थात अमरत्व को प्राप्त करता है। जीवन धर्माचार्यों और वैज्ञानिकों दोनों के लिये पहेली है, समस्या है। मृत्यु के सम्बन्ध में दोनों की परिभाषायें मिलती-जुलती ही हैं। ऊर्जित-प्राण होना जीवन है और अधः प्राण होना मृत्यु है। यह विचार दोनों को मान्य है।

जहां दर्शन और विज्ञान की खोज समाप्त होकर यह कह देती है कि बस इस से अधिक कुछ नहीं वहाँ से हिन्दू धर्म का प्रथम चरण प्रारम्भ होता है। धर्म जीवन में सहृदयता और आशा का पाठ पढ़ाता है। केवल निराश होकर बैठ रहने के लिये धर्म नहीं है। जीवन के रहस्य को सूक्ष्मरूप से समझने वाले जीवनदर्शी प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसी लिये धर्म में माया को प्राधान्य नहीं दिया, इसी लिये शंकराचार्य का यह उपदेश नहीं दिया कि जीवन मिथ्या है, भ्रम, बुद्-बुद के समान है, पहेली है। क्योंकि ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् तो जीवन ही अकर्मण्य हो जाये। अंगरेज़ी विचारक कवि भी इस विषय में कहता है—

"शोक भरे शब्दों में मुझ से कहो न जीवन सपना है।"

मानव को जीवन में श्रद्धा रखनी चाहिये। जीवन के प्रति अविश्वास रख कर मरने की अपेक्षा आत्मप्रतारणा के साथ जीना अच्छा है। आज पाश्चात्य वैज्ञानिक अपनी निरंतर खोज के पश्चात् कहते हैं कि संसार अनंत है परन्तु हिन्दू धर्म ने इस ज्ञान को पहिले ही जान लिया था। भगवान के विराट रूप की कल्पना में संसार की अनंतता

का आभास ऋषि-मुनियों ने दिया है। काग्भुशुण्ड जी भगवान राम के मुख में जाकर कहते हैं।

उदर मांझ जनु अंडन राया, देखहुं बहु ब्रह्मांड निकाया।
एक एक ब्रह्मांड मँह रहउ बरसु सत एक।
यह विधि मैं देखत फिरेऊँ अंडकटाइ अनेक ॥

जीवन की अनश्वरता का जो निर्णय आज के वैज्ञानिक अपनी संपूर्ण खोजों के पश्चात् कर चुके हैं वह निर्णय हमारे धार्मिक ऋषि मुनि न जाने कितने वर्ष पूर्व कर चुके हैं। इस अनन्त विश्व के एक साधारण अंश को मनुष्य ग्रहण करता है अपनी बुद्धि के बल से और यह भी सब नहीं कर सकते। शेषनाग पर विष्णु के शयन करने से आचार्यों के अ ं हैं कि शेष अनन्त विश्व का प्रतीक होकर विष्णु को वर्तमान संसार के रूप में संभाले हुए हैं।

इस प्रकार जीवन की सभी रहस्यात्मक प्रवृत्तियों पर हिन्दू धर्म के विचारकों ने विचार किया है, खोज की है। अध्ययन किया है और निरीक्षण करके जिन निर्णयों पर पहुंचे हैं वहीं पर आज के वैज्ञानिक पहुंच रहे हैं। क्षेत्र दोनों के पृथक पृथक नहीं हां साधन अवश्य दो हैं वैज्ञानिक वास्तविक वस्तुओं के विश्लेषण और निरीक्षण द्वारा किसी निर्णय पर पहुँचता है और धर्माचार्य का साधन है उसकी अनुभूति उसका आत्मबल और उसकी तपस्या।

धर्म के क्षेत्र में किसी न किसी रूप में रूढ़िवाद का आना अनिवार्य है परन्तु हिन्दू धर्म में त ं और चिन्तन के लिये पूर्ण स्थान है। उन पर हम कह चुके हैं कि ब्रह्म समाज और आर्य समाज का तो निर्माण ही तर्क पर हुआ है। इन दोनों ही धाराओं पर वैदिक काल का प्रभाव है। वेदों में जिस विषय को भी लिया गया है तर्क द्वारा ही उसका प्रतिपादन किया गया है ब्रह्म वाक्य बनाकर या अन्ध विश्वास के साथ नहीं। हिन्दू धर्म अंधविश्वासी धर्म न होने के

कारण आज के वैज्ञानिक युग में भी सुगमता पूर्वक चल सकता है। और इसे अपने को बदलती हुई परिस्थितियों में भी समुन्नत करने में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं करना होगा।

विषय क सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार—

१. धर्म क्या है ? विज्ञान क्या है ? दोनों के पृथक पृथक क्षेत्र कौन कौन से हैं।
२. जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में धर्म और विज्ञान का विचार।
३. धर्म श्रद्धा-मूलक है और विज्ञान तर्क मूलक।
४. हिन्दू धर्म अपने अध्यात्मवाद से जीवन के विषय में जो निर्णय अनेकों वर्ष पूर्व दे चुका उसे आज के वैज्ञानिकों को अपने एक्सपैरीमैंटों (Experiments) के पश्चात् मानना पड़ा है।
५. उपसंहार।

हिन्दू-धर्म और राजनीति

हिन्दू धर्म प्राचीन आर्य धर्म का अवशेष है। अथवा रूपान्तर भी इसे कह सकते हैं। प्रारम्भ में आर्य जाति ने जब अपने को चार वर्णों में विभाजित किया तो ब्राह्मण को मस्तिष्क का रूप दिया, क्षत्रिय बाहु, वैश्य उदर और शूद्र जंघाओं के रूप में ग्रहण किये गये। मानव शरीर में यह चारों ही भाग एक दूसरे के सहयोगी हैं और महत्व के विचार से कोई भी कम नहीं गिना जा सकता। परन्तु मस्तिष्क के संकेत पर क्योंकि सब को कार्य संचालन करना होता है इस लिए प्रधानता मस्तिष्क की हुई। भुजायें क्योंकि रक्षा का भार अपने ऊपर लेती हैं इस लिये दूसरा स्थान उनका हुआ इसी प्रकार तीसरा वैश्य और चौथा शूद्र हुआ।

जब तक वर्णाश्रम जातियों में बट कर खण्ड-खण्ड नहीं हो गया तब तक यह ढांचा ज्यों का त्यों चलता रहा। राजा का प्रधान मन्त्री

ब्राह्मण होता था और देश की प्रायः सभी समस्याओं का सुलझाना इसी का कर्तव्य था। इसी के संकेत पर राजा कार्य करता था। राजा वीर और साहसी होता था। हिन्दू धर्म ने राजा, प्रजा, मन्त्री सभी के कर्मों को निर्धारित किया है और भारत में एक समय वह था जब धर्म राज्य होता था।

विश्व के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो पता चलता है कि योरोप में राजाओं पर उस काल में पोप का प्रभुत्व था। वह धर्म प्रधान युग था और राजनीति धर्म के अन्तर्गत रहती थी। परन्तु धीरे धीरे यह प्रणाली लुप्त होती चली गई और निरंकुश राजाओं ने धर्म कर्म सभी को तिलाँजलि देकर भोग-विलास में जीवन व्यतीत करने प्रारम्भ कर दिये। ऐसी कठिन परिस्थितियों में धर्माचार्यों ने कूटनीति का भी कार्य किया। आचार्य चाणक्य इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। नन्द वंश धर्मान्ध हो चुका था। नन्द का सर्वनाश करके चन्द्रगुप्त को राजा बनाना चाणक्य का ही काम था। इस प्रकार इस काल तथा धर्म का राजनीति के ेत्र में बहुत बड़ा हाथ था।

भारत की राजनीति ने पलटा खाया। देश पराधीन हो गया। राजनीति एक प्रकार से समाप्त ही हो गई। कहीं कहीं पर कभी कभी कोई चिंगारी सी अवश्य चमक जाती थी परन्तु वह धर्म के विस्तार के लिये पर्याप्त क्षेत्र नहीं था। राजनैतिक पराधीनताके पश्चात् हिन्दू जनता निराश्रित होगई, असहाय होगई। ऐसी कठिन परि-स्थिति में जब राजनीति जनता को आश्वासन नहीं दे सकी, सहारा नहीं दे सकी तो धर्माचार्यों ने हिन्दू धर्म के बुझते हुए दीपक को स्नेह घृत से भर दिया।

हिन्दु धर्म ने कर्तव्य सिखलाया, आत्म बल दिया, बलि दान की शक्ति दी, जीवन की अनश्वरता का उपदेश दिया, आत्मा को अमर कहकर जनता को मृत्यु के भय से दूर किया। हिन्दुओं को दृढ करके

कर्तव्यपरायण बनाया । संस्कृति की रक्षा का उपदेश दिया और आज के युग में हिन्दु धर्म का जो अवशेष दिखलाई दे रहा है यह सब उन्हीं भक्त मार्गी आचार्यों की कृपा है जिन्होंने इस कठिन काल में इस वृक्ष को अपना जीवन प्राण देकर सूखने से बचाया ।

आज के युग में धर्म धर्म के स्थान पर है और राजनीति राजनीति के स्थान पर । धर्म का सम्बन्ध आत्मा की शुद्धि से है, और आचरण की सभ्यता से है और ईश्वर के चिंतन से है । यह तीनों ही व्यक्तिगत विषय हैं सामाजिक नहीं, राजनैतिक नहीं । वैसे सूक्ष्मरूप से व्यक्ति समाज का एक अंग है इसलिये व्यक्ति का विषय ही आज समाज का विषय है और प्रजातंत्र विधान में समाज की समस्या ही राष्ट्र की समस्या है; देश का विषय है परन्तु सीधे रूप में धर्म राजनीति के क्षेत्र में नहीं आता । आज राजनीति को पृथक रूप से अपना संचालन करना है और धर्म को पृथक रूप से । प्राचीन काल में जिस प्रकार धर्म की राजनीति पर प्रधानता रहती थी उसी प्रकार आज राजनीति का बोल-बाला है । धर्म, समाज, साहित्य सभी को राजनीति की ओर ताकना पड़ता है ।

धर्म का महत्व इस प्रकार आज के युग में निश्चित रूप से कम होता जा रहा है । राज्य की ओर से प्रश्रय कम मिलता है और आज पाश्चात्य प्रभाव के कारण लोगों की आस्था भी धर्म में बहुत कम रह
तक ईश्वर का नाम और मंदिर दर्शन का सम्बन्ध
व तक तो बहुत से व्यक्ति पहुँच भी जाते हैं परन्तु कर्मकाण्ड के लिये तो आज एक प्रतिशत भी व्यक्ति तैयार नहीं । जन्म, विवाह और मृत्यु बस तीन ही समय कर्मकाण्ड के दर्शन होते हैं ।

इस प्रकार आज की राजनीति में ध का कोई हाथ नहीं, कोई महत्व नहीं । इतना महत्व अवश्य है कि वर्तमान राजनीति के कर्णधार पूरे हिंदू थे और हिन्दू धर्म पर उन्हें पूरी आस्था थी । उन्होंने

अपने राज्य-संचालन के जो मार्ग सोचे वह भी उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रंथों के ही आधार पर विचार कर बनाये। लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी को गीता पर महान आस्था थी और उनके जीवन-कालीन राजनैतिक संघर्षों में गीता की प्रधान विचारावलि रही है। महात्मा गाँधी के राम-राज्य की कल्पना भी उनकी धार्मिक कल्पना थी। परन्तु खेद है कि गाँधी जी की अकाल-मृत्यु के कारण वह राम-राज्य की कल्पना फली-भूत न हो सकी।

आज कांग्रेस का प्रधान पद राजर्षि टंडन के हाथों में आया है। टंडन जी धार्मिक व्यक्ति हैं। उनसे आशा की जा सकती है कि वह राजनीति में हिन्दू धर्म के गुणों का प्रयोग अवश्य करने का प्रयत्न करेंगे।

विषय के विषय में संक्षिप्त विचार—

१. हिन्दू धर्म और राजनीति, वर्णाश्रम की स्थापना।
२. राजनीति पर धर्म की प्रधानता।
३. पराधीनता काल में राजनीति का लोप और धर्म का आश्वासन।
४. वर्तमान राजनीति में धर्म का गौण स्थान। धर्म पर राजनीति की प्रधानता।
५. उपसंहार।

हिन्दू धर्म के गुण और अवगुण

हिन्दू धर्म के गुण और अवगुणों पर विचार करने से पूर्व हमें यह जान लेना है कि वास्तव में हिन्दू धर्म है क्या? धर्म के विषय में वेदव्यास का मत है कि "धर्म, शक्ति प्रजा और समाज को धारण करती है। अधर्म है अनाचार और उच्छृंखलता और धर्म है श्रेष्ठ सामाजिक आचार-विचार।" ऋगवेद में भी सत्य पथ पर चलने के

लिये आचार सुधार की आवश्यकता बतलाई है। इस प्रकार धर्म आचारमूलक है अनाचारमूलक नहीं। हिन्दू धर्म में मनु के विचार से धर्म पालन के लिये ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण का चुकाना परमावश्यक है। ऋषि-ऋण के अन्तर्गत ज्ञानप्राप्ति, देव-ऋण के अन्तर्गत हवन पुण्यकर्म इत्यादि और पितृ-ऋण के अन्तर्गत पिता के प्रति कर्त्तव्य पालन आता है।

हिन्दू धर्म में जीवन को व्यवस्थित करने के लिये जिस प्रकार समाज को चार वर्णों में विभाजित किया है उसी प्रकार मानव जीवन को भी चार आश्रमों में विभाजित किया है ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास। प्रत्येक व्यक्ति के लिए इन चारों आश्रमों का पालन करना आवश्यक है। धर्म समाज की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा मानव इस लोक में अपने जीवन को सुधार कर परलोक को सुधारता है। वास्तव में धर्म का सम्बन्ध मानव जीवन से है।

हिन्दू धर्म ने समाज और मानव जीवन की जो व्यवस्थायें प्रारम्भ में निर्धारित कीं उनके बंधन ज्यों के त्यों बने हुए नहीं रह सके। समय और व्यक्ति के अन्तर से इन सब में अन्तर आने प्रारंभ हो गये। वर्ण-व्यवस्था जातियों में बदलती चली गई और आश्रम धर्मों का उचित पालन होना बन्द हो गया। सन्यासियों ने विवाह करने शुरू कर दिये और ब्रह्मचारियों ने विषय-भोग। इसका प्रभाव समाज पर पड़ा। समाज और अव्यवस्थित होने लगा। आचार्यों ने इस प्रकार अनाचरण करने वाले व्यक्तियों के लिये सामाजिक दण्ड निर्धारित करके इन प्रवृत्तियों को रोकने के प्रयत्न किया। फलस्वरूप वर्णों से बहिष्कृत व्यक्तियों ने अपने अपने जातियों का संगठन करन प्रारंभ कर दिया और इस प्रकार अनेकों जातियों के जन्म हुये। एक एक वर्ण के अनेकानेक उप-शाखायें बनती चली गईं। इस जाति भिन्नता के कारण समाज का संगठन टूट गया। समाज की

शक्ति क्षीण होती चली गई और इतने भेद और उपभेद पैदा हो गये कि संगठन का सूत्र एकदम समाप्त होगया। यह विच्छेदात्मक प्रकृति इतनी बलवती हुई कि इसका प्रभाव भारत में आने वाले मुसलमान धर्म पर भी पड़े बिना न रहा। भारत के मुसलमानों में भी जातियां आज मिलती हैं यह मुसलमान धर्म पर हिंदूधर्म की गहरी छाप है। इस्लाम धर्म का संगठन भी भारत में आकर छिन्न-भिन्न हो गया।

हिन्दू धर्म की इस विच्छेदात्मक प्रवृत्ति का खंडन स्वामी दयानन्द ने किया और संगठन की एक बार भारत में ऐसी लहर चलाई कि सभी वर्णों को मिलाकर ॐ० के झंडे के नीचे खड़ा कर दिया। इस भावना को महात्मा गाँधी ने अपने हरिजन आंदोलन द्वारा विशाल रूप देकर उसे राजनीति का अंग बना दिया और ऐसा व्यापक बना दिया कि वर्तमान राजनीति में उस संगठन की आवश्यकता ही नहीं रही। आज के प्रजातंत्रवाद में एक पंडित को भी राय मांगने के लिये भंगी की झोंपड़ी पर जाना पड़ता है।

हिन्दू धर्म मध्ययुग में आकर एक प्रकार से कर्म-काण्ड प्रधान धर्म हो गया था। धर्म विचारात्मकता की ओर से रूढ़िवाद की तरफ़ बढ़ रहा था। यह धर्म की स्वस्थावस्था नहीं थी। धर्म पर जन्म की प्रधानता होचुकी थी। मठों की स्थापना होने लगी थी और मठाधीशों की परिस्थिति राजा महाराजाओं जैसी होने लगी थी। इन मठाधीशों का जनता पर प्रभाव था क्योंकि जनता धर्म-भावना-प्र थी। यही कारण था कि इन मठाधीशों की शक्ति बहुत बढ़ी चढ़ी थी। मुसलमान युग में भी हमें मुसलमान मठाधीशों के ऐसे दृष्टांत मिलते हैं। निज़ामुद्दीन औलिया की प्रसिद्ध गाथा से इतिहास के विद्यार्थी सभी परिचित हैं। प्रारम्भ में यह मठ धर्म के केन्द्र थे, विद्या अध्ययन करने के लिये विश्व विख्यात विद्यालय थे, बड़े बड़े विचारक और योगी वहाँ पर रहते थे परन्तु यह परिस्थिति अधिक समय तक न

चल सकी। मानव जीवन में स्वार्थ और विषयभोग की न्यूनतायें बहुत बलवती होती हैं। इनके प्रभाव से परिस्थिति यहाँ तक गम्भीर बनी कि वही ज्ञान के केन्द्र व्यभिचार, स्वार्थ और ऐश्वर्य के केन्द्र बन गये। कर्म-काण्ड का रूप बदलने लगा। यज्ञों पर जानवरों की बलि दी जाने लगी और कहते हैं कि कहीं कहीं पर मानव की बलि भी दी जाती थी। अनार्य जातियों के कुछ देवी देवताओं को भी हिन्दू धर्म ने अपने में मिला लिया और उनकी पूजा भी होने लगी। जैसे काली की पूजा का विधान हमें वेदों में नहीं मिलता।

यह परिस्थिति अधिक दिन तक न रह सकी। जैन धर्म और बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हिन्दू धर्म की इन्हीं खराबियों के कारण हुआ। यह दोनों ही धर्म एक प्रकार से हिन्दूधर्म के रूपान्तर हैं, सुधार हैं। हिन्दूधर्म में इस काल के अन्दर जो अवगुण या दोष भी उत्पन्न हो गये थे वह हिन्दूधर्म के मूल सिद्धांतों में निहित नहीं थे। धर्म सिद्धांतों के निरुपण और उनके प्रयोग में दोष आ गये थे उनके मूल में नहीं। जैन और बौद्ध धर्म के नवीन विचारकों ने हिन्दू धर्म के उन प्रयुक्त दोषों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया और आचरण की सत्यता पर बल देकर धर्म के एक नवीन दृष्टिकोण का निर्माण किया। हिन्दू धर्म में कुछ प्रथायें ऐसी बनती चली गईं कि जिन्हें अंग्रेज़ी शासन काल में आकर सरकारी कानून द्वारा रोकने की आवश्यकता हुई। सती की प्रथा को हम इसके उदाहरण स्वरूप ले सकते हैं। ब्रह्म समाज ने इस प्रथा के विपरीत विद्रोह किया और फिर सरकार को अन्त में नियम द्वारा बन्द करना पड़ा। इसी प्रकार अछूतों का मन्दिरों में जाना, कुओं पर चढ़ना इत्यादि पर आर्य समाज ने बल दिया, महात्मा गाँधी ने आंदोलन किये और वर्तमान शासन-व्यवस्थाओं ने उन्हें मानकर कानून बना दिया।

हिन्दू धर्म के आर्य काल में नारी का स्थान पुरुष से किसी भी प्रकार भी कम नहीं था। नारी के स्थान स्वार्थी आचार्यों ने बराबर गिराकर यहाँ तक बना दिया कि उसे विद्या और समाज के क्षेत्रों से बाहर निकाल कर घर की भित्तियों में बन्द कर दिया और। यह थी धर्म की गिरावट। अंगरेज़ी शासन काल में स्त्री समाज पर पाश्चात्य नारी आंदोलनों का प्रभाव हुआ। आर्य समाज ने नारी शिक्षा पर भी बल दिया और आज उनमें भी शिक्षा बढ़ती जा रही है। स्त्री शिक्षा के लोप में जो प्रधान प्रभाव मालूम देता है वह मुसलमान शासन काल में मुसलमानी धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव है। इसका प्रभाव समाज पर बुरा पड़ा क्योंकि बच्चों का निर्माण जितना स्त्रियों के हाथ में है उतना पुरुषों के हाथ में नहीं और बच्चों पर समाज और देश का भविष्य आधारित है।

इस प्रकार हमने हिन्दू धर्म के गुण और अवगुणों पर संक्षिप्त रूप से विचार किया और देखा कि धर्म के अवगुणों का सम्बन्ध हिन्दू धर्म के मूल सिद्धांतों से नहीं हैं। उनके व्यवहार और जीवन में प्रयोग से है। यदि आज भी हिन्दू धर्म के सिद्धांतों को उनके मूल रूप में अपनाया जाये तो वह व्यक्ति और समाज के लिये लाभदायक सिद्ध होगा। हिन्दू धर्म की मूल-धारा हिन्दुओं के हृदयों में सतत प्रवाहित रही है और वह यही मूल आत्मा है जिसके बल पर आज तक हिन्दू धर्म जीवित रह सका है।

उक्त विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. धर्म क्या है? हिन्दू धर्म क्या है?
२. हिन्दू धर्म का प्राचीनतम रूप—आर्यकाल।
३. हिन्दू धर्म का मध्ययुग जिसमें बुद्धिवाद की ओर से धर्म रूढ़िवाद की ओर आया।
४. भारत के पराधीनता काल में धर्म पर विदेशी प्रभाव।

५. हिन्दू धर्म की सूक्ष्म धारा सतत प्रवाहित रही।
६. यज्ञ-बलि, सती-प्रथा, जाति-भेद, अछूत-विचार, नारी का अपमान यह प्रधान हिन्दू धर्म के अवगुण थे जो धर्म-क्षेत्र में काव्य परिवर्तन के कारण उत्पन्न होते चले गये। धीरे-धीरे इन सभी का सुधार हुआ और जब जब जैसा जैसा समय आया उस समय वैसा ही रूप धर्म ने निर्धारित किया है और इस प्रकार हिन्दू धर्म के अमरत्व का प्रबल प्रमाण सब के सम्मुख है।
७. धर्म आज जीवन की मूल प्रवृत्ति के रूप में है जिसके ऊपर से दर्शन करने कठिन हैं। और उनके उचित प्रयोग से आज भी समाज का महान हित हो सकता है।

मध्ययुग के भक्ति आँदोलन

भारत में इस्लामी राज्य की स्थापना होनी थी कि हिन्दू जनता के हृदयों से उत्साह, गर्व और गौरव जाता रहा। देव मन्दिर गिराये जाने लगे और पूज्य स्थानों का अपमान हुआ। यह सब जनता ने अपनी आँखों से हृदय पर पत्थर रख कर देखा और सहन किया। हिन्दू-जीवन में घोर उदासीनता छागई। धर्म के क्षेत्र में वज्रयानी सिद्ध-कापालिक और नागपंथी जोगियों का जोर था। धर्म, कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों धराओं में प्रभावित हो रहा था। इस काल में इन तीनों के सामन्जस्य की आवश्यकता थी। ज्ञानक्षेत्र में कुछ विचारक आते हैं और कर्म तथा भक्ति का सम्बन्ध साधारण जनता से रहता है। धर्म में भक्ति का समावेश महाभारत काल के पश्चात् पुराण काल से मिलता है कभी कुछ समुन्नत रूप में और कुछ दबे हुए रूप में।

वज्रयानी सिद्धों का दृष्टिकोण आत्म-कल्याण और लोक कल्याण-विधायक नहीं था। वह जनता को कार्य-क्षेत्र से हटाने पर तुले थे। सं० १०७२ में रामानुजाचार्य ने जिस सगुण भक्ति का निरूपण

किया, जनता ज्ञानमार्गियों की अपेक्षा उसकी ओर अधिक प्रभावित होती जा रही थी। संवत् १२५४—१३३३ में गुजरात में मध्वाचार्य ने द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया। इसी काल में जयदेव और विद्यापति के गीतों से कृष्णभक्ति का जनता में प्रचार हुआ। १५वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के शिष्य स्वामी रामानंद ने विष्णु के राम अवतार को लेकर भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय में राम भक्ति शाखा का आविर्भाव हुआ। इसी काल में श्री बल्लभाचार्य ने कृष्ण की प्रेम मूर्ति को लेकर कृष्ण भक्तिशाखा का प्रचार किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक धाराओं का प्रवाह हिन्दू धर्म की मूल प्रवृत्तियां बनकर भारत के कोने-कोने में प्रवाहित हो चला।

एक ओर तो यह प्राचीन भक्तिमार्ग सगुणोपासना के आधार पर तय्यार हो रहा था, जिसमें भक्तों ने ब्रह्म के 'सत्' और 'आनंद' स्वरूप का निरूपण किया था और दूसरी ओर मुसलमानों के स्थाईरूप से भारत में बस जाने के कारण 'सामान्य-भक्तिमार्ग' का विकास हुआ। वज्रयान और नाथ सम्प्रदायों में शास्त्रज्ञ विद्वानों की कमी थी और विशेषरूप से इनका प्रभाव भी भारत की छोटी ही जातियों पर अधिक था। 'सामान्य-भक्तिमार्ग' का सीधा सम्बन्ध भी इन्हीं धाराओं से जुड़ा। यह लोग पूजा-अर्चा को व्यर्थ मानते थे, केवल अन्तर्मुख साधनाओं द्वारा ईश्वर इनके मत से प्राप्य था। इस धारा के साधु इंगला, पिंगला सहस्त्र कमल दल इत्यादि के उलटे सीधे नाम लेकर मूर्ख जनता पर अपना प्रभाव सिद्ध बन कर जमाते थे। हिन्दू मुसलमानों में यह भेद नहीं मानते थे। यह धारा हृदयपक्ष-शून्य थी और इसका सम्मान अन्तस्साधना की ओर था।

इसी काल में महाराष्ट्र देश में नामदेव ने साधना तत्व के साथ रागात्मक तत्व का समावेश करके उस भक्ति मार्ग का आभास दिया

जिसे बाद में जाकर कबीरदास ने अपनाया। कबीर ने अपने निर्गुण-पंथ में जहां एक ओर भारतीय वेदांत को अपनाया वहां दूसरी ओर सूफ़ी प्रेम धारा को अपनाकर निर्गुण ब्रह्म को भक्ति रूप खड़ा किया इस प्रकार कबीर ने नाथपंथ के जनता पर पड़ने वाले शुष्क प्रभाव को नष्ट करके उनमें किसी हद तक सरसता का संचार किया परन्तु खेद की बात यह थी कि सरसता के लिए कबीर पंथ में भी स्थान कम ही था। इस प्रकार इस पंथ की अन्तस्साधना में रागात्मक वृत्ति को मिल गई परन्तु कर्म के क्षेत्र में वही पुरानी स्थिति बनी रही। ईश्वर के धर्म स्वरूप में लोक रंजन की भावना का आविष्कार न हो सका और जनता के जीवन में जो जागृति या सरसता आनी चाहिए थी वह न आ सकी। "यह' सामान्य भक्तिमार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर।" रामचन्द्र शुक्ल यह सब होते हुए भी निर्गुण पंथियों ने अपने विचारों में सामंजस्य की भावना को विशेष स्थान दिया है। एक ओर नागपंथ योगियों से योग-भावना ग्रहणकी तो दूसरी ओर नामदेव से भक्ति भावना। रामानंद जी से अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें लीं और साथ ही दूसरी ओर सूफ़ी फ़कीरों से रागात्मकता, वैष्णव धर्मावलम्बियों से अहिंसा वाद और प्रवृत्तिवाद ग्रहण किया। इस प्रकार यह ना तो पूर्ण रूप से अद्वैतवादी ही हैं और ना एकेश्वावादी ही। दोनों का मिला-जुला रूप इनमें मिलता है। बहु देवोपासना, अवतारवाद और मूर्तिपूजा का इन भक्तों ने खंडन किया है। खंडनात्मक प्रवृत्ति इनकी विशेष प्रवृत्ति थी जिसमें नमाज़,रोज़ा, व्रत, कुरबानी यह सब व्यर्थ हो जाते हैं। ब्रह्म माया, जीव, सृष्टि और अनहदवाद की चर्चा इन लोगों ने पूरे, ब्रह्म ज्ञानी बनकर की है। विशुद्ध ईश्वर प्रेम और सात्विक जीवन इनकी विशेषता थी।

सगुणोपासना का भक्तों ने ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों को माना है। केवल भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने सगुण रूप को ही प्रश्रय दिया है। सगुण भक्त अव्यक्त की ओर संकेत तो करते हैं। परन्तु उनके पीछे नहीं पड़ जाते।

इस प्रकार सगुण और निर्गुण दो भक्ति धारायें विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर सत्रारहवीं शताब्दी के अन्त तक साथ-साथ चलती रहीं। निर्गुण धारा के अंतर्गत ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा थीं। प्रेमाश्रयी शाखा में सूफ़ी प्रेमधर्म की प्रधानता थी। यह शाखा केवल साहित्यिक क्षेत्र तक ही प्रधानता पासका। जनता में इसे कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिल सका। जिस प्रकार निर्गुण धारा के अंतर्गत दो शाखायें थीं उसी प्रकार सगुण-भक्ति उपासकों के भी दो मार्ग थे। एक भक्ति शाखा और दूसरा कृष्ण भक्ति शाखा-जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं। मध्ययुग में भक्ति के यही प्रधान आंदोलन थे।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. मध्ययुग की प्रारम्भिक धर्म प्रधान धारायें।
२. निर्गुण और सगुणोपासना की प्रधान धारायें।
३. निर्गुण धारा के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी दो प्रधान धारायें बनीं।
४. सगुणधारा के अन्तर्गत रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा यह दो शाखायें बनीं।
५. उपसंहार।

हिन्दू धर्म और पुराण

वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और पुराण हिन्दू धर्म के प्रधान धार्मिक ग्रंथ हैं। भारतीय धार्मिक चिंतन इन्हीं प्रधान ग्रन्थों में

प्रस्फुटित हुआ है। ब्राह्मणों ने पुराण के ही आधार पर हिंदू धर्म का अवस्थान किया है। इन ग्रंथों में हिंदू ध र्म की आत्मा है हृदय है।

पुराणों में हमें इतिहास चर्चा, शास्त्र, धर्म विचार, लोक कथाएं तथा लोक भावनाएं मिलती हैं। रामायण, महाभारत, शैली, विस्तार, भावना और प्रकार दृष्टि से पुराणों से भिन्न हैं। परन्तु इनके धार्मिक मूल तत्वों के आधार से अभिन्न ही हैं। पुराणों मे हमारे राजन्य और क्षत्रिय वर्ग का इतिहास छुपा रखा है। इतिहास सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर कलियुग के प्रारम्भ तक का है—एक दीर्घकाल का। यह इतिहास आर्यों, अनार्यों और उन सभी जातियों का है जिन्होंने समय समय पर भारत पर आकर आक्रमण किए और फिर वह आर्यजाति में ही अन्तर्निहित हो गईं। सत्य यह है कि यह कल्पना और भावना प्रधान ग्रन्थ ऐतिहासिक नाटकों अथवा उपन्यासों की भाँति पिछले चार पाँच हज़ार वर्षों का भावात्मक इतिहास इनमें हैं परन्तु यह कहना असम्भव है कि उनमें कल्पना का स्थान कहाँ तक है।

पुराण हिन्दू धर्म, हिंदू चर्चा और हिंदू संस्कृति की निधि हैं। संस्कृति के अंतर्गत विशेष रूप से ब्राह्मण धर्म को समझने के लिए पुराणों को समझ लेना अत्यंत आवश्यक है। पुराण वैष्णव-धर्म के प्राण हैं। परन्तु खेद की बात यह है कि एक काल ऐसा आया जब विद्वानों ने पुराणों को सही अर्थों में न समझ कर उनकी अभिव्यंजनाओं और उसके रूपकों को जनता के सम्मुख इस प्रकार रखा कि विचारकों के लिए इसके अतिरिक्त कहने को और कुछ न रहा कि यह सब व्यर्थ के बकवासी ग्रंथ हैं, कपोल कल्पित हैं, झूठ है। हमारा धर्म वेद और उपनिषदों पर आधारित है। पुराण हमारे धर्म ग्रंथ नहीं हैं। इस विचारधारा का प्रतिपादन भारत की जनता में 'ब्रह्मसमाज' और 'आर्य समाज' ने किया और इतने प्रबल आंदोलन किए कि एक बार को वास्तव में पुराण जनता को निन्दनीय से प्रतीत होने लगे।

पौराणिक धर्म भक्ति और श्रद्धा प्रधान है बुद्धि प्रधान नहीं। बुद्धि-प्रधान विचार धारा वाले व्यक्तियों ने खंडन-मंडन का आ[illegible] और पैनी धारवाली छुरी से धर्म को काटना छांटना आरम्भ कर दिया इसके फल स्वरूप अतिनैतिक चेतना और अतिनैतिक बुद्धि ने जन्म लिया और धर्म अनुभूति प्रधान न रहकर बुद्धि प्रधान बनने लगा। इस विचार धारा पर ईसाई धर्म का भी प्रभाव था। अंग्रेज़ी शिक्षित व्यक्ति विज्ञान की नवीन खोजों से भी प्रभावित होते जारहे थे। वैज्ञानिक दृष्टि से विकासवाद की नींव पड़ चुकी थी और हृदय पर बुद्धि को प्रधानता मिलनी समाज में भी प्रारम्भ हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में भला फिर पुराणों को कौन पूछता। लोगों ने पुराणों के उस महानतम महत्व को भी भुला दिया कि जिसके कारण उनका आज अस्तित्व मात्र भी अवशेष रह गया है। मुसलमान काल में यह पुराणों का ही बल था कि जिसने पराधीन पड़ी जनता के हृदयों को भी उत्साह और मंगल की भावना से निरंतर भरा और उन्हें कर्त्तव्य परायण बनाया।

वेद शास्त्रों और उपनिषदों तक ही आर्य जाति की धर्म चिंता को सीमित करने वाले व्यक्ति न केवल हिन्दू धर्म के साथ ही अपकार करते हैं वरन् वह अपनी जाति अपने इतिहास, अपने गौरव और प्राचीन ज्ञान के प्रति भी अन्याय कर रहे हैं। वेद, उपनिषदों के पश्चात् क्या आर्य जाति ने चिंतन करना बन्द कर दिया था ? और यदि कुछ गया था तो क्या वह ढोंग था, ग़लत था, पाखंड था, मूर्खता थी, पतन था—ऐसा क्यों ? यह सब कुछ होने का कोई कारण तो चाहिये ऐसा विचार करना भ्रम है। वेद और उपनिषदों में जहां एक अत्यंत छोटे वर्ग की धर्म चिंता है वहां पुराणों में जन साधारण की धर्म चेतना वर्तमान है। वेद और उपनिषदों ने प्रभावित किया है चिंतकों को, विचारकों को; परन्तु महाभारत, रामायण और पुराणों का क्षेत्र

उतना सीमित नहीं है, वह बहुत व्यापक है, विस्तृत है। पुराण भारत के जन जन की वाणी है, हृदय है, विचार है, धर्म है और नित्य के जीवन की भावना मय अनुभूतियां हैं। इसके प्रमाण स्वरूप हम भारत के देव मन्दिरों कथोपाख्यानों और काव्य-चित्रों तथा मूर्तियों को ले सकते हैं। इन सभी पर पुराणों की गहरी छाप है।

पुराणों को भावात्मक इतिहास मानना अधिक उचित होगा। सूर्यवंश, चन्द्रवंश, अग्निवंश, इसी प्रकार अनेकों वंशों की कथायें उनमें भरी पड़ी हैं। अनेकों वंशों के उत्थान पतन, अनेकों आर्य और अनार्य जातियों की महान संघर्ष गाथायें इनमें मिलती हैं। इन्हीं कथाओं के साथ-साथ देव कथाओं को इनमें स्थान दिया गया है। विष्णु, शिव, उमा, कार्तिकेय इत्यादि अनार्यों के देवता थे और इन्द्र, वरुण, इत्यादि आर्यों के कालांतर में अनार्यों के देवता विष्णु और शिव आर्य देवताओं में होकर जनता में मान्य हुए। पुराणों में देव कथायें सुन्दर रोमांस की भांति आती हैं। पुराणों में नीति को भी स्थान मिला है। व्रतचर्या, रहनसहन, तीर्थयात्रा, कला कौशल इत्यादि जीवन के विविध पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। जन्म से लेकर मरण तक की सब जीवन से सम्बन्ध रखने वाली परिस्थितिओं पर पुराणों की व्याख्या मिलती है। उच्चतम आध्यात्मिक, मानसिक और लौकिक व्यवहार हमें पुराणों में मिलता है।

भारत की दो डेढ़ हज़ार वर्षों की कला, साहित्य, वास्तु तथा मूर्ति-निर्माण इत्यादि सब कुछ पुराणों में ही तो मिलता है। पुराण हमारे उस काल का साहित्य है जिस काल पर न इतिहास ही मिलता है और न कोई अन्य ग्रंथ ही प्राचीन काल से धर्म और साहित्य कभी दो वस्तु नहीं रहे। भक्ति काल तक प्रथा ज्यों की त्यों चली आ रही है। तुलसीकृत रामायण यदि उत्तम काव्य है तो धर्मग्रंथ भी वह है। इसी प्रकार पुराण भी हमारे इतिहास हैं। आख्यान काव्य हैं, धर्म ग्रंथ

हैं और साहित्य हैं। पुराणों में इन सभी का सामंजस्य है। संस्कृत कवि माघ, भास और कालिदास ने अपनी रचनाओं के मूल में पौराणिक आख्यानों को लिया है। मध्ययुग में लिखे गये सभी साहित्य पर पुराणों का गहरा प्रभाव है रामायण और सूर सागर दोनों में पुराणों की कथायें लेकर कवियों ने काव्यों का निर्माण किया है आज के युग में उदय शंकर के नृत्य, रवीन्द्र स्कूल के चित्र पौराणिक नहीं तो और क्या हैं ?

इस प्रकार हमने देखा कि पुराणों में सौंदर्य शास्त्र, काव्य, इतिहास, देव कथायें, देवताओं का रोमांस, जीवन सम्बन्धी विचार, नीति विचार यह सब मिलता है परन्तु इनके साथ ही साथ आध्यात्मिक चिंतन भी उनमें कम नहीं है। जनता में धार्मिक विश्वासों को दृढ़ करने में जो कार्य पुराणों ने किया है वह अन्य ग्रंथ नहीं कर पाये। विजातीय धर्मों से टक्कर लेकर जनता को अपने कार्य से विमुख न होने देना यह पुराणों का ही काम था चाहे इस अटल सत्य को आज के नवीन धार्मिक विचारक न समझ सकें।

विषय पर संक्षिप्त विचार —

१. हिन्दू धर्म में पुराणों का महत्व।
२. पुराणों में हिन्दूधर्म का पुरातन इतिहास छुपा हुआ पड़ा है।
३. पुराणों में नीति है। कला है, जीवन सम्बन्धी ज्ञान है और अन्त में आध्यात्मिक तत्व की भी प्रधानता है।
४. यह अनुभूति प्रधान ग्रंथ है बुद्धि प्रधान नहीं। काव्य है कोरा इतिहास नहीं।
५. उपहार।

जैन धर्म और बुद्ध-धर्म

छटी शताब्दी ई० पू० जब मगध के राजा अपने आस-पास के राज्यों पर विजय प्राप्त करके चक्रवर्ती राज्य की स्थापना कर रहे थे

उसी समय भारत में कुछ ऐसे सुधारक नेताओं ने जन्म लिया जिन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन करके अपने धार्मिक साम्राज्यों का स्वप्न देखा। वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध यह सुधारक थे। इन्हीं दो महान् आत्माओं ने जैनधर्म और बुद्धधर्म को जनता में फैलाया और हिन्दू धर्म में पैदा हुई कुरीतियों के विपरीत शक्तिशाली आँदोलन किया।

आर्य लोग प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपों की कल्पना करके उनकी पूजा करते थे। देवताओं के रूप में उनकी आराधना होती थी। इन देवताओं की पूजा का यज्ञ-प्रधान साधन था। यज्ञों का कर्मकाण्ड जो कि पहिले बहुत सुगम था धीरे-धीरे जटिल होता चला जा रहा था। सर्वप्रथम यज्ञों में पशुओं की बलि प्रारम्भ हुई। एक दो तीन और अन्त में यहां तक कि एक-एक यज्ञ में हजारों की संख्या में पशुहिंसा होने लगी। यह बलि की प्रथा यहाँ तक बलवती हुई कि पशुओं से चल कर मानव तक आ पहुंची और बेचारे इधर-उधर से आने-जाने वालों को भी उन यज्ञों से भय लगने लगा।

समाज की व्यवस्था बिगड़ रही थी। ऊंच-नीच का भेद-भाव सीमा लाँघ कर कटुता के क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुका था। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने समाज, धर्म और शासन की सब शक्तियाँ हस्तगत करके अपने को ऊंचा समझना प्रारम्भ कर दिया था। वर्णाश्रम धर्म-कर्म प्रधान न रहकर जन्म-प्रधान बन गया था। शूद्रों और दासों की एक ऐसी श्रेणी का जन्म हो गया था कि जिसे इन लोगों ने मानवता के साधारण अधिकारों से भी वंचित कर रखा था। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार नहीं रह गये थे। धर्म के क्षेत्र में ढोंग और पाखंड का बोल-बाला था और क्षत्रिय तथा ब्राह्मण मिलकर जनता पर मनमाना अत्याचार कर रहे थे। ऐसे आपत्ति काल में महावीर और गौतम-बुद्ध ने हिन्दू धर्म में सुधार करने का सफल प्रयास किया।

महावीर—ज्ञातक गण राज्य में जिसकी राजधानी कुण्डग्राम थी, गण मुख्य सिद्धार्थ के घर वर्धमान महावीर ने जन्म लिया। इनका बाल्य और युवाकाल समृद्ध परिस्थिति में व्यतीत हुआ परन्तु इनकी प्रकृति प्रारम्भ से ही साँसारिक भोग-विलास से परे थी। यह 'प्रेय' मार्ग को छोड़कर 'श्रेय' मार्ग की ओर जाना चाहते थे। इसीलिये इन्होंने गृहस्थ जीवन का परित्याग करके तपस्वी जीवन को अपनाया बारह वर्ष तक घोर तपस्या की और तब ज्ञान की प्राप्ति हुई। इसके पश्चात् उन्होंने अपना शेष समस्त जीवन को अपने विचारों के प्रचार में लगा दिया। आपका धार्मिक आंदोलन जैनधर्म कहलाया। इनकी मृत्यु ७२ वर्ष की आयु में ५२७ ई० पूर्व हुई।

जैन धर्म—वर्धमान महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया उसके अनुसार मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है। इसके लिये मनुष्य को सत्य-अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह (धन संचय को परिमित करना) इन पांच बातों का अनुसरण करना चाहिये इन पांच विषयों का भली भाँति पालन करते हुए प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन से दुराचार और अपवित्रता की भावनाओं को निकाल देना चाहिये। सदाचरण और पवित्र जीवन से ही मानव को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। इस धर्म में अहिंसा और तपस्या पर विशेष बल दिया गया है। ईश्वर कोई पृथक नहीं है मनुष्य ही मोक्ष में पहुँच कर ईश्वर के स्थान को प्राप्त कर लेता है।

गौतम बुद्ध—गौतम का जन्म शाक्य गण में गणमुख्य शुद्धोधन के यहाँ हुआ था। इनका बालकाल बड़े लाड़-प्यार में व्यतीत हुआ परन्तु वर्धमान महावीर के ही समान इनकी प्रवृत्ति भी प्रारम्भ से 'श्रेय' मार्ग की ही ओर थी। २६ वर्ष की आयु में यह घर का परित्याग करके निकल पड़े और सात वर्ष तक तत्वज्ञान की खोज में इधर उधर भटकते फिरे। गौतम ने घोर तपस्याएं कीं परन्तु तपस्या में

उनकी आत्मा को शांति न मिली। इनसे परेशान होकर उन्होंने वर्तमान बुद्ध गया के पास एक पीपल के वृक्ष के नीचे वे सात दिन तक ध्यान मग्न पड़े रहे और वहीं पर उनकी आत्मा में एक दिव्य ज्योति का प्रकाश हो हुआ। साधना सफल हुई और वह ज्ञान दशा को प्राप्त हुआ। यहीं पर 'बोध' प्राप्त करके वह बुद्ध भगवान बने।

बौद्ध धर्म—गौतम बुद्ध ने समाज के ऊँच-नीच के भेदभावों का बहुत विरोध किया। केवल जन्म के कारण वह किसी को ऊँचा व नीचा मानने के लिए उद्यत नहीं थे। यह सच्चे अर्थों में कर्म सुधारक थे। उनकी दृष्टि में न कोई अछूत है और न कोई ब्राह्मण। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रि, वैश्य शूद्र सभी को अपना शिष्य बनाया और एक भाव से सबको दीक्षा दी। पशु हिंसा का गौतम बुद्ध ने कट्टर विरोध किया अहिंसा पर आपका विशेष बल था। केवल यज्ञों में ही उन्होंने विरोध नहीं किया वरन पशुओं को किसी प्रकार भी कष्ट देना उनके सिद्धाँतों के विपरीत था! यज्ञों में उनका तनिक भी विश्वास नहीं था वह चाहते थे चरित्रों की शुद्धता और काम क्रोध और मोह पर मानव की विजय। यज्ञों का अनुष्ठान वह व्यर्थ समझते थे। कर्म-काण्ड का गौतम बुद्ध ने विरोध किया और आचरण की सभ्यता को अपने धर्म का प्रधान लक्ष्य बनाया। स्वर्ग और मोक्ष को भी आपने इसी लोक में माना है किसी पृथक लोक में नहीं। आपने उच्च बनने के लिये यह आठ साधन बतलाये हैं (१) सत्य चिंतन (२) सत्य संकल्प (३) सत्य भाषण (४) सत्य आचारण (५) सत्य रहन सहन (६) सत्य प्रयत्न (७) सत्य ध्यान (८) सत्य आनन्द। निर्वाण पद प्राप्त करने को बुद्ध भगवान् ने जीवन का चरम लक्ष्य माना है। निर्वाण मानव की वह अवस्था है जब वह ज्ञान द्वारा अज्ञान भगा देता है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से सहस्त्रों वर्षों का

अन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान द्वारा मानव के मन की अविद्या का अन्धकार एक क्षण में लुप्त हो जाता है ।

इस प्रकार हमने जैन धर्म तथा बुद्ध धर्म पर दृष्टि डाल कर देखा कि यह कोई नवीन ध र्म नहीं थे और ना ही इनका चिंतन प्राचीन हिन्दू धर्म से कुछ विशेष विपरीत ही था । इन्हें हिन्दू धर्म में प्रतिक्रिया (Reaction) हम कह सकते हैं । इन सुधारकों ने दार्शनिक रहस्यों की छान बीन करके केवल उस काल में धर्म क अन्तर्गत जो बुराइयाँ आ चुकी थी उन्हीं का खण्डन करके आत्मा और जीवन-पवित्रता पर बल दिया है । गौतम बुद्ध ने ईश्वर के विषय में चिंतन ने ही नहीं किया क्योंकि उसके होने या न होने से आचरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

विषय पर सँक्षिप्त विचार—

१. जिस काल में यह सुधारात्मक आँदोलन प्रारम्भ हुए उस समय देश और धर्म की क्या दशा थी ?
२. वर्धमान महावीर और जैनधर्म ।
३. गौतम बुद्ध और बुद्धधर्म ।
४. उपसँहार ।

कुछ धार्मिक निबन्धों की रूप-रेखायें

शंकराचार्य और उनका दर्शन

१. जिस प्रकार ध र्म में अनेकों खटकने वाली बातें आजाने पर जैन धर्म और बौद्धधर्म के सुधार की आवश्यकता प्रतीत हुई उसी प्रकार कालान्तर से बौद्धधर्म में की अनेकों आचरण सम्बन्धी कमियाँ आने लगीं और एक बार फिर से हिंदू ध र्म के उत्थान का नवीन युग आया ।

२. हिन्दू धर्म के आचार्यों ने स्थान स्थान पर शास्त्रार्थों में बौद्ध भिक्षुओं को पछाड़ा और जनता में अपने पुरातन धर्म का प्रतिपादन करके सम्मान बढ़ाया।

३. हिन्दू धर्म के इन आचार्यों में कुमारिल भट्ट और उनके शिष्य शंकराचार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। शङ्कराचार्य ने अपने तर्क के बल से बौद्ध धर्म को भारत की सीमा से बाहर निकाल दिया।

४. शंकराचार्य का जन्म ७८८ ई० मालाबार में हुआ था इन्होंने वेदांत मत का प्रतिपादन करके केवल एक ब्रह्म को माना है ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब कुछ भ्रम है, मिथ्या है।

५. ब्रह्मज्ञान से ही आपने मोक्षप्राप्ति मानी है। भारत भर में घूमकर आपने बौद्धों को शास्त्रार्थ में परास्त किया और एक प्रकार से धर्मक्षेत्र में दिग्विजय प्राप्त की।

६. शंकराचार्य अधिक दिन तक अपने मत का प्रचार नहीं कर सके और केवल ३२ वर्ष की आयु में ही केदारनाथ में में आपका देहांत होगया?

७. यह वेदाँती लोग ईश्वर की पूजा शिव के नाम से करते हैं। शंकराचार्य ने ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया जिसे साधारण जनता समझने में असमर्थ रही। इसलिये यह ज्ञानमार्गी मत केवल कुछ बुद्धि-प्रधान जनता तक ही सीमित रहा, साधारण जनता तक नहीं पहुँच सकी।

८. उपसँहार।

स्वामी दयानन्द और उनके सिद्धांत

१. समाज के सम्मुख धर्म की व्यवस्था कर्मकाण्डी लोग व्यर्थ की रूढ़ियों में घुमा फिरा कर कहते थे। गौतम बुद्ध और वर्धमान महावीर के सुधारों के भी कुछ इसी प्रकार के कारण थे कालाँतर

से वैदिक धर्म का रूप बदल चुका था अनेकों प्रकार के मतमतांतरों ने जन्म लेकर प्रधान धर्म की गति को रोक दिया था। बाह्याडम्बर को वास्तविकता पर प्रधानता मिल चुकी थी। धार्मिक मतों पर आपसी वैमनस्य पैदा हो गया था। जातिभेद पराकाष्ठा को पहुँच चुका था समाज में स्त्रियों का कोई स्थान न था। उनके लिये न विद्या का और न किसी प्रकार की स्वतन्त्रता बाल विवाह, बहु विवाह इत्यादि अनेकों बुराइयाँ आ चुकी थीं। ऐसे काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ।

२. गुजरात प्रांत के टंकारा नामक ग्राम में आपका जन्म हुआ, जन्म तिथि अभी तक अज्ञात है इनके पिता का नाम कृष्ण जी तिवाड़ी था और यह राजा के कारिन्दे थे और शिव के पुजारी थे इसलिये इन्होंने अपने पुत्र का नाम मूल शंकर रखा था।

३. १४ वर्ष की आयु में इन्होंने व्याकरण यजुर्वेद और कई संस्कृत ग्रन्थ पढ़ लिये थे। शिवरात्री को इन्होंने व्रत रखा। आधी रात पर पूजन होता था। अन्य पुजारी सो गये परन्तु वह जाग रहे थे। इसी समय एक चूहा आकर शिवलिंग पर से कुछ सामग्री उठा करके ले गया बस इसी से मूलशंकर का मूर्तिपूजा से विश्वास उठ गया और उन्होंने सोचा कि जो पत्थर की मूर्ति अपनी सामग्री की भी रक्षा चूहे से नहीं कर सकती वह हमारी क्या रक्षा कर सकती है।

४. इसके कुछ दिन पश्चात् उनकी भगनी का देहान्त हो गया सब रो रहे थे परन्तु वह नहीं रोये। उसी समय से उन्हें वैराग्य होने लगा और अन्त में एक दिन उन्हें छोड़कर भागना पड़ा।

५. अनेकों स्थानों की खाक छान कर वह मथुरा पहुँचे और वहाँ प्रज्ञा चक्षु श्री विरजानन्द जी से उन्होंने दीक्षा ली। जब विद्या समाप्त कर चुके तो गुरु विरजानन्द ने कहा—बेटा संसार में अज्ञानांध-

कार फैल रहा है, ज्ञान ज्योति से उन्हें दूर करना। यह गुरु को वचन देकर देशाटन को निकल पड़े और धूमधाम के साथ प्राणों का मोह त्यागकर पाखंड खंडनी पताका फैरा दी।

६. स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा का खंडन, श्रद्धा-प्रथा का खंडन वैदिक शिक्षा का प्रचार, अछूतों का उद्धार, संस्कृत का पुनरुद्धार, हिन्दीकी उन्नति, गौ रक्षा का प्रचार, स्त्री शिक्षाका प्रचार यह सभी कुछ किया और आर्य समाज की स्थापना। आर्य समाज ने हिन्दुओं के संगठन का महत्वपूर्ण कार्य किया है। कन्याओं की शिक्षा में इन का प्रधान सहयोग रहा है।

७. सत्यार्थ प्रकाश स्वामी दयानन्द का ग्रन्थ है जिसमें सभी धर्मों की विवेचना करके आर्यधर्म की विशेषतायें प्रकट की गई हैं।

८. ३० अक्टूबर दीपावली के दिन सन् १८८८ में अजमेर में आपका देहान्त हुआ। आपको आपके विरोधियों ने दूध में कांच पिसवा कर पिलवा दिया था।

९. उपसंहार—स्वामी दयानन्द ने किसी नये मत या धर्म की स्थापना नहीं की। उन्होंने तो अपने प्राचीन आर्यधर्म को ही जनता के सम्मुख स्पष्ट करके रखा है। स्वामी दयानन्द ने उस काल में हिन्दू जनता का जो हित किया है हिन्दू जनता उस ऋण से कभी भी उऋण नहीं हो सकेगी।

हमारे ज्ञान प्राप्ति के साधन

१. ज्ञान प्राप्त के तीन प्रधान साधन हैं (१) इन्द्रिय-जन्य ज्ञान (२) तर्क-जन्य ज्ञान (३) और अनुभूति-जन्य ज्ञान।

२. इन्द्रिय-जन्य ज्ञान सबसे साधारण है और वह मोटी से मोटी बुद्धि वाले व्यक्ति को भी प्राप्त हो सकता है। आंखों से देखने

कानों से सुनने, हाथों से छूने इत्यादि का ज्ञान इस श्रेणी के अन्तर्गत आयेगा ।

३. तर्क-जन्य ज्ञान का मूल स्रोत बुद्धि है । पश्चिम के मनीषी तर्क बुद्धि और विज्ञान का आश्रय लेकर ज्ञान की चरम सीमा को प्राप्त करना चाहते हैं । परन्तु पूर्वी विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं । यह तर्क और बुद्धि से ऊपर भी कुछ मानते हैं । जहाँ तक तर्क का क्षेत्र है उसका नाम इन्होंने दर्शन इसी लिये रखा है कि उसके द्वारा ज्ञातव्य विषय का केवल दर्शन भर ही हो सकता है उसके रहस्यों का उद्घाटन नहीं हो सकता ।

४. किसी भी वस्तु के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये उस वस्तु से एकात्म स्थापित करने की आवश्यकता है और यह एकात्म स्थापित करना अनुभूति-जन्य ज्ञान के अतर्गत आता है । हिन्दू शास्त्रों में इस प्रकार के ज्ञान को 'प्रज्ञान', 'प्रतिमा', 'आर्ष-ज्ञान', 'सिद्ध दर्शन', 'योगी प्रत्यक्ष इत्यादि नाम दिये गये हैं ।

५. पश्चिमी विचारकों में जड़ तत्व की प्रधानता मिलती है और पूर्वीय विचारकों में आध्यात्म तत्व की ।

६. ज्ञान प्राप्ति के इन तीनों साधनों में तर्क-जन्य और अनुभूति-जन्य अगाढ़ विषयों पर विचार करने के लिये प्रधान साधन है । विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों में भी किस को प्रधानता दी जाये ?

७. ऋषियों ने विद्या को 'परा' और 'अपरा' दो शब्दों में रखा है । 'परा' के अन्तर्गत ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा कल्प व्याकरण, निरुक्त, छंद, और ज्योतिष ज्ञान आते हैं । ऋषियों ने इसी अक्षर ज्ञान को परम ज्ञान माना है और यह भी माना है कि इसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती । अपरा ज्ञान के अन्तर्गत आत्मानुभूति आती है ।

८. 'परा' और 'अपरा' दोनों ज्ञानों में से किसे पूर्ण कहें और किसे अपूर्ण यह प्रश्न विचारणीय है। वास्तव में पूर्ण एक भी नहीं है। यह प्रश्नों के स्पष्टीकरण मात्र हैं प्रश्नों के हल नहीं। सभी प्रधान विचारकों ने अपने अपने ज्ञान को पूर्ण माना है। ज्ञान वह है जो पकड़ में आजायं और सत्यज्ञान व्यापक होते हैं इसी लिये पकड़ में नहीं आते।

९. केवल सत्य साधन द्वारा ज्ञान प्राप्ति हो सकती है और जो प्रश्न असाध्य हैं उनका सत्य-साधन द्वारा स्पष्टीकरण हो सकता है।

१०. उपसंहार—पूर्वीय और पश्चिमीय ज्ञान की साधारण समीक्षा।

समाज और राजनीति में धर्म

१. मानव जीवन में यदि संसार के इतिहास पर दृष्टि डालें तो तीन प्रधान तत्वों के आधीन विश्व का कार्य क्रम चलता आया है। कभी धर्म की प्रधानता होती है, कभी अर्थ की और कभी राजीनति की।

२. सृष्टि के प्रारम्भिक युगों में मानव की आस्था ईश्वर में अधिक होने के कारण प्रत्येक देश में, समाज में और शासनव्यवस्था में धर्म की प्रधानता रहती थी, धर्माचार्यों का प्रभुत्व रहता था। प्रारम्भ में यह धर्माचार्य निस्वार्थ भाव से मानव, जाति और देश के उत्थान के लिए त्यागी बनकर सेवाभाव से इस प्रधान आसन को ग्रहण करते थे और यही कारण था कि राजे महाराजे भी उनके चरण छूते थे और उनकी आज्ञा का पालन करते थे।

३. इसका फल यह हुआ कि धर्माचार्यों का महत्व बढ़ गया; और जनता पर उनका प्रभाव हो गया। राज गद्दियों की भाँति धर्म की भी गद्दियाँ बन गईं और उसमें शक्ति को सुसंगठित करने को

भी भावना प्रधान हो गई। प्रारम्भ में जो राजे, महाराजे, सरदार और प्रजा धर्माचार्यों का आदर करते थे वह उनके उच्च आचरण, पांडित्य और निस्वार्थ सेवा के लिए करते थे। परन्तु अब उसके स्थान पर धर्म मठों में राजाओं से भी अधिक ठाठ-बाठ थे, शृंगार था और यदि यह भी कह दिया जाय कि यह व्यभिचार के अड्डे बन गये थे तो अनुचित न होगा। भगवान के नाम पर धन भोग-विलास और ऐश्वर्य मठाधीशों को प्राप्त होता था।

४. इन आचरणों के कारण धर्म से आस्था उठने लगी। राजपद और धर्मपद के बीच में संघर्ष छिड़ गया। कुछ विश्वासी जनता ने धर्म का साथ दिया और राजा ने अपनी शक्ति का उपयोग किया यह संघर्ष योरुप में प्रधान रूप से चला और फलस्वरूप धर्म पोप की महानता नष्ट होगई।

५. स्वाधीन देशों में धर्म की प्रधानता राजनैतिक क्षेत्र से समाप्त हो गई परन्तु पराधीन देशों में वह जनता के बीच बराबर चलती रही। भारत जैसे देशों में जहां कई धर्म के व्यक्ति रहते हैं वहां शासकों ने इस अस्त्र को पारस्परिक फूट पैदा करने के लिए भी अपनाया। परन्तु मानव प्रगतिशील है और मानव के साथ समाज और शासन व्यवस्थायें चलती हैं। शासन व्यवस्थाओं में परिवर्तन होने पर राजपद, और अन्त में साम्राज्यवाद का भी अन्त सा हो गया। जिसके फलस्वरूप भारत जैसे देश स्वतंत्र हुए और यहाँ भी साम्राज्यवाद के अंतिमचरण में धर्म ने अपना काँड दिखलाया जिसके फल स्वरूप लाखों मुसलमान और हिन्दू दानव बनकर मानवों पर टूट पड़े। देश का विभाजन हुआ और उसने एक ऐसी अव्यवस्था को जन्म दिया जिसे भारत और पाकिस्तान की शासन व्यवस्था आज तक नहीं संभाल सकी।

६. उपसंहार—आज धर्म स्वार्थ के लिए है, पाखंड के लिए है, शक्ति छीनने के लिए है—मानव उत्थान के लिए नहीं, आत्म

बल के लिए नहीं, शुद्धाचरण के लिए नहीं। वर्तमान धर्म प्रारम्भिक धर्माचार्यों का प्रभाव न होकर मध्ययुग के धर्माचार्यों का प्रभाव है और जनता चल रही है बुद्धिवाद की ओर। धर्म बुद्धिवाद की ओर से रूढ़िवाद की ओर चला है। इसलिए आज मानव और धर्म में टक्कर हो रही है। और जब तक धर्म अपने रूढ़िवाद को छोड़ कर बुद्धिवाद की तरफ़ चलना प्रारम्भ नहीं कर देगा उस समय तक यह टक्कर बराबर चलती रहेगी। यह टक्कर दोनों भावनाओं के समन्वय क्षेत्र में ही जाकर रुकेगी।

सामाजिक निबन्ध

भारतीय समाज की समस्या

भारत का समाज धर्म और राजनीति दोनों से प्रभावित होता है। वास्तव में यदि हम संगठनों के प्राचीनतम रूपों पर विचार करें तो समाज मानव का सर्व प्रथम संगठन प्रतीत होता है। जब बहुत से मानव एक स्थान पर एकत्रित होकर रहने लगे तो उनकी बाहरी रक्षा के साथ-साथ उनके नित्य के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले नियमों की भी आवश्यकता हुई। इन्हीं नियमों के आधार पर समाज का निर्माण हुआ। शासन व्यवस्था का कार्यभार हलका करने के लिये एक नियमित और सुसंगठित समाज की आवश्यकता हुई।

धीरे धीरे मानव ने अपने जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए समाज-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और धर्म-व्यवस्था का आधार लिया। प्रारम्भ में राज्यव्यवस्था और धर्म व्यवस्थाओं ने प्रबल रूप धारण किया और समाज को गौण रूप दे दिया परन्तु सामाजिक संगठन मानव जीवन के प्रतिक्षण के कार्यक्रम से सम्बन्धित होने के कारण मानव जीवन में गौण न हो सका और यह अपनी रूढ़ियों के आधार पर निरंतर अपने को बलवान बनाता चला गया। समाज मानव जीवन की आवश्यकता बन गई। जब तक भारत स्वतंत्र रहा उस समय तक समाज बराबर गौण रूप में ही रहा परन्तु उसका आधार भी एक रूप से धर्म ही होता चला गया समाज और धर्म दोनों मिलकर एक से प्रतीत होने लगे।

भारत जब पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा गया और राजनैतिक शक्ति का पूर्ण रूप से ह्रास हो गया तो धर्म का राजनीति से सम्ब-

न्ध विच्छेद होकर केवल समाज से ही जुड़ गया और दोनों ने मिल कर एक लम्बे युग तक हिन्दूसमाज को जीवित रखने में सहयोग दिया। समाजिक नियमों ने राजनैतिक असुविधाओं में अपने बन्धनों को और दृढ़तर किया। और धर्म के आचार्यों ने समाज के ढाँचे को इतना सुदृढ़ बनाया कि उसकके नियंत्रण के लिए राज्य का मुँह न ताकना पड़े परन्तु इस सुदृढ़ व्यवस्था मे से धीरे २ जीवन का ह्रास होने लगा और सामाजिक बन्ध लोहे की चार दीवारियों की भाँति ऐसे बन गए कि समाज की सुधार व्यवस्थायें इत्यादि के लिये कोई स्थान अवशेष न रहा। इस अंधकार काल में धर्म और समाज के नाम पर अंध विश्वास का उदय हुआ और बुद्धिवाद के लिए धर्म और समाज के क्षेत्र में कोई स्थान न रह गया। धर्म और समाज के झूठे पोंगा पंथियों ने अपना प्रभुत्व जमा कर समाज को अपने पाखंड के ऐसे चंगुल में फँसाया कि समाज का भविष्य अंधकार पूर्ण हो गया।

समाज में इस काल की कठिन परिस्थियों और अंधविश्वासों के कारण अनेकों बुराइयां पैदा होती चली गईं। मुसलमान काल में जब शासकों के कुआचरण व्यवहार से समाज तंग आगया तो उसने बाल-विवाह की प्रथा निकाली। लड़का और लड़की पैदा हुए और उनका सम्बन्ध जोड़कर विवाह कर दिया। यह किया गया समाज की मान मर्यादा की रक्षा के लिये। परन्तु इसके फलस्वरूप समाज में एक नवीन कुरीति का प्रादुर्भाव हुआ और वह थी बाल विधवाओं की समस्या। मुसलमानों की पर्दा प्रथा का भी भारतीय समाज पर प्रभाव पड़ा। स्त्रियों की सुरक्षा के लिये उन्हें भी पर्दे में रखने का सामाजिक नियम बनाया गया। इस प्रकार पर्दे की कुप्रथा का जन्म भारतीय समाज में हुआ। पर्दे के साथ ही साथ भारत की नारियों में से शिक्षा का भी लोप होता चला गया। जीवन में सुरक्षा न रहने के कारण नारी को इस प्रकार सुरक्षित रखने की आवश्यकता होने लगी

जिस प्रकार धन, माल और आभूषणों को चोरों और डाकुओं से सुरक्षित रखा जाता है। ग्रामीण जनता में आज भी नारी को 'टूम' के नाम से सम्बोधित किया जाता है और 'टूम' ग्रामीण भाषा में आभूषणों को कहते हैं। इसी प्रकार सती की प्रथा, विधवा, विवाह अनेकों जातियों के प्रतिबंध इत्यादि समाज के क्षेत्र में ऐसी बुराइयाँ उपस्थित हो गई कि जिसके कारण मानव की प्रगति में पग पग पर बाधायें उपस्थित होने लगीं और वह जड़ होकर रह गया।

इन बुराइयों का निवारण करने के लिये समाज में राजा राम-मोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे सुधारक पैदा हुये जिन्होंने समाज के उस संकुचित रूढ़िवाद के विपरीत विद्रोह किया और स्वयं विषपान करके समाज को अमृत प्रदान किया। उस काल से समाज ने फिर से पनपना प्रारंभ किया। महात्मा गाँधी ने भी समाज की महानतम बुराई अछूत समस्या के विरुद्ध आंदोलन किया और आज तो राजनियमों द्वारा ही उनके अधिकारों को सुरक्षित कर दिया गया। समाज के माथे का यह कलंक अब मिट रहा है धीरे धीरे सम्भवतः मिट जायेगा क्यों कि समाज की वर्तमान प्रगति में अन्ध-विश्वासों और व्यर्थ के ढकोसले बाजियों के लिये कोई स्थान नहीं है। मानव का दृष्टिकोण वस्तृत होता जा रहा है। सीमित वातावरण में आज का मानव नहीं पालना चाहता

मानव अपने साधनों के साथ चलता है। ज्यों ज्यों दृष्टिकोण के व्यापक बनाने के साधन विस्तृत होते जायेंगे त्यों त्यों मानव का दृष्टि-कोण, उसकी समस्यायें, उसके विचार, उसकी भावनायें, उसकी कल्पनायें और उसकी योजनाओं में भी विस्तार आजायेगा। आज के युग में समाज के साथ ही साथ धर्म के बंधन भी ढीले पड़ चुके हैं। आज राज्य-सत्ता प्राचीन राज्य सत्ता न रह कर समाज की अपनी सत्ता बन गई है। इसलिये वह सत्ता भी जो कुछ करेगी वह समाज

को स्वस्थ बनाने के लिये ही करेगी। जब तक समाज स्वस्थ नहीं होगा उस समय तक राष्ट्र सुदृढ़, सुसंगठित और सुव्यवस्थित नहीं हो सकता। जिसका कि अभाव देश, राष्ट्र और समाज तीनों के लिये हानिकारक है।

आज के समाज में धर्म का प्रधान स्थान नहीं रह गया है। धार्मिक शृंखलाओं में बांधकर समाज को नहीं रखा जासकता। आज के प्रगतिशील समाज में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सभी एक मेज पर बैठकर खाना खा पी सकते हैं। जहां तक खान-पान का संबंध है वहाँ तक सामाजिक शृंखलायें बहुत ढीली पड़ चुकी हैं परंतु जहाँ तक विवाह इत्यादि नाते-रिश्तों का संबंध है वहाँ अभी भी समाज बहुत पिछड़ा हुआ है। अंतर्जातीय विवाह होने अवश्य प्रारंभ हो गये हैं परंतु अभी उनकी संख्या ना के ही बराबर है और जो हो भी जाते हैं उन्हें फिर समाज में अपना जीवन चलाने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। शहरों में इस प्रकार के संबंध कुछ प्रचलित हुए हैं परन्तु भारत का अधिकांश जन समूह ग्रामों में रहता है और वहाँ पर अभी यह प्रथा नाम मात्र के लिये भी प्रचलित नहीं। यदि कोई इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करता भी है तो उसे 'भगा ले जाना' कहकर गिरा हुआ काम समझा जाता है। समाज में उसे घृणित दृष्टि से देखा जाता है। ग्रामों में भी इतनी सामाजिक स्वच्छंदता का आभास अवश्य मिलता है कि जातियों से जो व्यक्ति च्युत करके 'बीसे' से 'दसे' कहलाने लगे थे उनमें आपस में सम्बन्ध अवश्य स्थापित होने लगे हैं।

इस प्रकार आज समाज अपने बन्धनों को धीरे धीरे नमस्कार कर रहा है और भारत में एक ऐसे समाज का निर्माण होने की सम्भावना है कि जिसका आधार धर्म पर न होकर राष्ट्र पर हो। मानवता के अमूल्य सिद्धांतों के आधार पर आज के समाज का निर्माण होकर

रहेगा। इसमें से ऊँच-नीच की भावना का अन्त होना अवश्यम्भावी है और वह होकर रहेगा। अपने अपने कार्य क्षेत्र के अनुसार समानता नर और नारी दोनों में एकरूपता के साथ आयेगी। दोनों को स्वतंत्रता रहेगी अपने अपने कार्य क्षेत्र में, सामाजिक बन्धनों से दोनों ही मुक्त होंगे। धर्म उनके मार्ग में कोई रुकावट उपस्थित नहीं करेगा। स्त्री और पुरुष दोनों दो मतावलम्बी होने पर भी अपना सम्बन्ध सुगमता पूर्वक संचालित कर सकेंगे। भारत में बहु धर्म का होना ही आज भारत के समाज की प्रधान समस्या है। इस समस्या का समाधान होने में समय लगेगा।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. समाज की प्रारंभिक दशा।
२. मध्ययुग में राजनैतिक पराधीनता के समय समाज के नियमों द्वारा भारत की जनता का संरक्षण।
३. आज के प्रगतिवाद में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता के साथ रूढ़िवाद का अन्त।
४. उपसंहार।

भारतीय समाज और हिन्दी साहित्य

समाज पर साहित्य का क्या प्रभाव पड़ता है और साहित्य पर समाज का क्या प्रभाव पड़ता है इसकी निश्चित रूप रेखा बनाना कठिन कार्य है। यह प्रभाव कितना पड़ता है, क्या प्रभाव पड़ता है, किन परिस्थितियों में पड़ता है, किन परिस्थितियों में कम और किन में अधिक पड़ता है यह बहुत महत्वपूर्ण समस्यायें हैं जिनका अनुसंधान इतनी सुगमता से नहीं किया जा सकता हाँ वस्तु स्थिति की रूप रेखा अवश्य बनाई जा सकती है।

मानव समूह का नाम समाज है और लेखक तथा पाठक दोनों ही समाज के प्राणी हैं। दोनों का समाज पर प्रभाव पड़ता है और समाज का दोनों पर पड़ता है। लेखक जो कुछ भी लिखता है उसमें समाज का प्रतिबिंब पड़ता है और समाज के व्यक्ति लेखकों की जिन रचनाओं को अध्ययन अथवा मनोरंजन के लिये पढ़ते हैं उनका उन पर प्रभाव पड़ता है। इससे यह सत्य तो स्थिर हो जाता है कि दोनों का दोनों पर प्रभाव पड़ता है परन्तु यह आंकना कठिन है कि वह किस दिशा में, किस मात्रा में और किन विचारों के आधीन पड़ता है।

भारतीय समाज पर भौतिकता का प्रभाव उतना नहीं है जितना हृदयवाद का। हमारा समाज भाव प्रवण है, उसमें हृदय पक्ष प्रधान है और बुद्धिपक्ष गौण। इसका प्रधान कारण यह है कि समाज का संचालन आदिकाल से धर्म पक्ष के आधीन हुआ है विज्ञान के आधीन नहीं। हृदय-पक्ष प्रधान होने के कारण भारतीय समाज पर काव्य के अन्य अंगों की अपेक्षा कविता का अधिक प्रभाव है। नाटक साहित्य का भारतीय समाज के प्रारम्भिक युग में हमें प्राधान्य मिलता है परन्तु मध्ययुग में आकर नाटक साहित्य का लोप सा ही हो गया। विलायती समाज पर भी कविता और नाटक साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है परन्तु वहाँ हृदय-पक्ष की अपेक्षा बुद्धिपक्ष प्रधान होने के कारण उपन्यास और कहानियों की ओर समाज का अधिक ध्यान है। विलायती समाज में भाव प्रवणता का अभाव और बुद्धि-प्रवणता की तीव्रता मिलती है।

भारतीय समाज में प्राचीन काल से काव्य का महत्व रहा है और प्राचीन काव्यों को समाज ने धर्म ग्रंथ मान कर अपनाया है। गोस्वामी तुलसीदास की रामायण ने समाज पर जो प्रभाव डाला है वह कुरान-शरीफ़, बाइबिल, और वेदों से किसी प्रकार भी कम नहीं है। रामायण में एक आदर्श समाज का चित्रण होते हुए भी समाज का सच्चा

चित्र इसमें वर्तमान है। समाज के गुणों के साथ अवगुणों का भी उसमें चित्रण है। बहु विवाह और सती प्रथा का रामायण में समावेश है साथ ही निशादराज से रामचन्द्र का मिलन करा के और भीलनी के झूठे बेर खिला कर छुआछूत की भावना के प्रति विद्रोह भी प्रकट किया गया है। इस प्रकार समाज का साहित्य पर और साहित्य का समाज पर स्पष्ट प्रभाव मिलता है। भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही साहित्य की प्रतिष्ठा है। वेद, उपनिषद, पुराण, धर्मशास्त्र, महाभारत, रामायण यही सभी काव्य हैं। इन सभी में राजनैतिक और धार्मिक प्रभावों के साथ साथ समाज का भी प्रभाव दिखलाई देता है। इन सभी ग्रन्थों में कविता की प्रधानता होने के कारण हृदय-पक्ष की ही प्रधानता मिलती है। वेदों में हृदय-पक्ष के साथ ही साथ बुद्धिवाद की भी कमी नहीं है। वेदों में तर्क को भी पर्याप्त स्थान दिया गया है। भारतीय जनता धर्म प्रधान है इसलिये इस धर्म प्रधान काव्यों का समाज पर आज भी कम प्रभाव नहीं है।

किसी भी काव्य का समाज पर प्रभाव दो कारणों से पड़ता है। एक तो उनके काव्य-तत्व के कारण और दूसरे उसके विषय के कारण काव्य का विषय उपयोगिता और भावना के आधार पर प्रभावशाली होता है। कुछ काव्य उपयोगिता-प्रधान होते हैं और कुछ भावना प्रधान। दोनों में कौनसा उच्च श्रेणी में रखा जा सकता है यह कहना कठिन है परन्तु मानव और समाज दोनों से प्रभावित होता है; कम और अधिक की मात्रा समय और परिस्थिति के अनुसार होती है। प्राचीन काव्यों में धर्म भावना की प्रधानता हमारे मनीषियों ने रखी है और इसी भावना का समाज पर प्रभावांकन हुआ है। पुराण रस और चमत्कार दोनों की प्रधानता के कारण समाज में व्यापक स्थान पा गये। इनके काव्य तत्व और धर्म भावना दोनों ने समाज को व्यापक

रूप से प्रभावित किया है और समाज ने उन्हें आत्मसात किया है। प्राचीन ग्रन्थों ने समाज को क्या नहीं दिया है ? राम जैसा कर्तव्य परायण राजा दिया है जो अपनी प्रजा के लिये सीता जैसी स्त्री का परित्याग कर सकता है; दशरथ जैसा पिता दिया है जो पुत्र स्नेह में प्राण त्याग कर सकता है, राम जैसा पुत्र दिया है जो पिता की आज्ञा पालन करने के लिये बारह वर्ष का वनवास ग्रहण करता है, भरत और लक्ष्मण जैसे भाई दिये हैं जो बड़े भाई की सेवा पिता समान करने को जीवन भर उद्यत रहे, हनुमान जैसे सेवक दिये हैं, कृष्ण सुदामा जैसे मित्र दिये हैं, बालमीकि जैसे तत्वज्ञानी ऋषि दिये हैं, परशुराम जैसे क्रोधी दिये हैं; मीरा जैसी सती दी है, कृष्ण जैसे नीति परायण दिये हैं और युधिष्ठर जैसे सत्यवादी दिये हैं। इन उच्चादर्शों के साथ ही साथ समाज की कमियों को भी काव्यकारों ने अपने काव्यों में रखकर उनको मानव समाज के लिये हितकर बनाया है। मंथरा की कुटिलता, कैकेई की डाह, महाभारत में जुए में स्त्री तक को दाव पर रख देना, युधिष्ठर जैसे सत्यवादी का भी नीति के अंतर्गत झूठ बोलना, दुर्योधन का लोभ, दानी हरिश्चन्द्र का दास की भाँति बिकना इत्यादि मानव और समाज की कमियों को भी प्रचीन साहित्य में उचित स्थान मिला है। यह मानव जीवन की न्यूनता में साहित्य में आकर साहित्य के सौंदर्य में वृद्धि ही करती हैं कुछ कमी नहीं।

साहित्य ने समाज को रामभक्ति दी है, कृष्णभक्ति दी है, अवतारवाद दिया है या इसके विपरीत यह भी कह सकते हैं कि रामभक्ति कृष्णभक्ति और अवतारवाद ने समाज को राम और कृष्ण भक्ति का सुन्दर और सरस साहित्य दिया है। मध्ययुग के भक्ति साहित्य ने समाज को आश्वासन दिया है, साहस दिया है, धैर्य दिया, निर्भीकता दी है मंगलमय कामना। समाज नैराश्य में आशा का उदय किया है।

वीर गाथा काल के साहित्य ने समाज का उत्साह बढ़ाया है। ज्ञान दिया है। साहित्य के रसोद्रेक और उसकी रसानुभूति का समाज पर निरंतर प्रभाव पड़ा है और पड़ रहा है परन्तु सामाजिक चित्रणोंले जो साहित्यकार पाठक को उसके अपने जीवन के बीच लेजाकर खड़ा कर देता है उसमें पाठक अपनापन पाकर जिस आनन्द की अनुभूति करता है वह आनन्द उसे उत्कृष्ट से उत्कृष्ट रसोद्रेक में भी प्राप्त नहीं हो सकता। साहित्य कठोर से कठोर हृदय को कोमल बना देता है। वह चट्टान से रस का स्रोत बहा सकता है और कोमल से कोमल हृदय को कठोर बना देता है। साहित्य के पास रस है, अलंकार है। अनुभूति है, ज्ञान तत्व है, कल्पना है, हृदय पक्ष है, सगुण और सदोष भाषा है, क्या नहीं है साहित्य के पास। मानव और अमानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाली हर प्रकार की रचना साहित्य के क्षेत्र में आती है, इतना व्यापक है साहित्य का क्षेत्र। क्षेत्र व्यापक होने के साथ ही साथ समाज पर साहित्य का प्रभाव भी व्यापक है।

साहित्य भी दो प्रकार का होता है व्यक्तिगत साहित्य और समाजगत साहित्य। समाजगत साहित्य का तो आधार है ही समाज। जहाँ लेखक चलता ही समाज को लेकर है परन्तु व्यक्तिगत अथवा व्यक्ति-प्रधान साहित्य भी समाज से बाहर की कोई केवल कल्पना की आधार भूत रचना नहीं हो सकती। मानव समाज का एक अणु है इसलिये वह समाज से पृथक अपना अस्तित्व स्थापित ही नहीं कर सकता। उसे पगपग पर समाज की आवश्यकता होती है और उसी के सम्मिलन में उसके जीवन और साहित्य की पूर्ति है।

इस प्रकार हमने देखा कि साहित्य और समाज का बहुत घनिष्टतम सम्बन्ध है। प्राचीन साहित्य प्राचीन समाज का प्रतिबिम्ब है और आगामी समाज की रुपरेखा है। उसी प्रकार आज का साहित्य वर्तमान का प्रतिबिम्ब है और भविष्य की रुपरेखा है। व्यक्ति और समाज

के निर्माण में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ है और उसी प्रकार साहित्य के निर्माण में व्यक्ति और समाज का। साहित्य हमारे प्राचीन समाज का वह कोष है कि जिसे वह समाज धरोहर के रूप में वर्तमान समाज को दे गया है और यह समाज आने वाले समाज को दे जाये।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. समाज साहित्य पर आधारित है और साहित्य समाज पर।
२. प्राचीन साहित्य पर दृष्टि डालकर देखने से पता चलता है कि व्यक्ति प्रधान और समाज प्रधान दोनों ही प्रकार के साहित्य में समाज का निर्माण निहित है।
३. साहित्य ने समाज को राम, कृष्ण, सुदामा, भरत, अर्जुन, भीम, जैसे चरित्र दिये हैं।
४. साहित्य ने समाज को प्राचीन का प्रतिबिम्ब और भविष्य की रूप-रेखा दी है।
५. साहित्य ने समाज को रसोद्रेक दिया है और दी है जीवन को व्यापकता।
६. उपसंहार।

हिन्दू समाज में वर्णाश्रम धर्म

यदि हम वर्णाश्रम धर्म के प्राचीनतम इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होता है कि वर्णों की व्यवस्था एक ऐसे काल में की गई थी जब उनका करना अनिवार्य था। नित्यप्रति के संघर्ष आर्यों और अनार्यों के बीच चलते थे। समाज विस्तृत होता जा रहा था। इसलिये समाज का समस्त कार्य भार अव्यवस्थित रूप से नहीं संभाला जा सकता था। आर्यजाति ने उस काल में वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था करके मानव जीवन को चार प्रधान भागों में विभाजित कर दिया। (१) विद्या पठन-पाठन (२) समाज की रक्षा (३) धन और अन्न उपार्जन (४) तथा इन तीनों काम करने वालों की सेवा करना।

इस प्रकार समाज विभाजित होकर अपने अपने कार्य में जुट गई और कुछ ही दिनों में आर्यजाति ने आशातीत उन्नति की। जीवन के सभी कार्यों का संचालन भली भाँति होने लगा और मानव समाज में कोई भी व्यक्ति न रहा जिसका कि कुछ कर्तव्य न हो। यदि वह विद्या की ओर संलग्न है तो वह ब्राह्मण है, यदि वह वीर पराक्रमी है तो वह क्षत्रिय है, यदि वह धनोपार्जन में रुचि रखता है तो वह वैश्य है और यदि वह इन तीनों कार्यों में से कुछ नहीं कर सकता तो वह सेवा भार तो अपने ऊपर ले ही सकता है। इसी प्रकार व्यवस्थित होकर आर्य समाज ने राज्य व्यवस्था, कला-कौशल, उद्योग-धंधे, व्यापार इत्यादि सभी क्षेत्रों में संसार का प्रतिनिधित्व किया।

इस वर्णव्यवस्था का सबसे बड़ा गुण आर्य समाज के संचालकों ने यह रखा था कि इसका आधार जन्म पर न होकर कर्म पर था। वर्णों का विभाजन कर्मों के आधार पर होता था। एक शूद्र विद्याध्ययन करके ब्राह्मण बन सकता था और ब्राह्मण बुरे काम करके शूद्र हो सकता था। प्राचीन साहित्य में ऐसे दृष्टान्त हैं कि जहाँ शिकारी ज्ञान प्राप्त करके महामुनि हो गये हैं और रावण जैसे ब्राह्मण आचार्य राक्षस कहलाये हैं। वर्ण व्यवस्था का यह मूल सिद्धान्त धीरे २ ह्रास को प्राप्त होता चला गया और इसी के ह्रास के साथ २ वर्णाश्रम धर्म का महत्त्व भी नष्ट होने लगा।

शक्ति पाकर शक्ति खोना कोई नहीं चाहता। फिर वह शक्ति या निर्बल होकर देनी पड़ती है अथवा उनसे छीनली जाती है ब्राह्मण जाति के हाथों में शक्ति आई और उन्होंने अपनी सन्तान को माया-जाल में फंस कर वर्णाश्रम धर्म के मूल सिद्धान्त को भुला दिया। ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण कहलाया चाहे उसके आचरण कैसे भी क्यों न हों? मानव मानव में स्वार्थ के वशीभूत होकर घृणा और विद्वेश की की भावना का प्राबल्य हुआ। अपनी अपनी शक्ति को सुसंगठित

रखने के लिये वर्णों की सीमाओं को रूढ़िवादों के आधार पर बाँध दिया गया। वर्ण शब्द का एक प्रकार से लोप सा दिखाई देने लगा और इसके स्थान पर जाति शब्द का प्रयोग प्रचलित होगया। मानव समाज को जातियों में विभाजित किया जाने लगा और ज्यों ज्यों मानव समाज का विस्तार हुआ त्यों त्यों जातियों की संख्या भी बढ़ने लगी। इस प्रकार संख्याओं का बढ़ना स्वाभाविक ही था क्योंकि व्यवस्था गुणों से हटकर जन्म पर आधारित हो चुकी थी, और जन्म की व्यवस्था को सीमित नहीं किया जा सकता था।

गुणों की व्यवस्था समाप्त होकर जन्म की व्यवस्था होने समाज अंग प्रत्यांगों के विभाजन में आजाने से समाज का जो सबसे बड़ा अहित हुआ वह यह था कि मानव के विकास उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। जाति बन्धन के प्रतिबन्धों ने मानव के बुद्धिवाद, अनुभूति और विकासवाद तीनों का गला घोंट दिया और जनता का साम्राज्य मानव पर छा गया। धन सम्पत्ति की भाँति बुद्धि, गुण आचरण, यश और पांडित्य भी बपौती के रूप में समाज के व्यक्तियों को प्राप्त होने लगे और उनके लिये करने का कुछ अवशेष ही न रहा। ब्राह्मण का पुत्र पण्डित है और वैश्य का सेठ, क्षत्रिय-पुत्र वीर है और शूद्र पुत्र दास। इससे अधिक बढ़ने के लिए किसी को कोई सुविधा न थी। यहाँ तक धर्म के पाखण्डों ने अपना जाल फैलाया कि शूद्र यदि वेदमंत्र अकस्मात भी सुन ले तो उसके कानों में गर्म करवा कर सीसा भरवा दिया गया। इस वर्णाश्रम धर्म की यहाँ तक दुर्गति हुई।

इसके फलस्वरूप बौद्धधर्म और जैनधर्म का विकास हुआ। यह वर्णाश्रम धर्म ही एक प्रकार से ब्राह्मण धर्म कहलाता है और इसी के आचरणों के विरुद्ध बौद्धधर्म और जैनधर्म ने विद्रोह किया। यह सब विद्रोह हुए, अनेकों बवण्डर आये, विधर्मियों के आक्रमण

हुए, शताब्दियों तक भारतीय सत्ता पदाक्रांत होती रही परन्तु ब्राह्मण धर्म की श्रृंखलाएं ढीली नहीं पड़ीं। यह सत्य है कि इन श्रृंखलाओं ने प्रगतिवाद को धक्का पहुंचाया परन्तु मध्ययुग में भक्ति के रूप में हृदयवाद को इतने विशाल रूप में जन्म दिया। कि हिन्दू समाज के चारों वर्णों के नैराश्य को अपनी भावना की धारा में प्रवाहित कर दिया। इस धारा ने भारतीय पुराने वर्णाश्रम धर्म पर कुठाराघात नहीं किया परन्तु धर्म क्षेत्र में सब वर्णों को स्वाधीनता दे डाली। रामायण पढ़ने का एक शूद्र को उतना ही अधिकार प्राप्त हो गया कि जितना एक ब्राह्मण को। भक्ति की इस धारा ने भारतीय समाज के विचारों में भी एक क्रांति को जन्म दिया और उनका उस काल में विद्रोह भी कम नहीं हुआ। भाषा में धर्म ग्रन्थों का होना और फिर इसे सभी वर्णों को उन्हें पढ़ने का समानाधिकार देना बपौती के रूप में धर्म के ठेकेदारों के मार्ग में कठिन व्याधा बन कर खड़ा हो गया। समाज में उनकी पोल खुलने लगी और लोगों की श्रद्धा भी धीरे-धीरे उनपर से उठने लगी। आराम से बैठकर मठों में हलवा पूरी खाने वाले अय्याशी महन्तों और साधुओं के लिये परीक्षा का समय आ गया। इस प्रकार कर्म के क्षेत्र में चारों वर्णों को स्वाधीनता मिली। परन्तु फिर भी शूद्रों को मंदिरों में जाने का अधिकार नहीं था। उन्हें अपने मंदिर पृथक बनवाने पड़े।

समाज की प्रगति फिर भी न रुक न सकी। धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता मिलने पर भी समाज का व्यापक क्षेत्र अधूरा सा रह गया जहां वर्णों को अभी तक इसी प्रकार गलत समझा जा रहा था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज द्वारा पुरातन आर्य प्रणाली के अनुसार फिर से हिन्दू जनता के सम्मुख वर्ण व्यवस्था के गूढ़ सिद्धांतों को रखा और देश भर में एक बड़ा भारी सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन खड़ा किया। शूद्रों को आर्यसमाज का मैम्बर बनाकर

ब्राह्मणों के साथ बिठलाया और महात्मा गाँधी ने उस रहे सहे कलंक को भारत के मस्तक से धोने का प्रयत्न किया परन्तु फिर भी उस प्राचीन वर्ण व्यवस्था का बिगड़ा हुआ रूप जो भारत की असंख्य जातियों में व्यापक हो चुका है वह आज भी ज्यों का त्यों वर्तमान है बड़े २ विद्वानों में आज जातीयता की संकुचित भावना मिलती है। गुप्ता-गुप्ता, शर्मा-शर्मा को सिक्ख-सिक्ख—इसी प्रकार जीवन में सब सम्प्रदाय अपने अपने लोगों को सहायता देकर योग्य व्यक्तियों के मार्ग में बाधक बनते हैं। जातीयता की भावना ने इस संकीर्ण मनोवृत्ति को जन्म दिया। और यह भारतीय समाज के उत्थान में रुकावट है। वर्णाश्रम धर्म आज भी सिद्धाँत रूप में बुरा नहीं व्यवहार रूप में भारत के लिये हानिकारक सिद्ध हुआ है और हो रहा है परन्तु आज के समाज में यह भावना अधिक दिन तक ठहर न सकेगी। मानववाद के अटल सिद्धाँत के सम्मुख इस संकुचित भावना को लोप हो जाना होगा और वर्णों का विभाजन होगा अवश्य, परन्तु यह प्राचीन आर्य काल की ही भाँति गुणों के ही आधार पर करना होगा।

वर्णाश्रम धर्म पर संक्षिप्त विचार—

१. हिन्दू वर्णाश्रम धर्म का मूलस्रोत।
२. भारतीय समाज को वर्णों में क्यों बाँटने की आवश्यकता हुई और उनका क्या फल हुआ?
३. मध्ययुग में वर्णाश्रम धर्म किस प्रकार जातियों में विभाजित होता चला गया।
४. भारत के भविष्य में इन जातियों की क्या परिस्थिति होने की सम्भावना है?
५. उपसंहार।

हिन्दू समाज और नारी

हिन्दू समाज प्राचीन आर्यों का ही वर्तमान रूप है। वैदिकाल के साहित्य पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो भारतीय नारी को वहाँ खड़ा हुआ पाते हैं जहां संसार के इतिहास में कहीं पर भी नारी को स्थान नहीं मिला। आर्य सभ्यता में नारी को पुरुष का 'अर्द्धाङ्गनी' माना है। पुरुष नारी के बिना उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार एक व्यक्ति अपना आधा अङ्ग नष्ट हो जाने पर होता है। आर्य सभ्यता में यज्ञ का विशेष महत्व है। यज्ञ में यदि पुरुषों के साथ स्त्री न बैठे तो यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकता। जब महाराज रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ किया तो उन्होंने सीता की स्वर्ण मूर्ति को अपने साथ स्थापित किया था।

मनु नारी के विषय में लिखते हैं, 'जिस घर में स्त्रियों का पूजन होता है उस घर में देवता निवास करते हैं जिस घर में स्त्रियों का अनादर होता है उस घर में होने वाली सब क्रियायें निष्फल हो जाती हैं।' "स्त्री अनेकों कल्याणों की भाजन है, वह पूजा के योग्य है। स्त्री घर की ज्योति है प्रजापति ने प्रजोत्पत्ति के लिए स्त्री को बनाया है। स्त्री गृह की साक्षात् लक्ष्मी है।" स्त्री को जाया, माता, धात्री, कहकर हिन्दू ग्रन्थों में सम्मानित किया है। संतति को जन्म देना, उसका पालन पोषण करना और प्रतिदिन की लोकयात्रा का का संचालन करना ही नारी का प्रधान कर्तव्य है। नारी को माता के रूप में सर्वमान्य माना गया है।

मानव जीवन के दो प्रधान कार्यक्षेत्र हैं और वह दोनों ही एक दूसरे से अधिक महत्व पूर्ण हैं। पहिला कार्यक्षेत्र घर जिसे अंग्रेज़ी में होम (Home) कहा गया है और अंग्रेज़ी कवियों ने होम को मीठा घर (Sweet home) कहकर पुकारा है। 'दूसरा कार्यक्षेत्र

घर से बाहर का है। जिसमें पुरुष घर को चलाने के साधन जुटाता है। इसे अधिक स्पष्ट शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि घर कल है जिसके संचालन के लिये पुरुष बाहर से विद्युत (धन इत्यादि) जुटाता है और स्त्री एक कुशल कल-संचालिका की भाँति विद्युत की शक्ति से उस गृह रूपी कल को संचालित करती है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष दोनों का ही महत्व गृह को चलाने में एक दूसरे से अधिक है। समाज के यह दोनों ही पुर्ज़े हैं। जिसमें से किसी को भी ठुकराने या सिर पर चढ़ाने से समाज का महान अहित हो सकता है।

हिन्दू धर्म ने दोनों को बराबर का स्थान देकर दोनों को सम्मानित किया है परन्तु अन्य धर्मों में ऐसा नहीं मिलता। जब तक आर्य जाति भारत में शासक बनकर रही नारी का समाज में यही आसन रहा और वह इसी प्रकार धर्म का और समाज के कार्यों में सम्मान प्राप्त करती रही। धीरे-धीरे आर्य जाति को अन्य जातियों के सम्पर्क में आना पड़ा। अनेकों जातियों ने भारत पर आक्रमण किया और उनमें से बहुत से भारत में ही बस कर यहीं की जातियों में विलीन हो गईं। अनेकों आईं और अनेकों गईं परन्तु वह आर्य जाति के ढांचे को हिलाने में समर्थ न हो सकीं। परन्तु अन्त में मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया और इस समय तक भारत में आर्यों की हर प्रकार की व्यवस्था का ह्रास हो चुका था। न कोई सामाजिक-व्यवस्था ही अवशेष थी और ना कोई धार्मिक ही। राजनैतिक व्यवस्था का तो सर्वनाश हो ही चुका था। ऐसी परिस्थितियों में वह भारत में आये और उनका साम्राज्य स्थापित होगया। जब शासक रूप में मुसलमान भारत में सुदृढ़ होगये तो उनकी सभ्यता का भारतीय सभ्यता पर प्रभाव पड़ा और स्त्री जाति में पर्दे की प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। पर्दे का आना था कि नारी जीवन की अनेकों स्वतंत्रताओं का एकदम ह्रास हो गया और धीरे-धीरे नारी घरों की चारदीवारी में बन्द करके रखने

वाली एक पुड़िया ही बन गई । यह वह काफूर की पुड़िया थी कि जिसे खोलने पर उड़ जाने का भय प्रतीत होने लगा और पुरुष नारी के प्रति सशंकित हो गया ।

इस काल से पूर्व ही नारी की स्वतंत्रता का भारत में लोप हो चुका था । ब्राह्मण धर्म में ही मठाधीशों के काल में नारी का पद पुरुष से नीचा गिना जाने लगा था । नारी जीवन की स्वतंत्राओं पर भी आक्षेप होने लगे पर और आचार्य तो नारियों से शास्त्रार्थ करने भी अपनी मान हानि समझते थे । बौद्धकाल में नारी स्वातंत्र्य का एक बार फिर से उदय हो गया था और भारत से पुरुषों के साथ नारी भिक्षुक भी विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये गये थे । इनका ब्राह्मणों ने उस काल में घोर खंडन किया । और जनता में उनके प्रति घोर निंदा का वातावरण उपस्थित करने का प्रयत्न किया परन्तु वह उस काल में अधिक सफल न हो सके । बौद्ध धर्म की लहर भी भारत में व्यापक न बन सकी और अन्त में निर्गुण और सगुण व्यक्ति के रूप में उसी ब्राह्मण धर्म का उदय हुआ । इस ब्राह्मण धर्म में नारी का स्थान सामान्य था ।

गोस्वामी तुलसीदास जी के विषय में यह कहा जाता है कि इन्होंने 'ढोल गंवार शूद्र और नारी, यह सब ताड़न के अधिकारी'' लिखकर नारी जाति का बहुत अपमान किया है । परन्तु यह इस प्रकार का विचार रखने वाले व्यक्तियों की विचार संकीर्णता मात्र ही है । गोस्वामी तुलसीदास ने ही तो सीता के महान चरित्र का चित्रण किया है । मानस में सीता का चित्रण करने वाला भक्त कवि नारी के प्रति अश्रद्धा रखे यह भला किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? भक्ति काल में हिन्दू समाज ने मीरा जैसी कवियों को जन्म दिया । यह काल मुसलमानों का शासनकाल था इसलिये मुसलमानी प्रभाव के अंतर्गत भारतीय नारी को जो यातनायें और असम्मान सहन करना पड़ा वह

अवश्यम्भावी था परन्तु फिर भी हिन्दू समाज के सुधारकों ने बराबर नारी के हित और उसके उत्थान पर ध्यान दिया है। राजनैतिक परिवर्तन और धार्मिक रूढ़िवाद के कारण जब-जब जो-जो दोष समाज के संगठन और नारी के प्रति भावना में उत्पन्न हुए तब-तब सुधारकों ने उन्हें संशोधित किया है। गौतम-बुद्ध, राजा राममोहन राय और स्वामी श्रद्धाँनंद के नाम इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं।

पश्चिमी देशों में स्त्री और पुरुष के अधिकारों को लेकर जो आंदोलन खड़े हुए। उनसे वहाँ के गृह-जीवन का मिठास जाता रहा। भारतीय गृह जीवन की यह विशेषता रही है कि अनेकों दोष और सामाजिक अवगुण समाज में आजाने पर भी पश्चिम की वह लहर अंगरेज़ी शासनकाल में भी भारतीय गृहस्थ-जीवन को प्रभावित नहीं कर सकी। पश्चिमी शिक्षा के साथ-साथ नारी में तितली-जीवन का प्रादुर्भाव अवश्य हुआ परन्तु यह भावना व्यापक न बन सकी। भारतीय नारी में धर्म की अस्था है और वह अस्था इतनी प्रबल है कि नारी स्वतंत्रता का जादू उस पर नहीं चल सका। इस प्रकार भारतीय नारी के जीवन में जो भावनात्मक रस है वह तर्कवाद के चक्कर में पड़कर सूख नहीं गया और भारतीय गृह आज भी स्वीट बना हुआ है। अङ्गरेज़ी कवि की कल्पना भारतीय हिन्दू धर्म के गृह में अक्षराक्षर सत्य है। भारतीय नारी का गौरव अपने में मातृत्व की वह मान भावना सुरक्षित रहता है विलायती स्वतंत्रता, सौंदर्य, शृंगार, विज्ञान, तर्क और लचक सब समस्त हो जाती हैं। हिन्दू संस्कृति में नारी भोग का साधन न होकर मानव-निर्माण का कठोर सत्य है और नारी में से मातृत्व का विनाश हो जाने पर नारी अपनी समस्त प्रतिष्ठा को खो देती है। मानव समाज में तो क्या नारी समाज में भी वह सम्मान को प्राप्त नहीं हो सकती - इस प्रकार भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान एकाकी है, उच्चतम है, स्नेह, ममता और प्रेम का प्रतीक है—वह मानव जीवन का रस है अमृत है और प्राण है।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. आर्य काल में हिन्दू धर्म के अंतर्गत नारी का स्थान।
२. मध्ययुग में नारी का स्थान।
३. कालांतर से नारी-जीवन में आने वाली अनेकों समस्यायें।
४. विजातियों का हिन्दू धर्म की नारी-भावना पर प्रभाव।
५. विदेशों में नारी-आँदोलनों का भारत में प्रभाव।
६. उपसंहार।

बहु विवाह बाल विवाह और विधवा विवाह

विवाह एक सामाजिक बंधन है जो मानव जीवन को व्यवस्थित और सुचारू रूप से चलाने के लिये समाज ने बनाया है। विवाह के साथ धार्मिक आस्था और राजनैतिक नियमों के मिल जाने से इसका ढाँचा कुछ ऐसा बन गया है जिसकी व्याख्या भी काफी विस्तृत है। विवाह द्वारा एक पुरुष और एक नारी का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होता है।

आर्य काल में एक पुरुष एक ही स्त्री के साथ विवाह करता था परन्तु धीरे धीरे बहु विवाह की प्रथा प्रचलित हो चली थी। आरम्भ में तो दूसरा विवाह किन्हीं ऐसे कारणों के वश होता था जिसमें परिवार के नष्ट होने का भय हो अर्थात् सन्तान उत्पत्ति के लिये और फिर बाद में यह प्रचलित प्रणाली के रूप में ही समाज ने अपना लिया। यशस्वी योद्धाओं और वैभवशाली व्यक्तियों ने अपने आनंद उपभोग के लिये भी एक से अधिक विवाह करने प्रारम्भ कर दिये जिन के परिणाम स्वरूप राम को बन जाना पड़ा, भीष्म को आजन्म ब्रह्मचारी रहना पड़ा और इसी प्रकार की अनेकों घटनायें भारतीय इतिहास और प्राचीन ग्रंथों में मिल सकती हैं।

दूसरा विवाह मानव की कमज़ोरियों का प्रतीक है। यह किन कारणोंवश होता है यह ऊपर दिया जा चुका। इन दो कारणों के

अतिरिक्त पहिली स्त्री के मर जाने पर भी दूसरा विवाह पुरुष करा लेते हैं। इस प्रकार का विवाह केवल पुरुषों के लिये ही वर्जित नहीं है नारी के लिये वर्जित है। नारी एक विवाह के पश्चात् दूसरे विवाह का स्वप्न भी नहीं देख सकती। हिन्दू शास्त्रों ने नारी को बहु विवाह की आज्ञा नहीं दी। नारी को सती बनाकर अग्नि कुंड में स्वाहा कर देना उन्हों ने पसंद किया परन्तु दूसरा विवाह करके अपने शेष जीवन को व्यतीत करना पसंद नहीं किया।

बहु विवाह से मानवता के सिद्धाँत को ठेस लगी और नारी जाति का अपमान हुआ। यह अपमान की भावना व्यापक रूप से हिन्दू समाज में फैलती चली गई और इसके कारण अनेकों कुप्रथाओं ने समाज में जन्म लिया। सब से प्रधान वस्तु जो सामने आई वह थी सौत की डाह-भावना। यह भावना हिन्दू समाज में विशेष रूप से पाई जाती है। यहाँ पर चाहे किसी की स्त्री जीवन पर्यन्त बीमार ही क्यों न बनी रहे परन्तु वह कभी भी यह पसंद नहीं करेगी कि उसका पति दूसरा विवाह कर ले, किसी अन्य स्त्री को प्रेम करने लगे अथवा अपने दैनिक जीवन में साथी बना सके। चीन के सामाजिक नियमों में स्त्री पुरुष के लिये अपनी विवशता में दूसरी स्त्री खोज कर ले आती है और इस प्रकार वह अपने पति के जीवन को शुष्क नहीं होने देती।

कुछ जातियों में बहु विवाह समाज के लिये लाभदायक भी सिद्ध होता है। भारत में कुछ जातियां ऐसी हैं जिनमें स्त्रियाँ पुरुषों के साथ खेतों में काम करती हैं और घर गृहस्थ के भी सब काम को संभालती हैं। ऐसी जाति के व्यक्ति दो तीन विवाह कर लेते हैं और फिर उनकी सहायता से अपने गृह-कार्य को सुचारु रूप से चला लेते हैं। अपना कार्य संचालन के लिये उसे ऐसे साझीदार मिल जाते हैं कि वह सुगमता से अपना कार्य भार सँभाल सकता है। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। इस प्रकार कार्य का संचालन भी कोई बिरला ही कर पाता

है अन्यथा जीवन में ऐसी फूट का गृह बन जाता है कि जीवन ही नर्क तुल्य हो जाता है। बहु विवाह के कारण महाराज दशरथ को अपने प्राण त्याग देने पड़े थे। बहु विवाह समाज की वह बड़ी कुरीति है है कि जिसका जन्म आवश्यकता के कारण होकर बाद में उसे भोग-विलास और ऐश्वर्य के लिये उपयोग किया गया।

समाज ने करवट नहीं बदली। कुरीतियां कम होने के स्थान पर बराबर बढ़ती ही चली गईं। बहु विवाह के पश्चात् बाल विवाह की समस्या इस क्षेत्र में आई। बाल विवाह की समस्या का मूल कारण मुसलमानी शासन व्यवस्था की उच्छृंखलता थी। जब हिन्दू लड़कियों पर दिन दहाड़े छापे मारे जाने लगे तो उनके माता पिताओं ने उनकी धर्म रक्षा के लिये बाल विवाह की प्रथा निकाली। इस प्रथा के अनुसार लड़के और लड़कियों के पैदा होने के साथ ही सम्बन्ध स्थापित कर दिये जाते थे और इस प्रकार उन्हें उस भय से मुक्त किया जाता था। यह प्रथा हिन्दू समाज के लिये और भी हानिकारक प्रसिद्ध हुई। जिस समस्या का हल समझ कर इस प्रथा का प्रचार किया गया वह समस्या तो सुलझ न सकी हां एक बाल विधवाओं की नई समस्या समाज के सम्मुख आकर खड़ी हो गई। बालक नन्हें कोमल पुष्पों के होते हैं। न जाने कितने खिले हैं और पूर्ण होने से पूर्व ही कुम्हला कर समाप्त हो जाते हैं। यह दशा इन बाल विवाहों की भी है।

हिन्दू समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी और बंगाल में सती के नाम पर नारी जाति के साथ घोर अत्याचार होने लगे। कुरीतियों की परिस्थिति यहां तक गम्भीर बनी कि पतियों के मृतक देहों के साथ उनकी स्त्रियों को बांध कर बल पूर्वक चिताओं पर जलाया जाने लगा। बंगाल की समाज सुधारक ब्रह्म समाज ने इसके विपरीत विद्रोह किया और अंग्रेजों ने नियम बनाकर इस प्रथा को रोका।

आर्य समाज ने विधवा-समस्या को सुलझाने में सहयोग दिया और भारत के कोने कोने में सुव्यवस्थित विधवा आश्रम खोल डाले। इन विधवा आश्रमों ने हिन्दू समाज का महान हित किया और अनेकों घरों से तंग आकर भगी हुई विधवाओं को अपनी अंक में आश्रय दिया। इसके फलस्वरूप अनेकों विधवाओं के जीवन नष्ट होने से बच गये और समाज द्वारा वह अपने दुबारा विवाह कराकर आजीवन सुख चैन की भागी बन गईं आर्य समाज का यह कार्य हिन्दू समाज के हित में विशेष उल्लेखनीय है परन्तु खेद है कि स्वार्थी व्यक्तियों ने इस क्षेत्र को भी नहीं छोड़ा और इन विधवा आश्रमों में यहाँ तक बुराइयाँ आईं कि वहाँ पर विधवायें बिकने लगीं। प्रारम्भ में तो उनसे विवाह करने वालों से उन पर आश्रम द्वारा किया गया व्यय ही माँगा गया परन्तु धीरे धीरे इसकी मात्रा बढ़ने लगी। फिर भी आर्य समाज ने इस सामाजिक समस्या को सुलझाने में क्रियात्मिक कार्य किया।

आज का समाज जागृति की ओर बढ़ रहा है। सरकारी नियमों द्वारा बहु विवाह पर प्रतिबन्ध लगता जा रहा है। बाल विवाह के विपरीत पहिले ही शारदा बिल पास हो चुका है परन्तु विधवा विवाह आज भी पहिले की भांति सामाजिक समस्या है। यह समस्या सर्वदा समाज को ही सुलझानी होगी क्योंकि सरकार नियम द्वारा विधवा को विवाह करने की आज्ञा मात्र ही दे सकती है, विवाह करने पर बाध्य नहीं कर सकती।

विषय पर संक्षिप्त विचार--

१. विवाह क्या है ?

२. बहु विवाह आर्य काल में थे अथवा नहीं। पौराणिक काल में किस प्रकार आये ?

३. बहु विवाह के गुण और अवगुण।

४. बाल विवाह कब और क्यों प्रारम्भ हुआ और किस प्रकार इन के

कारण विधवाओं की समस्या समाज के सम्मुख आई ?

५. उपसंहार ।

कुछ सामाजिक निबन्धों की रूप रेखा

समाज और नाटक

१. नाटक का समाज से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है । उपन्यास, कविता या कहानी पाठ्य काव्य हैं और नाटक रंग-मंच पर आने वाले काव्य हैं । इसलिये समाज का नाटक से और नाटक का समाज से सीधा सम्बन्ध है ।

२. नाटक के आरम्भ और विकास का साहित्य ही समाज के विकास का साहित्य है । सृष्टि के प्रारम्भ में समाज के अन्तर्गत धर्म की प्रधानता थी इसलिये प्रारम्भिक नाटक भी धार्मिक ही मिलते हैं । स्वाँग, रामलीला आदि उनके प्राचीनतम रूप हैं । उनका महत्व उनकी लोक-प्रियता से सिद्ध होता है ।

३. संस्कृत के प्रारम्भिक नाटकों का समाज पर बहुत व्यापक प्रभाव है परन्तु धीरे-धीरे नाटक केवल शास्त्रीय क्षेत्र में ही अवतीर्ण होने लगे । स्वाँग, रामलीला इत्यादि तो समाज को मिल गए और विशुद्ध नाटकों का साहित्य में वह स्थान हो गया। जिनका महत्व कुछ इने गिने पंडितों के अतिरिक्त जनता से किंचित-मात्र भी न रहा ।

४. नाटक मनोरंजन की वस्तु है । इसके द्वारा समाज का मनोरञ्जन होता है । दैनिक कार्य-व्यस्तता से ऊबकर समाज अपने थके हुए जीवन में नाटक द्वारा फिर से नई ताज़गी लाता है, प्रफुल्लता लाता है ।

५. नाटक प्रचार का सबसे बड़ा साधन है । नाटक द्वारा क्योंकि रङ्ग-मंच पर प्रत्यक्ष के समान वस्तु दिखलाई जाती है इस

लिए दर्शक समाज पर उसका प्रभाव अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक पड़ता है। वर्तमान काल में सिनेमा द्वारा सरकार का प्रचार होता है, अनेकों वस्तुओं का विज्ञापन होता है और इस प्रकार उन्हें समाज के पास तक पहुँचाया जाता है।

६. सुधारकार्य जितनी सुगमता से नाटक द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है उतनी सुगमता से अन्य किसी साधन द्वारा नहीं किया जा सकता। सुधार भी प्रचार का ही एक अंग है क्यों कि प्रचार के अन्तर्गत सुधारात्मक प्रचार और व्यवहारात्मक तथा व्यापारात्मक सभी आजाते हैं। प्रचार सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक तीनों प्रकार का होता है और वह तीनों प्रकार का प्रचार सिनेमा द्वारा या नाटक द्वारा सबसे अधिक प्रभावशाली किया जा सकता है।

७. उपसंहार—नाटक जीवन की अभिव्यक्ति का सबसे सुन्दर, सरस, मनोरंजक और प्रभावशाली माध्यम है। समाज के उत्थान और पतन में समाज का बहुत बड़ा हाथ है और हो सकता है। आज के समाज में नाटक अन्य साहित्यों की अपेक्षा सबसे अधिक प्रधानता पा चुका है। वर्तमान सिनेमा भी नाटक ही है, नाटक से कोई पृथक् वस्तु नहीं। इसलिए नाटक पर विचार करते समय सिनेमा को भुलाकर नहीं चला जा सकता। और वर्तमान सिनेमा का जो समाज पर प्रभाव है वह प्रत्यक्ष ही है। उसमें सुधार की आवश्यकता है। समाज और सरकार दोनों को उस ओर ध्यान देना चाहिये।

हिन्दु-समाज में विवाह-बंधन

१. यौन-व्यवहार पर प्रतिबन्ध का नाम विवाह है जिसके मूल में परिवार की भावना निहित है। मानव जाति के प्रारम्भिक-काल में जब विवाह की व्यवस्था नहीं थी तो सभी नर-नारी पार-

स्परिक यौन-व्यवहार के लिए स्वतन्त्र थे। आज संसार की किसी भी सभ्य अथवा असभ्य जातियों में यह नहीं है।

२. स्त्री पर सन्देह और अधिकार. वात्सल्य प्रेम, भ्रातृस्नेह, पारस्परिक सद्भाव और सहयोग इत्यादि मनोवृत्तियों ने विवाह की भावना को जन्म दिया। विवाह के मूल में यह मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

३. विवाह से परिवार बना। परिवार तीन प्रकार का हो सकता है। पुरुष और स्त्री का एक विवाह मूलक, पुरुष का एक से अधिक विवाह मूलक तथा स्त्री का एक से अधिक विवाह मूलक।

४. भारतीय संस्कृति में पहले प्रकार का परिवार सबसे अच्छा माना जाता है और फिर दूसरे प्रकार का परिवार आता है। तीसरे प्रकार का तो समाज और धर्म से गिरा हुआ माना जाता है। दूसरे प्रकार के विवाह पर भी कुछ प्रान्तीय सरकारों ने प्रतिबन्ध लगा दिया है।

५. परिवार के इस विधान ने सामाजिक और धार्मिक रूप ग्रहण करके अपनी महत्ता को बढ़ाया और धीरे धीरे समाज का यह सबसे आवश्यक और महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध बनकर मानव-जीवन का नियामक बन बैठा। आज विवाह जीवन की आवश्यकता है, मानव की आवश्यकता है, समाज की आवश्यकता है और धर्म तथा राजनीति की आवश्यकता है। बिना विवाह के मनुष्य का जीवन अधूरा है और वह जीवन के वास्तविक सुख-दुखों से वंचित है।

६. व्यवस्था पूर्ण मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए समाज ने विवाह की प्रथा को स्वीकार किया। आज समाज का आधार परिवार है आज विवाह और परिवार की व्यवस्था पर समाज के रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा इत्यादि का भार रहता है और समाज को

इन सब प्रारम्भिक आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं करनी होती। प्रत्येक परिवार अपने अपने बच्चों का पालन-पोषण, पढ़ाना-लिखाना और योग्य बनाने का कार्य स्वयं करता है और वात्सल्य प्रेम के कारण अपनी पूर्ण कर्त्तव्य परायणता से काम लेता है।

७. विवाह में मिलन है, व्यवस्था है, संगठन है, प्रगति है, उत्साह है और अबाध यौन संगम में उच्छृङ्खलता है, कलह है, अनुत्तरदायित्व है, कठोरता है और प्रकृति का अन्त है। समाज एक निश्चित भित्ति का आधार पाकर मानव को जीवन में उन्नति करने का अवकाश मिलता है। इसलिए सँसार की जितनी भी प्रगति है उसके मूल में विवाह और पारिवारिक निश्चिन्तता है।

८. आज के नवीन युग में नारी को मुक्त करने की भावना पर बल दिया जा रहा है। यह अवस्था परिवार की अवस्था से पूर्व अवश्य रही होगी परन्तु मानव उस समय पशुओं से किसी प्रकार कम नहीं था। आज यदि मानव को पारिवारिक बन्धन से मुक्त कर दिया जाये तो वह जड़ हो जायेगा और उसकी चेतना समाप्त हो जायेगी। न उसमें प्यार रहेगा न क्रोध, न उत्साह रहेगा और न महत्वाकाँक्षा। मानव मुक्त होकर भलाई बुराई का ज्ञान भी त्याग देगा और स्वार्थी बन जायेगा। मानव का विकास रुक जायेगा, समाज की प्रगति नष्ट हो जायेगी और राष्ट्र पतन को प्राप्त होने लगेगा।

९. स्त्री के प्रति प्रेम और सम्मान की भावना नष्ट होकर वासना का उदय होगा और वही भावना नारी शब्द का पर्यायवाची शब्द बनकर रह जायेगी कि दुःख दर्द में कोई पानी देने वाला और नाम लेने वाला उपलब्ध न होगा। जीवन नीरस होकर रह जायेगा। यही कारण है कि हिन्दु धर्म में विवाह को इतना

महत्वपूर्ण स्थान देकर धार्मिक प्रतिबन्धों में इस प्रकार जकड़ दिया है कि मानव बन्धन में मुक्ति का आनंदप्राप्त करसके। धर्म-विहीन विवाह में न तो मर्यादा ही है और न स्थायित्व ही। वह जिस प्रकार सुगमता से रजिस्ट्रार के सम्मुख जाकर स्थापित किया जा सकता है उसी प्रकार उसी के सम्मुख जाकर समाप्त भी किया जा सकता है।

१०. उपसंहार—स्त्री और पुरुष की प्रतिष्ठा विवाह में है या तलाक में' अन्तिम प्रश्न यही सोचने का रह जाता है। विवाह की स्वतन्त्रता समाज की कमजोरी हैं, उच्छृंखलता है, मानव का ह्रास है, पतन है। वहाँ उन्नति के लिए स्थान नहीं। विवाह की आस्था समाप्त होते ही वात्सल्य, भ्रातृत्व, पितृत्व, गृह इत्यादि की सब भावनायें समाप्त हो जायेंगी।

इतिहास सम्बन्धी निबंध

मुसलमान युग और भारत

मुसलमान युग पर विचार करने के लिये हम इस युग को दो भागों में विभाजित करते हैं। एक मुग़ल-काल और दूसरा इससे पूर्व का काल। मुग़ल साम्राज्य- काल से पूर्व-काल में हम अरब-आक्रमण-काल को न लेकर केवल दिल्ली के सुलतानों के समय पर ही विचार करेंगे। दिल्ली के पठान सुलतानों का प्रारम्भिक काल तो अपने को व्यवस्थित करने में ही व्यतीत हुआ परन्तु जब उनका शासन व्यवस्थित होगया तो उनका ध्यान राज्य-व्यवस्था की अन्य आवश्यकताओं की ओर गया।

इस काल का न्याय क़ाज़ियों द्वारा होता था और सुल्तान पूर्ण रूप से निरकुंश थे। हिन्दुओं की दशा अच्छा नहीं थी, उनके धर्म का स्थान स्थान पर अपमान होता था और उनका धन भी सुरक्षित नहीं था। हिन्दुओं को जज़िया इत्यादि कर देने होते थे जो आज की सभ्यता में मानवता से गिरे हुए कहे जायेंगे। परन्तु इस काल में बहुत से हिन्दू राजे भी थे और उनके छोटे छोटे राज्यों में हिन्दू सभ्यता और उसके पुजारी सुरक्षित और सुखी थे।

पठान-काल में वास्तु-कला की भारत में पर्याप्त उन्नति हुई। कुतुबमीनार, अल्तमश का मक़बरा और जौनपुर की मस्जिद, इत्यादि उस काल की प्रसिद्ध इमारतें हैं। यह सभी इस काल की वास्तुकला के प्रतीक हैं। इन इमारतों के निर्माण में भारतीय वास्तुकला और

पठान-वास्तु-कला का सम्मिश्रण मिलता है। इसका प्रधान कारण यही है कि भारत में इतने बड़े भवन निर्माण करने के लिये भारतीय वास्तु कला के विशेषज्ञों की सहायता लेना आवश्यक था और वह सहायता पठान सुलतानों ने पर्याप्त मात्रा में ली जिसके फल स्वरूप उनमें भारतीय कला की आत्मा मिलती है।

इस काल में अमीरखुसरु जैसे कवि ने जन्म लिया जिसका स्थान आज भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण है। उसमें उर्दू भाषा का उदय हुआ जो आज पनपते-पनपते एक महत्वपूर्ण भाषा बन कर पाकिस्तान की राष्ट्र भाषा बन गई है। स्वामी रामानुजाचार्य के शिष्य रामानंद जी का प्रादुर्भाव भी इसी काल में हुआ और इसी काल ने कबीर जैसे संत कवि और विचारक को जन्म दिया। धार्मिक क्षेत्र में गुरुनानक के प्रादुर्भाव का भी यही काल है और बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने भी इसी काल में जन्म लिया। इस प्रकार हमने देखा कि इस काल में उस भक्ति सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसने आगे चलकर भारत की जनता के डूबते हुए हृदयों को भक्ति का आश्रय देकर जीवन प्रदान किया, प्राण दान दिया।

इस काल के शासन का भारतीय समाज पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। समाज को मुसलमानी प्रभाव से बचाने के लिये समाज के नियामकों ने जातियों के बन्धनों को बहुत कड़ाई के साथ जकड़ दिया। इसके फलस्वरूप दिन प्रतिदिन जातियों की संख्या बढ़ने लगी और मानव जीवन की प्रगति रुक गई। स्त्रियों में पर्दे की प्रथा का उदय हुआ और उन्हें समाज में खुले रूप से आने के अधिकारों से वंचित कर दिया गया। भारत में मुसलमान धर्म का भी प्रभाव बढ़ा और बहुत से भारतीयों ने भी इस्लाम धर्म को अपनालिया। इस्लाम धर्म को सहर्ष किसी ने नहीं अपनाया बल्कि उसका प्रसार जहाँ तक भी हुआ तलवार की धार पर ही हुआ है।

पठान-काल के पश्चात् भारत में मुग़ल-शासन काल आता है। यह शासन-काल अनेकों दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण है। मुग़ल शासकों में धार्मिक सहनशीलता, मानवता, कला-प्रियता इत्यादि की कमी न थी। यह लोग पठान शासकों की अपेक्षा अधिक शिक्षित और सभ्य थे। मुग़ल शासकों में अकबर जैसे शासक भी हुए जिन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को मिलाकर 'दीन इलाही' जैसे नवीन धर्म चलाने का भी प्रयत्न किया। जहांगीर जैसे शासक भी हुए जिन्होंने वीर हकीकत राय के माता पिता से उनकी दुःख भरी कहानी सुनकर क़ाज़ी को उसके परिवार सहित सरिता में डुबवा दिया। परन्तु साथ ही औरंगजेब जैसे शासक भी हुए जिन्होंने मन्दिर तुड़वाकर उनके स्थान पर मस्जिदें बनवाईं और ब्राह्मणों के यज्ञोपवीतों से हमाम गर्म करवा कर स्नान किया। इस प्रकार यह काल दोनों प्रकार की भावनाओं से पूर्ण रहा है परन्तु जहाँ अकबर की धार्मिक सहिष्णुता ने मुसलमानी शासन की नीव को पुष्ट किया वहाँ औरंजेब की कट्टर मुसलमानी नीति ने उसे खोखला कर डाला। अकबर ने ज़ज़िया जैसे करों से हिंदुओं को मुक्त करके उनके हृदयों पर विजय प्राप्त की और औरंगजेब ने मंदिरों को गिरा कर शिवाजी जैसे को अपना शत्रु बना लिया।

मुग़ल शासन काल में भारत की राज्यव्यवस्था बहुत सुदृढ़ थी और अकबर का साम्राज्य चारों ओर फैला हुआ था। प्रजा भी काफी सुखी थी और देश ने कला-कौशल में पर्याप्त उन्नति की। वास्तु-कला के विचार से यह काल भारतीय मुसलमान का स्वर्ण काल है। ताजमहल संसार का प्रसिद्ध भवन भी इसी काल में निर्मित हुआ है। इसके अतिरिक्त देहली और आगरे के किले, दिल्ली की जामामस्जिद और फ़तहपुर सीकरी के विशाल भवन, लाहौर में जहांगीर का मकबरा इत्यादि इस काल की प्रसिद्ध इमारतें हैं। इन इमारतों पर भारत की

गर्व है और वास्तव में इनकी बहुत सी विशेषतायें आज के वैज्ञानिक युग में भी जादू सी प्रतीत होती हैं।

तानसेन जैसे गायक, भक्त तुलसीदास और सूर जैसे भक्त कवि, अब्दुल फ़ज़ल और फैज़ी जैसे इतिहासज्ञ, राजा टोडरमल जैसे अर्थ-शास्त्र के पंडित, राजा मानसिंह जैसे योद्धा, राजा बीरबल जैसे चतुर मतदाता इसी काल की देन हैं। भारत के राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक इतिहासों में इन व्यक्तियों ने अपना अपना सुदृढ़ स्थान स्थापित किया हुआ है इस काल में ऊंची से ऊंची कोटि के विद्वानों ने जन्म लिया है और ऊंचे से ऊंचे सुधारकों ने। विधर्मी व्यवस्था होने पर भी धर्म सुधारकों के मार्ग में अधिक रुकावटें नहीं आईं। शासक पहले की भाँति निरंकुश थे इसलिये कभी कभी जब वह अपनी सीमा का उलंघन कर जाते थे तो समाज का अहित भी होने लगता था परन्तु उस काल में यह निरंकुशता संसार भर में व्यापक थी, केवल भारत में ही नहीं और धर्म के नाम पर योरोप में भी निरंकुश शासकों द्वारा रक्तपात करने में कमी नहीं छोड़ी जाती थी। विधर्मियों के झुंड के झुंड अग्निकुंडों में स्वाहा कर दिये जाते थे। भारत में औरंगजेब के समय में कुछ कुछ इस प्रकार की व्यवस्था मिलती है परन्तु समस्त मुसलमान शासन काल में नहीं।

मुसलमान शासक भारत में आये और भारत के होगये। जब हम मुसलमान शासकों पर दृष्टि डालकर अंगरेज़ शासकों पर दृष्टि डालते हैं तो हमें केवल यही अन्तर मिलता है। मुसलमानों से पूर्व जो जो भी जातियाँ भारत में आईं वह यहाँ की सभ्यता में घुलमिल कर अपना सभी कुछ खो बैठीं परन्तु मुसलमानों ने ऐसा नहीं किया। इन्होंने भारत की सभ्यता को तलवार की धार पर रख कर काटना चाहा परन्तु कटना इन्हें स्वयं ही पड़ा। जो मुसलमान धर्मावलम्बी बन भी गये उनमें भी जाट मुसलमान, राजपूत मुसलमान, जुलाहे

मुसलमान इत्यादि वर्ग बन गये और मुसलमानी सिद्धांत जड़मूल से ही नष्ट होकर भारतीय वर्गवाद के पीछे चल पड़ा। मुसलमानी रीति रिवाजों पर प्रभाव अवश्य पड़ा परन्तु उनकी बाहिरी रूपरेखा पर, अंतरात्मा पर नहीं। उनकी अंतरात्मा ज्यों की त्यों बनी रही। मुसलमानी शासक चाहे अपने को हिन्दुओं से कुछ ऊंचा समझते थे परन्तु फिर भी वह अपने को भारत का शासक समझते हुए जो कुछ वे करते थे वह भारत के ही लिये करते थे। भारत की, धन सम्पत्ति इससे बाहर नहीं जाने पाती थी और भारत निर्धन होने से बचा रहा। परन्तु अंगरेज़ी शासनकाल में भारत की सम्पत्ति भारत से बाहर जाने लगी जिसका प्रभाव भारत की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा पड़ा।

इस प्रकार हमने तुलनात्मक रूप से देखा कि आर्थिक विचार से से मुसलमानी शासनकाल अंगरेज़ी शासनकाल से कहीं अच्छा था क्योंकि उस काल में भारत की धन सम्पत्ति सुरक्षित थी और इस काल में भारत ने जो कुछ भी उन्नति की और जो कुछ भी उपार्जन किया वह भारत ही में रहा। मुसलमानों ने भारत में जो कुछ भी किया अपना समझ कर ही किया।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. मुसलमान-काल के दो प्रमुख भाग विभाजन।
२. दोनों कालों में, विद्या, कला, सभ्यता और समाज की उन्नति।
३. आर्थिक दृष्टि से भारत के लिये मुसलमानी-शासन काल कैसा था?
४. उपसंहार।

अंगरेज़ी शासन-काल की भारत को देन

अंगरेज भारत में व्यापारी बनकर आये, ईस्टइंडिया कम्पनी की स्थापना की, धीरे २ अपना आधिपत्य बढ़ाया और सन् १८२७ के पश्चात्

समस्त भारत के शासक बन बैठे । अंगरेज़ी शासन-काल में भारत की आर्थिक दशा बिगड़ी, यहाँ की सम्पत्ति अनेकों रास्तों से देश से बाहर ले जाई गई परन्तु यह लेजाने की व्यवस्था महमूद गज़नवी जैसी नहीं थी । भारत की जनता पर अंगरेज़ ने जादू कर दिया, भारत का जूता और भारत का सिर कर दिया और जितने दिन भी भारत में रहे बहुत ठाठ के साथ शासन किया । इस शासन काल में अनेकों बुराइयां होते हुये भी इस शासन ने भारत को बहुत कुछ दिया है । भारत को अंग्रेजी शासन काल ने क्या क्या दिया है इसकी व्यापक व्याख्या न करके यहां संक्षिप्त रूप मे विचार करेंगे ।

सामाजिक सुधार—भारत समाज में सती प्रथा प्रचलित थी । अँगरेज़ी शासन-काल में सरकारी नियम द्वारा इस कुरीति को सफलता पूर्वक रोककर मानव-जाति के मस्तक से इस कलंक को दूर किया गया इसी काल में शादी बिल पास करके समाज को बाल विवाह की कुरीति से मुक्त किया । इन दो बातों के अतिरिक्त इस काल में वैज्ञानिक प्रगति के कारण मानव जीवन प्रगतिशील बन गया और समाज के वह प्राचीन बन्धन जिनमें समाज शताब्दियों से जकड़ा पड़ा था आप से आप खुलते चले गए । समाज के सिर से छुआछूत का भूत उतरने लगा । उदाहरण स्वरूप रेलों में यात्रा करने वाले व्यक्ति मार्ग में मोल लेकर खाना खाने लगे, स्टेशनों के नलों का पानी पीने लगे और स्कूलों में पढने वाले विद्यार्थी जाति पाँति के भेद भावों से मुक्त होकर एक साथ भोजन करने लगे । होटलों का प्रचार बढ़ा और शाकाहारी तथा मांसाहारी भी एक ही रसोई का बना हुआ भोजन खाने लगे । इस प्रकार समाज अपने रूढ़िवाद को स्थिर न रख सका और प्रगति शील बनकर उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ । समाज ने अपने को धार्मिक प्रतिबन्धों से बहुत कुछ अँशों में मुक्त कर लिया और यहाँ तक कि विवाह सम्बन्ध भी अदालतों में होने प्रारम्भ हो गये परन्तु यह प्रथा अभी अधिक प्रचलित नहीं हो सकी । विजातीय विवाहों की.

और भी समाज ने पग बढ़ाया परन्तु इस क्षेत्र में भी अभी अधिक प्रगति नहीं मिलती। फिर भी प्रत्येक दिशा में प्राचीन श्रृङ्खलाएँ टूट रही हैं और नवीन प्रगतियों का उदय उसमें हो रहा है। इस काल में ब्रह्म समाज और आर्य समाज ने भी सामाजिक सुधार किये हैं और वह बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस काल में स्त्री शिक्षा का भी प्रसार हुआ और उन्हें समाज में भी स्वाधीनता प्राप्त हुई।

धर्म का स्थान—अंगरेजी शासन ने भारतीय धर्मों को राजनैतिक क्षेत्र में प्रयोग करके हिन्दू और मुसलमानों की शक्ति को नियंत्रित रखा। यों साधारणतया किसी विशेष धर्म के साथ किसी विशेष प्रकार का पक्षपात नहीं किया परन्तु जब जहाँ पर जिसकी प्रबलता देखी तब वहीं पर दूसरे पक्ष को बल देकर अपनी प्रधानता बनाये रखी। धर्म के नाम पर समभाव प्रदर्शित करते हुए भी धार्मिक कटुता को मिटाने का वास्तविक प्रयत्न कभी भी अंगरेजी शासन ने नहीं किया। परन्तु इसी काल में खिलाफ़त और कांग्रेस ने जन्म लिया। दो आँदोलनों ने भारत में बहुत प्रबल रूप धारण किया और धार्मिक कटुता को मिटाने का सफल प्रयत्न किया। अंगरेज़ी शासन काल में हिन्दू और मुसलमानों का आपसी वैमनस्य दूर नहीं हुआ। साथ ही भारत में ईसाई धर्म के प्रचार को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। ईसाई धर्म का प्रचार भी भारत में हुआ परन्तु भारत के धार्मिक रूढ़िवाद के सम्मुख वह प्रचार उच्चवर्गों में सफलता पूर्वक नहीं हो सका। अङ्गरेज़ी शासन काल की यह विशेषता है कि मुसलमान-शासन काल की भांति इस काल में शासक वर्ग ने धर्म प्रचार में तलवार का प्रयोग न करके प्रेम और सद्भावना का प्रयोग किया। ईसाई पादरियों ने बच्चों के लिए स्कूल खोले, औषधालय खोले, गिर्जे बनवाये, यह तीनों की सहायता और इसी प्रकार अनेकों प्रकार से भारतीय जनता के हृदयों में घर करने का प्रयत्न किया।

वैज्ञानिक विस्तार—संसार की वैज्ञानिक प्रगति से अंगरेज़ शासकों ने भारत पिछड़ा हुआ नहीं रहने दिया। जब योरोप में रेलों का आविष्कार हुआ तो भारत में भी रेलें चालू की गईं। यह सत्य है कि प्रारम्भ में यह रेलवे विभाग केवल सैनिक सुविधा के लिए चालू किया गया था परन्तु धीरे धीरे इसका प्रयोग जनता के लिये किया गया और इससे भारत के व्यापार ने समुचित उन्नति की। भारत में मोटरें आईं, हवाई जहाज़ आये, रेडियो आया, तार और बेतार के तार का प्रयोग हुआ। यह अंगरेज़ी शासन-काल की देन हैं जिन्होंने भारत में भी एक वैज्ञानिक प्रगति का संचार किया। प्राचीनता में नवीनता का प्रादुर्भाव हुआ और मानव जीवन में एक नवीन स्फूर्ति आई। इस वैज्ञानिक-विकास से मानव के ज्ञान का भी विकास हुआ और इन तीव्र गति से चलने वाले यन्त्रों की सहायता से संसार मानव के लिए गम्य हो गया। मानव-ज्ञान का विकास हुआ और भारत ने अनेकों दिशाओं में उन्नति और प्रगति की।

ललित-कला-विकास—अंगरेजी शासन-काल भारतीय ललित कला के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ भुवन-कला के क्षेत्र मे जो विकास मुग़ल-काल में दिखाई देता है वह अङ्गरेजी शासन काल में नहीं हुआ। मूर्ति-कला क्षेत्र में भी अधिक विकास नहीं दिखलाई देता। संगीत कला का विकास रेडियो के अविष्कार के कारण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। संगीत आज जीवन की आवश्यकता बन गया है और सभ्य समाज में तो इसका विशेष स्थान है। चित्र-कला का भी इस काल में बहुत विकास हुआ। सिनेमा के आविष्कार ने चित्र-कला को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। इस काल में भारत में बहुत से चित्रकारों ने जन्म लिया है और इस काल के राजे महाराजाओं ने उसे बहुत अपनाया। इस काल में जो सबसे अधिक उन्नति हुई वह काव्य-कला की है। काव्य-कला क्षेत्र में नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी,

इत्यादि सभी क्षेत्रों में उन्नति हुई है और एक से एक सुन्दर ग्रंथ लिखा गया है काव्य का क्षेत्र भी पहिले की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया है।

शिक्षा—अङ्गरेजी शासन-काल मे शिक्षा का प्रचार बढ़ा। जगह जगह विद्यालय खुले और उनमें अनेकों प्रकार की शिक्षा के केन्द्र खुले डाक्टरी, साइन्स, कॉमर्स, खेती बाड़ी, टैक्नीकल, कानून, गणित, अर्थ-शास्त्र, इतिहास, भूगोल इत्यादि अनेकों दिशाओं में शिक्षा देने के लिए विद्यालय खुले और सरकार ने उन्हें पूरी पूरी सहायता दी। सैनिक-स्कूल भी खोले गए और उनमें भी बहुत लाभदायक शिक्षा दी जाती थी। इंजीनियरिंग के स्कूलों में भुवन-निर्माण के भी केन्द्र स्थापित हुए जिनमें पढ़कर बहुत से विद्यार्थी निपुण बनकर भारत के लिए लाभदायक सिद्ध हुए। इस प्रकार शिक्षा के अनेकों क्षेत्रों में इस काल में उन्नति हुई परन्तु जिस दिशा में विशेष शिक्षा दी गई वह थी भारत के नवयुवकों को अङ्गरेजी क्लर्क बनाने की शिक्षा। यह थी भारत को एक प्रकार से दास बनाने की शिक्षा जिसके फल-स्वरूप भारत आज के युग तक दास बना रहा।

इसके अतिरिक्त अँगरेजी शासन-काल में भारत ने राजनैतिक रूप में भी प्रगति की कांग्रेस के नेतृत्व में भारत आगे बढ़ा और उसने स्वाधीनता को समझा। भारत के जो व्यक्ति विलायतों में गए और वहाँ जाकर उन्होंने भारत की पराधीनता का अनुभव किया उसके फलस्वरूप भारत में भी जागृति का संचार हुआ। भारत में प्रजा-तंत्र का आगामन अंग्रेजी शासन की ही देन है। अंग्रेजों ने जहाँ भारत से धन सम्पत्ति का हरण किया है वहाँ भारत को दिया भी बहुत कुछ है। भारत के वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विकास में बाधा न डालकर और उन्हें समुन्नत करने में सहयोग दिया है। अंगरेजी शासकों का दृष्टिकोण सर्वदा ही प्रगतिवादी और सुधारवादी रहा है। भारत में शासक बनकर भी उन्होंने कभी भारत

की धार्मिक भावनाओं को नहीं ठुकराया, कभी भारत की समाज का भारत में अनादर नहीं किया और भारत की उन्नति में यथायोग्य सहयोग ही दिया है। सहयोग की मात्रा इनमें मुसलमान शासकों की अपेक्षा अधिक रही। इस शासन का सबसे बड़ा अवगुण यही रहा है कि इसकी बागडोरों का संचालन इङ्गलैण्ड में बैठकर किया गया है। यदि इसकी बागडोर का भी संचालन भारत में ही बैठकर किया गया होता तो सम्भवतः भारत की स्वतंत्रता संग्राम अमरीका के स्वतंत्रता संग्राम से किसी भी प्रकार भिन्न न होता और सम्भवतः भारत की स्वतंत्रता उन परिस्थियों में आज के भारत में रहने वाले अंगरेजों के नागरिक अधिकार अधिक सुरक्षित और स्थाई होते। कुछ काल तक आपस में जो कटुता आई सम्भवतः वह भी न आती और जो इतने दिन तक हिन्दू मुसलमानों का आपसी द्वेष बना रहा वह भी न रहता। यह भी सम्भव था कि उन परिस्थितियों में भारत को विभाजित भी न होना पड़ता और इस प्रकार अँगरेजों को अपना बिस्तरा बोरिया लेकर जाने की भी आवश्यकता न होती।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. भूमिका।
२. सामाजिक और धार्मिक सुधार।
३. भारत का वैज्ञानिक विस्तार।
४. भारत की ललित-कलाओं का विकास।
५. भारतीय शिक्षा का विकास।
६. उपसंहार।

आज भारत राष्ट्र की आवश्यकता

शताब्दियों की पराधीनता के पश्चात् भारत राष्ट्र स्वाधीनता के विस्तृत क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है। आज भारत-राष्ट्र के सम्मुख अनेकों समस्यायें हैं और उन्हीं समस्याओं की पूर्ति भारत राष्ट्र की वर्तमान

आवश्यकतायें हैं। इसलिए भारत की वर्तमान आवश्यकताओं पर विचार करने से पूर्व एक दृष्टि इस पर डाल लेनी आवश्यक होगी कि भारत की वर्तमान क्या क्या समस्यायें हैं ?

गत महायुद्ध से पूर्व भारत पर अंग्रेजों का एक लम्बा चौड़ा ऋण था और वह-ऋण बहुत दिनों से चलता चला आ रहा था जो कि भारत को इसके वैज्ञानिक विकास के लिये व्यापार और सुरक्षा की उन्नति के लिए अङ्गरेजों ने दिया था। भारत की सुरक्षा से अधिक यह ऋण अंग्रेजों की अपनी सुरक्षा में व्यय हुआ था परन्तु इस विषय पर प्रश्न करने का किसी को अधिकार नहीं था। गत महायुद्ध में संसार की राजनीति ने पलटा खाया, संसार बदला और बदल गया उसका राजनैतिक दृष्टिकोण भी। साम्राज्यवाद और निरंकुश नरेशवाद का बोल धीमा पड़ने लगा और उनकी सत्ता का भी धीरे धीरे ह्रास हुआ। प्रजा की शक्ति ने ज़ोर पकड़ा और प्रजातंत्र का ज़ोर विश्व में बल पकड़ने लगा। प्रजातंत्र के साथ साथ साम्यवाद और कांम्यूनिज्म की भावनायें भी कुछ देशों में पनप रही थीं। इसलिये बड़े बड़े साम्राज्य बनाये रखना तो असंभव सा ही प्रतीत होने लगा।

अङ्गरेजों ने बहुत कुशलता पूर्वक इस काल में चतुर बुद्धि से काम लिया और उनकी जो कुछ भी पूँजी भारत में लगी हुई थी वह और साथ साथ कुछ और भी यहाँ से खींचकर अपने को भारत का ऋणी बना लिया। इसके फल स्वरूप स्वतंत्र होने पर भारत की दशा बहुत विचित्र थी कि जिसे अपने राज्य संचालन के लिये तथा अन्य प्रणालियों के लिये संसार के बैंक से धन ऋण स्वरूप लेने की आवश्यकता हुई। भारत-राष्ट्र आज हर प्रकार से शक्ति-शाली है, उसके पास सेना है और सङ्गठन है, देश भक्ति है और अन्य साधन हैं परंतु इनके साथ ही साथ कमियां बहुत अधिक हैं और उनके कारण बल की अपेक्षा निर्बलतायें अधिक प्रतीत होती हैं।

सर्वप्रथम भारत विभाजन के कारण पाकिस्तान से आने वाले भाइयों को बसाने का कार्य है जिसे हमारी सरकार अभी तक सफलता पूर्वक समाप्त नहीं कर पाई है। यह बड़े खेद का विषय है कि सरकार जनता के रुपये को-कमेटियां बनाकर व्यर्थ के लिये अपव्यय कर रही है और वास्तविक समस्याओं का कोई सुझाव उनके सम्मुख नहीं आ रहा। आज मकान बनाने के लिये भारत-सरकार विलायती कम्पनियों को ठेके दे रही है और भारत के ठेकेदारों को उन कामों से वंचित रखा जा रहा है। यह समस्या आज तक समाप्त हो जानी चाहिये थी, जिसका विलंब सरकार की असफलता का द्योतक है।

दूसरी प्रधान समस्या जो भारत-राष्ट्र के सम्मुख इस समय है वह मंहगाई और चोरबाज़ारी की है। कांग्रेसी सरकार धनपति पूंजीवादियों की सरकार है जिसका संचालन वही लोग करते हैं जो मंहगाई और चोरबाजारी को रोकना रोकना तो चिल्लाते हैं परन्तु वास्तव में रोकना नहीं चाहते। यदि सरकार हृदय से इन समस्याओं का हल सोचकर चलना चहाती तो यह इतनी कठिन समस्यायें नहीं थीं कि जिनका हल सरकार आज तक न निकाल पाती। मंहगाई दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है और उसके साथ ही साथ चोरबाजारी भी। कंट्रोल का अंकुश लगाकर चाहे जिस वस्तु को चाहे जब भी बाजार से लुप्त कर दिया जाता है और फिर पूँजीपति एक-एक के दस-दस एक क्षण में बना डालते हैं। सरकार को चाहिये कि वह भारत-राष्ट्र के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिये शीघ्रातिशीघ्र इन समस्याओं पर विचार करे और इनके उचित हल निकाले। इसके लिये सरकार को कड़े से कड़े दण्ड नियम तोड़ने वालों को देने चाहियें और उन दण्डों का भी जनता के सम्मुख प्रदर्शन करना चाहिये। उदाहरण स्वरूप यदि देहली के घण्टाघर पर सूली लगवा कर एक भी चोर बाजारी करने वाले व्यक्ति को लटकवा दिया जाये तो दूसरे ही दिन से चोर

बाजारी करने वालों के हृदय थर्राने लग और समाज तथा राष्ट्र एक कुरीति और कलंक से मुक्ति पा जाये परन्तु इसके विपरीत होता यह है कि चोरबाजारी से बचने के लिये और घूसें दी जाती हैं और एक बुराई से बचने के लिये राष्ट्र और बुराइयों में फंसता जाता है। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह शीघ्र इसका उपाय खोज कर निकाले।

तीसरी समस्या इस समय राष्ट्र के सम्मुख खाद्य-पदार्थों की है। भारत के खाद्य-पदार्थों की उपज अभी इतनी नहीं है कि भारत अपना काम अपनी उपज से चला सके। इसलिये भारत को अन्य देशों से खाद्य सामग्री लेनी होती है। यह भारत-राष्ट्र की एक बहुत बड़ी कमज़ोरी है और इस कमी का पूरा होना निकट भविष्य में नितांत आवश्यक है। आज संसार का वायुमंडल युद्ध के बादलों से घिरा हुआ है। भारत की विदेशी राजनीति किसी भी संसार की शक्ति से टक्कर लेने की नहीं है परन्तु अपनी रक्षा में कब और क्या करना आवश्यक समझा जाये इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए देश अपनी खाद्य-सामग्री के लिये अपने पर निर्भर रहे यही सर्वदा आवश्यक समझा जाता है। भारत-राष्ट्र को भी अपने पर निर्भर रहने वाला होजाना नितांत आवश्यक है। भारतीय सरकार इस दिशा में प्रयत्नशील है और आशा है कि निकट भविष्य में ही वह इस प्रयत्न में सफल हो जायेगी। सरकार अधिक से अधिक भूमि में कृषि करा रही है और नये से नये कृषि कराने के तरीकों और साधनों को प्रयोग में लाया जा रहा है।

चौथी समस्या भारत की उन मिलों की है कि जिनके लिये कच्चा माल पाकिस्तान से लेना होता है। यह कच्चा माल पटसन और कपास हैं। पटसन की खेती पर गत वर्ष से भारत सरकार ने बहुत जोर दिया है और बहुत कुछ वह इस दिशा में सफल भी हो गई है परंतु कपास की समस्या अभी उसके सामने है। सरकार को कपास की खेती

के लिये उद्योग करने की आवश्यकता है। भारत में पटसन और कपड़े की बहुत मिले हैं और भारत का कपड़ा तथा पटसन का सामान दूर दूर तक विलायतों को भेजा जाता है।

भारत का व्यापार उन्नति कर रहा है। व्यापार और उद्योगधन्धों को उन्नति देने के लिये भारत की सरकार नये बिजली बनाने के कारखाने बनाने में प्रयत्न शील है और यह कार्य बहुत बड़े पैमाने पर चल रहा है जिसके लिये संसार-बैंक से भी पर्याप्त ऋण भारत सरकार ले चुकी है। अमरीका ने इस दिशा में भारत के लिये सहयोग का हाथ बढ़ाया है। आज भारत-राष्ट्र की सबसे बड़ी आवश्यकता का हल कहीं बाहर से नहीं आना है वरन् वह भारत-राष्ट्र के ही अन्दर व्यापक है, निहित है। राष्ट्र को आज यहीं पर नहीं पड़े रहना है, उसे अपने को उठाकर समुन्नत राष्ट्रों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलना है सरकार की कमियों और गलतियों को ही चीन्हने से आज राष्ट्र का भला नहीं हो सकता। राष्ट्र को बलवान बनाना है, शिक्षित बनाना है, धनवान बनाना है, प्रगतिशील बनाना है और अंत में गौरवशील बनाना है। इसके लिये राष्ट्र के हर व्यक्ति को त्याग करना होगा, स्वार्थ से किनारा करना होगा। और राष्ट्र तथा राष्ट्र की आवश्यकताओं को समझना होगा। भारत का राष्ट्र आज कोई साधारण राष्ट्र नहीं रह गया है। विश्व की आँखें भारत की ओर लगी हैं और यदि आज नया विश्व-युद्ध सामने आया तो भारत-राष्ट्र ही उस युद्ध में रेडक्रॉस बनकर संसार के घावों पर मरहम पट्टी करेगा और संसार के सम्मुख महात्मा गाँधी के शाँति संदेश का अमर सिद्धांत रखेगा।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. भूमिका।

२. भारत राष्ट्र की समस्यायें, कठिनाइयाँ, और आवश्यकतायें।

३. भारत राष्ट्र का भविष्य और संसार की वर्तमान परिस्थितियों में उसका स्थान।

४. उपसंहार।

हिन्दू मुस्लिम एकता की आवश्यकता

हिन्दू मुस्लिम एकता की समस्या भारत में आज की नहीं है, बहुत प्राचीन है। जिस समय में मुसलमान शासक थे और हिंदू शासित उस समय इसकी आवश्यकता का अनुभव कबीर जैसे तत्वज्ञानी विचारकों ने किया था और साथ ही साथ इसका प्रचार भी किया था। कबीर ने अपना कबीर पंथ चलाया और उसके अंतर्गत हिन्दू और मुसलमानों का आपसी भेद-भाव मिटाने का प्रयत्न किया परंतु वह अपने उद्देश्य में अधिक सफल न हो सके। इसी भावना का आभास जायसी इत्यादि कवियों की वाणी में भी मिलता है। मुग़ल सम्राट अकबर ने भी अपना दीनइलाही मत चलाकर इस भेद का अंत कर देना चाहा परन्तु वह भी सफल न हो सके और मुल्ला तथा पंडितों के सामने उनकी शक्ति सीमित ही रह गई।

अंगरेज़ी शासन काल में आकर हिंदू और मुसलमानों की एकता स्थापित करने की भावना का एक प्रकार से राजशक्ति की ओर से लोप ही नहीं हो गया बल्कि आपसी विद्वेष को और प्रोत्साहन भी दिया गया; जिसके फलस्वरूप समय समय पर आपसी झगड़े और मार-काट भी होती रही। इस काल में इस भावना को जन्म देने का श्रेय ख़िलाफ़त आंदोलन और काँग्रेस को मिलता है। काँग्रेस ने इन दोनों जातियों में मेल कराने का भरसक प्रयत्न किया परंतु अङ्गरेज़ी सरकार इस शक्ति को संगठित होने से रोकने के लिये बराबर मि० जिन्ना जैसे मोहरों का प्रयोग करती रही और पूर्णरूप से कभी भी उसने काँग्रेस को उसके लक्ष्य में सफल नहीं होने दिया।

मुसलमान शासनकाल में धार्मिक और मानवीय दृष्टीकोण से इन दोनों में मेल कराने का प्रयत्न किया जा रहा था परंतु कॉंग्रेस ने इन दोनों जातियों के धर्म-कर्म सम्बंधी कार्यक्रम से अपना कोइ संबंध नहीं रखा। कॉंग्रेस तो राजनीति के क्षेत्र में दोनों का संगठित करके अङ्गरेज़ी सत्ता के विपरीत शक्ति संचालित करना चाहती थी। भारत को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त कराने के लिए कॉंग्रेस ने इस संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया था। कॉंग्रेस अपने इस लक्ष्य में बहुत दूर तक सफल हुई अवश्य परन्तु पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकी। यही कारण था कि अङ्गरेज़ जाते जाते भी भारत को विभाजित कर गये और पाकिस्तान के एक नये राज्य ने जन्म ले लिया।

एक समय था जब राजनीति धर्म के संकेतों पर नाचती थी और राजनीतिज्ञ धार्मिक गुरुओं की पूजा करते थे परन्तु आज का युग ठीक इसके विपरीत चल रहा है। राजनीति के क्षेत्र में धर्म का कोई स्थान नहीं और उसका राजनीति पर कोई प्रभाव पड़ सके यह तो नितांत असंभव ही है। पाकिस्तान का जन्म उसी प्राचीन रुढिवादी धार्मिक विचारधारा के आधीन हुआ है इसलिये उसका मुसलमानी साम्राज्य स्थापित कराने का स्वप्न तो कभी सत्य हो ही नहीं सकता हाँ इतना अवश्य है कि इससे कुछ समय के लिये भारत के वातावरण हिन्दू और मुसलमानों में आपसी द्वेष की भावना को जन्म दे दिया है। पाकिस्तान ने अपने प्रदेश से हिंदुओं को निकाल कर भारत का नहीं अपना अहित किया है। अपनी इस भूल को कुछ दिन बाद पाकिस्तान अनुभव करेगा।

भारत में आज भी मुसलमानों की संख्या कम नहीं है और न ही भारत की राजनीति संकीर्ण धार्मिक नीति का आधार लेकर चल रही है। भारत का शासन कांग्रेस की उसी प्राचीन नीति पर आधारित है जिस पर उसे महात्मा गांधी छोड़कर अपना बलिदान दे गये हैं, आज

संसार धर्म के पीछे पागल बनकर अपना हित नहीं कर सकता। धर्म का यदि वास्तव में देखा जाय तो समाज से कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म का सम्बंध आत्मा की शुद्धि से है और आत्मा का सम्बंध व्यक्ति से है। धर्म का सम्बंध इस प्रकार समाज के क्षेत्र में आ भी सकता है परंतु राजनीति से उसका कोई सम्बंध नहीं। भारत में आज हिंदू और मुसलमान दोनों ही रहते हैं। एक स्थान पर रहने वाले दोनों समुदाय यदि आपस में वैमनस्य धारण करके रहेंगे तो भला उनका निर्वाह किस प्रकार होगा? इसलिये दोनों में प्रेम-भावना का होना नितांत आवश्यक है।

जब से भारत स्वतंत्र हुआ है प्रति वर्ष बकराईद, ताज़िये और ईद आती हैं परन्तु साम्प्रदायिक दंगे नहीं होते। इसका क्या कारण है? कारण स्पष्ट है कि सरकार आपसी सद्भावना बढ़ाने में सहयोग देती है और जनता दिन प्रतिदिन इस सत्य को समझती जा रही है कि आपस में प्रेम-भावना को बढ़ाने में ही दोनों का हित है। हिंदू और मुसलमान दोनों ही मानव हैं फिर भला क्यों मानव-मानव के रक्त का प्यासा बना रहे? क्यों न मानव मानव से प्रेम करे और संसार के सम्मुख यह स्पष्ट कर दे कि मानव दानव कभी भी नहीं था वह केवल राजनीति का चक्र था जिसके जाल में फँसकर वह चंद दिन के लिये पागल हो गया था। उसका मस्तिष्क उससे छीन लिया गया था और उसके हाथों में दे दी गई थी वह निरंकुश शक्ति जिसके प्रयोग में उसे उसके निर्माण का संदेश दिया गया था। वह निर्माण का संदेश झूठा साबित हो चुका और उसका फल मानव स्वयं अपने नेत्रों से देख चुका। आज का भारतीय उस भूल को दुहराने के लिये उद्यत नहीं और वह हिंदू और मुस्लिम एकता के अमूल्य रहस्य को समझ चुका है।

विषय पर सँक्षिप्त विचार—

१. मुसलमान-युग में एकता की भावना।

२. अंगरेज़ी शासन-काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना।
३. संसार की धार्मिक प्रगति और राजनीति में धर्म का स्थान।
४. उपसंहार।

एकतंत्र और प्रजातंत्र शासन

सम्भवतः शासन व्यवस्था का सबसे प्राचीनतम रूप एकतंत्र शासन ही है। पहिले पहल राज्य संचालन का यह ढंग राजा में दैवी शक्तियों का आरोप करके किया गया था। संस्कृत शास्त्रों में राजा को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना है। प्रारम्भ में अराजकता को रोकने के लिये 'राजा' में जितनी भी शक्तियाँ होती हैं उन सभी को एकत्रित किया गया और इस प्रकार राष्ट्र को बलवान बनाकर मानव के हित की भावना को जन्म मिला। भारत के एकतंत्र शासन का क्या प्राचीनतम रूप है उसकी कल्पना हम 'राम राज्य' में कर सकते हैं परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारत में प्रजातंत्र शासन की व्यवस्था थी ही नहीं। सिकन्दर महान के आक्रमण-काल में वैशाली में प्रजा-तंत्र राज्य था जिसमें राजपुत्रों का निर्वाचन होता था। इसके अति-रिक्त हिन्दू शास्त्रों के विधानों के अनुसार प्राचीनतम राज्य व्यवस्था एकतंत्र रूप में अवश्य मिलती है परन्तु राजा स्वेच्छाचारी नहीं होते थे और यदि राजा स्वेच्छाचारी हो जाता था तो प्रजा को अधिकार होता था कि उसे उसके पद से च्युत कर सके।

वर्तमान युग में एकतंत्र का अर्थ समझा जाता है स्वेच्छाचारी एक-तंत्र सत्ता अर्थात् डिक्टेटरशिप और प्रजातंत्र का अर्थ है प्रजा के मत पर अवलम्बित राज्यसत्ता। यह दोनों ही विचारधारायें वर्तमान युग की हैं और इनका उदय भारत से न होकर योरुप से हुआ है। संसार के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि संसार में सर्वदा ही शक्ति के लिये संघर्ष बना रहा है। योरोप में एक काल तक धार्मिक

पादरियों और सामंतों के बीच संघर्ष चलता रहा। योरोप में धर्मशक्ति का धीरे धीरे ह्रास हुआ और अपने अपने देश अपने अपने राज शक्तिशाली बने। धर्म भावना के पश्चात् साम्राज्यवाद की भावना ने बल पकड़ा और बलशाली राजाओं ने अपने यश और गौरव के लिये अन्य देशों पर आक्रमण के लिये और अपनी निरंकुश शक्ति के बल से अन्य देशों की मानवता को पैरों तले रौंद डाला।

शक्ति और माया कभी स्थाई नहीं रह सकते। जिस प्रकार पोप के करों से यह शक्ति राजाओं पर आकर प्रजा के दलन का साधन बनी उसी प्रकार प्रजा में भी इस शक्ति के अपहरण की भावना उत्पन्न हुई। क्रॉमवेल जैसे नेताओं ने राजाओं के विरुद्ध विद्रोह के झंडे ऊंचे किये। रक्त की सरितायें प्रवाहित हो चलीं और जनता के नेताओं ने एक दिन वह आया कि इस शक्ति को राजाओं के हाथों से छीन लिया। इस काल में योरुप ही नहीं एशिया तक भी दो पक्षों में विभक्त होगये एक प्रजातंत्र वादी और दूसरा एकतंत्रवादी। प्रजतंत्र के नाम पर दो महायुद्ध हो चुके हैं। कैसर हो, हिटलर हो तोजो हो या मुसोलनी शक्ति अपहरण का ही प्रयत्न किया है। विजय आज तक प्रजातंत्र की ही होती आ रही है। जनता की स्वतंत्र प्रियता की प्रबल इच्छा को दबाना स्वेच्छाचारी एकतंत्र वादियों के लिये सम्भव नहीं हो सका है।

प्रजातंत्र में शासन-शक्ति का संचालन प्रजा के चुने हुये व्यक्तियों द्वारा होता है। इसका जन्म इङ्गलैण्ड से हुआ और धीरे धीरे संसार भर में फैलता गया। इब्राहीम लिंकन ने इस शासन व्यवस्था को "Govenment of the people, by the people and for the people कहा है अर्थात् जनता का शासन जनता द्वारा शासित और जनता के लिये शासित" । यह शासन नरेशों और तानाशाही के विपरीत विद्रोह था, क्रांति थी। भारत के आर्य-काल में, यूनान में एथेन्स

(Athens)का और स्पार्टा (Sparta)के प्राचीनतम राजतंत्रों में प्रजा तंत्र का प्रारम्भिक रूप मिलता है। इसका कुछ आभास हम ऊपर भी दे चुके हैं परन्तु उस काल में पारलियामैंट का तो नाम मात्र भी नहीं था। यह इङ्गलैण्ड की अपनी प्रणाली है जो वहाँ के इतिहास में किसी न किस रूप में राज्य शक्ति के ऊपर अंकुश के रूप में बनी हुई थी। स्टुआर्ट काल में Divine right of kingsship राजा के दैवी अधिकार के विरुद्ध क्राँमवैल का सफल विद्रोह हुआ।

क्राँमवैल के विद्रोह से राज्यसत्ता का तो ह्रास हुआ परन्तु क्राम-वैल "डिक्टेटर" का जन्म हो गया। इस प्रकार हमें क्राँमवैल को संसार के इतिहास में सर्व प्रथम डिक्टेटर मानते हैं। इसके पश्चात् जागृति (Ranaissance) का युग आया और जनता प्रगति की ओर बढ़ी। इङ्गलैन्ड की पार्लियामेन्ट में व्हिग, टोरी दो दल बने जिन्होंने प्रजा-तंत्र के विचार को और बल दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में पारलिया-मेंट में सुधारों की माँग की गई और जेबी हल्के (Pocket Borcu-ghs) शाही हल्के (king boroughs)तथा उजड़े हुये हल्के Rott en Boroughs) के विरुद्ध एक ज़ोरदार आवाज़ उठाई। सन् १८३२, १८६७, १८७२, १८८४, १९११ और १९१८ में अनेकों सुधार हुए जिनके फलस्वरूप स्त्रिओं को भी मत देने का अधिकार मिल गया। अन्त में पार्लियामेन्ट में लेबर और कंज़रवेटिव पार्टी का जन्म हुआ और प्रजातंत्र धीरे धीरे अपनी वर्तमान परिस्थिति तक पहुँच गया।

प्रजातंत्र का प्रसार धीरे धीरे विश्वभर में होना प्रारम्भ होगया। अमेरीका, फ्राँस, और आज भारत में भी प्रजातंत्र शासन है। चीन का प्रजातंत्र समाप्त हो चुका। प्रजातंत्र में लोकसभा की बहुमत पार्टी का नेता प्रधान मंत्री होता है और वही अपना मंत्रिमंडल बना-कर शासन व्यवस्था करता है। इङ्गलैण्ड में नरेश अभी तक वर्तमान

है परन्तु भारत और अमेरीका में नरेश नहीं है उनके स्थान पर प्रेजी-डेन्ट होता है। यदि किसी समय अल्पमत वाली पार्टी का नेता बहुमत में आ जाये तो बहुमत वाली सरकार के विरुद्ध अविश्वास(Vote of no confidence) का प्रस्ताव रख सकता है। अंगरेजी लोक सभा में छोटे पिट (The younger Pitt) के कहने पर नरेश को ऐसा करना पड़ा था। इस प्रकार के शासन में शक्ति सर्वदा जनता के हाथों में रहती है। वह जब चाहे तब किसी भी पार्टी को शासन सत्ता सौंप सकती है और जब चाहे उससे ले सकती है। जिस पार्टी का प्रोग्राम जनता पसन्द करती है उसी पार्टी को अपना मत देकर अधिक से अधिक संख्या में उसके सदस्य निर्वाचित करके लोकसभा में भेज देती है। इससे बहुमत वाली पार्टी को हर समय में जनता का ध्यान रखकर कार्य करना होता है। प्रजातंत्र शासन व्यवस्था में धनी और निर्धन, स्त्री और पुरुष हर वयस्क व्यक्ति को मताधिकार होता है। मानवता के अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। इस शासन व्यवस्था में अदालतों को स्वतंत्र रखा जाता है। उनको सरकारी प्रभाव से मुक्त रखने का प्रयत्न किया जाता है।

आज संसार में एकतंत्र शासन की प्रधानता नहीं है। गत महायुद्ध से पूर्व एकतंत्र और प्रजातंत्र शासन संसार में समान स्थान रखते थे जापान, इटली तथा जर्मनी में एकतंत्र सत्ता थी और इङ्गलैण्ड तथा अमेरीका इत्यादि में प्रजातंत्र सत्ता। गत महायुद्ध ने एकतंत्र वाद को बहुत कुछ अंशों में समाप्त सा ही कर दिया। आज के युग में प्रजातंत्र और कॉम्यूनिज्म का बोलबाला है। समस्त संसार दो दलों में विभ है। सार की प्रधान शक्तियों ने दो अॉकड़े लगाये हुए हैं। आपस में खुलकर मुठभेड़ करने का अवसर अभी तक नहीं आया है परन्तु कोरिया का युद्ध क्षेत्र इन्हीं दो शक्तियों का पारस्परिक शक्ति तुलन है। समस्या वास्तव में कोरिया की नहीं है समस्या है

अमेरिका और रूस की। प्रजातंत्रवाद में आज दो पृथक पृथक वर्ग हैं। पूंजीवादी वर्ग और दूसरा मध्यवर्ग। भारत को हम पूंजीवादी देशों में नहीं गिन सकते। भारत की दशा इस समय बहुत विचित्र है। कांग्रेस सरकार के आचरण पूंजी वादियों जैसे हैं परन्तु यह प्रदर्शित यह नहीं करना चाहती। भारत में काम्यूनिज़्म, साम्यवाद और हिन्दू मुसलमानियत की समस्यायें आज वर्तमान हैं। ऐसी परिस्थिति में भारत प्रजातंत्र शासन की व्यवस्था को चला रहा है। अब देखना यह है कि यदि इस युग में कोई दूसरा महायुद्ध हुआ तो उस में विजय किसकी होगी। महायुद्ध की सम्भावना कम नहीं है। संसार पर आज भी महायुद्ध के बादल चारों ओर से घिरे हुए हैं। प्रजातंत्र का भविष्य इस बार क्या होगा इसके विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु इसकी प्रगति में एक ऐसी व्यवस्था अवश्य है जिसका एक दम अन्त हो जाना सम्भव नहीं है।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. प्रस्तावना।
२. एकतंत्र और प्रजातंत्र का उदय, प्राचीन भारत, यूनान और स्पार्टा में प्रजातंत्र का प्राचीनतम रूप।
३. वर्तमान-प्रजातंत्र का इङ्गलैण्ड से प्रारम्भ और उसका विकास।
४. आज संसार में एकतंत्र और प्रजातंत्र का स्थान।
५. गत महायुद्ध के पश्चात् प्रजातंत्र के सम्मुख कम्यूनिज़्म की नई समस्या।
६. प्रजातंत्र का भविष्य।

गांधीवाद और साम्यवाद

आज का युग वादों का युग है जिसमें गाँधीवाद, प्रजातंत्रवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद, पूंजीवाद, कम्यूनिज़्मवाद, एकतंत्रवाद इत्यादि धाराओं में संसार की शासन व्यवस्थायें चल रही हैं। जिस प्रकार

संसार के प्राचीन इतिहास में धार्मिक संघर्षों के कारण मानव सुख चैन से नहीं सो सकता था और मध्ययुग में साम्राज्यवादियों की उथल-पुथल ने विश्वशांति को संकट में डाल दिया था, उसी प्रकार आज के युग में भी वादों का संघर्ष चल रहा है। धर्म की व्यवस्था संघर्ष के लिये न होकर शांति के लिये हुई थी परन्तु परिणाम स्वरूप कितना रक्तपात संसार में हुआ उन सब का उल्लेख करना यहाँ कठिन है। ठीक उसी प्रकार आज यह वाद भी अपने अपने मूल में मानव-जीवन की शाँति के ही उच्चतम उद्देश्य की पूर्ति का सिद्धाँत लेकर चलने का प्रदर्शन करते हैं परन्तु उसका फल पारस्परिक विषमता, द्वेश, कलह और संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ भी दिखलाई नहीं दे रहा।

इन वादों का जन्म कुछ देश और कालों की परिस्थितियों के फल-स्वरूप हुआ है। दो वाद ना तो एक देश में पनपे ही हैं और यदि दो वादों ने एक देश में जन्म भी लिया है तो काल और परिस्थितियों का परिवर्तन होना अनिवार्य है। जब जब इन वादों ने किसी देश में जन्म लिया है तो उस समय उनका जन्म किसी भी प्राचीन-व्यवस्था में सुधार के रूप में ही हुआ है। वह वाद सुधारात्मक होने से उस देश के नेताओं ने यह समझ लिया कि बस क्योंकि उस वाद ने उनके देश की समस्याओं का हल निकाल दिया इस लिये वही वाद समस्त संसार की समस्याओं का हल है, उसी मार्ग पर चलकर संसार को शाँति प्राप्त हो सकती है। बस यहीं से शाँति के स्थान पर संघर्ष की भावना का उदय होता है। आज संसार में जो कुछ भी संघर्षात्मक वातावरण मिल रहा है वह केवल इसी लिये कि दो वादों में पारस्परिक तनाव है और प्रत्येक वाद अपने को संसार भर के मानवों की समस्याओं का हल समझता है। रूस कॉम्यूनिज़्म को मानव समाज के लिये हितकर समझकर संसार भर में प्रचारित और प्रसारित करना चाहता है और

अंग्रेज तथा अमरीकन प्रजातंत्रवाद को मानव समाज की समस्याओं का हल समझते हैं।

भारत की परिस्थिति इन तीनों ही देशों से भिन्न रही है। अमरीका अंगरेज़ों के प्रभाव से मुक्त होकर प्रगति की ओर अग्रसर हुआ और रूस को अपने ही ज़ार से संघर्ष लेना पड़ा, परन्तु भारत को विदेशी शासन से संघर्ष लेना था और उस संघर्ष में उसने जिस नीति को अपनाया उसे आज के राजनीतिज्ञ गाँधीवाद के नाम से पुकारते हैं। गाँधी वाद में महात्मागाँधी के विचार और उनके सिद्धाँतों का दिग्दर्शन है। गाँधीवाद के मूल में अहिंसा की भावना मिलती है और इसी अहिंसा के आधार पर गाँधी जी ने अपने वाद का निर्माण किया है। अहिंसा की आत्मिक शक्ति द्वारा ही महात्मा गाँधी ने संसार की प्रबलतम शक्ति से टक्कर ली। वह राजनीति में मन, कर्म और वचन की अहिंसा का समावेश करना चाहते थे और यही उन्होंने जीवन भर किया। उनकी राजनीति में छल के लिये स्थान नहीं था, कूटनीति के लिये स्थान नहीं था। उनका मत था कि हिंसा मानव को कायरता की ओर ले जाती है और अहिंसा प्रबलता की ओर, आत्म शक्ति की ओर। उनका दृढ़ विश्वास था कि स्वराज्य केवल अहिंसा की आत्मिक शक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

गाँधीवाद का प्रधान गुण यह है कि वह बुराई करने वाले का शत्रु नहीं वह उस मूल बुराई का शत्रु है। पापी को पाप से मुक्त करके गाँधीवाद उसे सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है। अङ्गरेज़ों से संघर्ष लेते हुए भी अङ्गरेज़ जाति के प्रति महात्मा गाँधी के मन में कभी कटुता नहीं आई। गाँधीवाद में विश्व प्रेम की भावना निहित है। अहिंसा पूर्वक असहयोग करना ही गाँधीवाद का प्रधान अस्त्र है जिसके सम्मुख न तोप चल सकती है और न किसी प्रकार की शारीरिक और भौतिक शक्ति।

गाँधीवाद में राजनैतिक और आध्यात्मिक तत्वों का समन्वय मिलता है बस यही इस वाद की विशेषता है। आज संसार में जितने भी वाद प्रचलित हैं वह आध्यात्मिक तत्व से मुक्त होकर कोरे राजनीति के क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुके हैं। आत्मा से उनका सम्बन्ध विच्छेद होकर केवल बाह्य संसार तक ही सीमित हो गया है। भगवान से प्रेरित होकर आत्मा की शुद्धि करना गाँधीवादी के लिये नितांत आवश्यक है। गांधीवाद में साँप्रदायिकता के लिये कोई स्थान नहीं। इसी समस्या का हल करने में महात्मा गांधी ने अपने जीवन का बलिदान दे दिया।

गाँधीवाद में घरेलू धंधों का पक्षपात और बड़ी बड़ी कलों के प्रति उदासीनता मिलती है। गांधी जी का मत था कि मशीनें मानव-जीवन को बेकारी की ओर घसीटती हैं। गाँधी जी ने कहा भी है, "लाखों जीवित मशीनों को बेकार बनाकर निर्जीव मशीनों का प्रयोग करना मानव-जाति के प्रति अनर्थ करना है।" इसी लिये गाँधी जी ने चर्खा संघ की स्थापना करके खद्दर को प्रोत्साहन दिया। गाँधी जी हस्तकला और ग्रामोन्नति के पक्षपाती थे। वह भारत की आर्थिक उन्नति के मूल में ग्रामोद्योग को मानते थे।

गाँधीवाद में साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के विपरीत भावना प्रबल रूप से मिलती है। गाँधी जी पूंजीपतियों द्वारा भोग विलास और जनता के धन का अपव्यय करना सहन नहीं कर सकते थे। इस प्रकार के आचरणों को वह 'चोरी' कहते थे। गाँधीवाद पूंजीवाद को मिटाना नहीं चाहता था परन्तु उनको केवल कोषाध्यक्ष के रूप में देखना चाहता था।

शिक्षा के क्षेत्र में गाँधीवाद के अंतर्गत मौलिक शिक्षा (Basic Eductation) आती है। मौलिक शिक्षा द्वारा गाँधी जी भारत से अविद्या और दरिद्रता को भगाना चाहते थे। साथ ही गाँधीवाद में

छुआ-छूत और पारस्परिक घृणा के लिये कहीं पर भी स्थान नहीं है। गांधी जी ने हरिजन आन्दोलन किया और उसके द्वारा हिन्दू जाति को खंड खंड होने से बचाया। गांधीवाद ने पाश्चात्य सभ्यता का विरोध और भारतीय सभ्यता के मूल में भारत और भारतीय समाज की मुक्ति का समावेश किया है। गाँधीवाद में राजनीति, धर्म, समाज सभी कुछ आ जाते हैं। भारत के सभी क्षेत्रों पर गाँधीवाद का प्रभाव हुआ है।

साम्यवाद या मार्क्सवाद किसी न किसी रूप में आज संसार भर में फैला हुआ है। इटली जर्मनी और जापान में इसका घोर विरोध हुआ परन्तु इसकी प्रगति को वह न रोक सके। साम्यवाद समाजवाद की तीव्र प्रगति का दूसरा नाम है। भारत में भी आज इसका प्रभाव स्थान स्थान पर दिखाई देता है। समभावना गाँधीवाद में भी मिलती है परन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि गाँधीवाद का मूल स्रोत अहिंसा से जन्म लेकर चलता है और साम्यवाद में बोलशेविज़्म और हिंसा को भी अपनाया जासकता है। समाजवाद में शासक का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र की सम्पत्ति का सम विभाजन करे और राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ काम पर लगाये। साम्यवाद में व्यक्ति का राष्ट्र में एकीभाव होना आवश्यक है। साम्यवाद में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुकूल कार्य दिया जाता है। इस व्यवस्था में कोई निठल्ला नहीं बैठ सकता। राष्ट्र का कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र के किसी भी व्यक्ति को भूखा, नंगा या किसी अभाव को अनुभव करता हुआ न देखे। कार्लमार्क्स ने सर्वप्रथम पूंजीवाद के विरुद्ध इस वाद को जन्म दिया। मार्क्स ने संसार भर के श्रमजीवी समुदायों को संगठित करने का प्रयत्न किया। साम्यवाद पूंजीपतियों और निठल्लों का कट्टर शत्रु है और हड़ताल इसका प्रधान अस्त्र है। साम्यवाद के इस हड़ताल वाले प्रधान अस्त्र को कुछ अवसरों पर गाँधीवाद ने भी अपनाया है और उससे गाँधीवादी आन्दोलनों को बल भी मिलता है। भारत में

साम्यवादी नेताओं ने गान्धीवादी अस्त्रों को भी अपनाया है और उनके द्वारा अपने आन्दोलनों में बल प्राप्त किया है। इस वाद का प्रधान प्रचार संसार में लेनिन और ट्राटस्की द्वारा किया गया। पूंजीपति सत्ताओं ने इस शक्ति को रोकने का भरसक प्रयत्न किया है परन्तु वह इसे रोकने में बराबर असफल रही हैं और वही संघर्ष आज भी चल रहा है। साम्यवाद की समस्या मानव जीवन के मूल में निहित है इस लिये इसका हल इतनी सुगमता से नहीं हो सकता। योरोप में रूस के अतिरिक्त अन्य देशों में भी साम्यवाद का प्रचार हुआ। प्रारम्भ में इटली में मुसोलनी और चीन में च्यांगकाई शेक ने इसे कुचल दिया परन्तु आज चीन में साम्यवाद का आधिपत्य है। फ्रांस में १६३६ के महायुद्ध के पश्चात् साम्यवाद का लीडर मानशरब्लम एक बार वहाँ का शासक बन गया।

कुछ व्यक्ति साम्यवाद को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका मत है कि साम्यवाद के मूल में ईर्ष्या और द्वेश की भावना निहित है। प्रतिशोध लेने के लिये यह पागल मनो-वृत्ति से काम लेते हैं। इसमें संदेह नहीं कि साम्यवाद श्रेणी-युद्ध को जन्म देकर मानव को संघर्ष की ओर अग्रसर करता है। गांधीवाद संघर्ष से मानव को खींचकर शान्ति की ओर लेजाता है, तृप्ति की ओर ले जाता है और साम्यवाद मानव में आवश्यकताओं का उदय करके उसे संघर्ष मूलक बनाता है। साम्यवाद मानव की स्वतंत्र प्रवृत्तियों के मार्ग में बाधक है और इस प्रकार वह मानव की और अन्त में संसार की प्रगति में बाधक बन जाता है। मानव मानव न रहकर एक मशीन का पुर्जा बन जाता है और अपनी स्वतंत्र सत्ता का सर्वनाश करके रोटी और कपड़े के ही चक्कर में फँस जाता है। वहाँ आत्मा निष्ठुर हो जाती है, मस्तिष्क स्वार्थी हो जाता है और बल द्वारा अपहरण की भावना से प्रेरित होकर मानव युद्ध और संघर्ष की ओर अग्रसर हो जाता है। साम्यवाद

की भावना अपने पूर्ण विकास पर पहुँच कर एकतंत्रवाद का ही दूसरा रूप बन जाती है। इस प्रकार गाँधीवाद और साम्यवाद के मूल तत्वों में आकाश पाताल का अन्तर है। यहाँ दोनों के मूल तत्वों का स्पष्टीकरण हमने इस लिये किया है कि विद्यार्थी दोनों को न समझ कर एकता की भावना का कभी कभी समावेश दोनों में करने लगते हैं। गांधीवाद बुद्धि पक्ष के साथ हृदय पक्ष का सामंजस्य करके चलता है और साम्यवाद कोरा बुद्धि-पक्ष वादी है। गाँधीवाद में प्राचीन के प्रति सद्भावना, सहानुभूति और सम्मान है तथा साम्यवाद में प्राचीनता के प्रति घृणा, असम्मान और उपेक्षा है। साम्यवाद कलवादी है और गांधीवाद मानववादी बस यही दोनों का मूल अन्तर है। आने वाले भविष्य में जनता की रुचि साम्यवाद की ओर है इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु भारत की वर्तमान परिस्थितियों में साम्यवाद कहाँ तक उसकी समस्याओं का हल निकाल सकता है यह प्रश्न विचारणीय है। पराधीनता के गहन गर्त से भारत को उभार कर जो वाद वर्तमान परिस्थिति तक लाया है वही भारत की समस्याओं का सही हल खोज सकता है क्योंकि भारत राष्ट्र की गिरावटों के मूल तत्वों को उसी ने भली प्रकार अध्ययन किया और समझा है।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. प्रस्तावना—भारत में गांधीवाद और साम्यवाद।
२. गांधीवाद का धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्र में महत्व।
३. साम्यवाद का जन्म और प्रसार।
४. उपसंहार—गाँधीवाद और साम्यवाद का तुलनात्मक दृष्टिकोण।

भारत की वर्तमान शासन-व्यवस्था

भारत की वर्तमान शासन पद्धति का प्राचीनतम रूप हमें सन् १९१९ के शासन विधान से प्राप्त होता है। इस शासन विधान के

अनुसार भारत को प्रांतों में विभाजित करके प्रत्येक प्राँत का प्रधान अधिकारी लेफ्टिनेंट गवर्नर हुआ और गवर्नर जनरल को वायसराय की उपाधि मिली। इसी समय प्राँतों में कौंसिलों की स्थापना प्रजा के चुने हुए मैम्बरों द्वारा हुई जो केवल देश की अन्दरूनी समस्याओं पर प्रश्नोत्तर कर सकते थे। इस समय तक बर्मा भारत के अन्तर्गत था। सन् १९३९ के शासन विधान मे बर्मा भारत से पृथक् हो गया। भारत ११ गवरनरी प्राँत तथा ६ कमिश्नरी प्रांतों में विभक्त होगया। इनके अतिरिक्त देशी राज्यों में राजे अपना निरंकुश राज्य करते थे और उनपर विदेशी नीति के अतिरिक्त और कोई अंकुश नहीं था। १५ अगस्त १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ और सिन्ध, सीमाप्रांत और बिलोचिस्तान का कमिश्नरी प्राँत पाकिस्तान में चला गया।

केन्द्र—आज भारत का विधान तय्यार हो चुका है। जनता के चुने हुए मैंबरों द्वारा स्थापित विधान-सभा ने इस विधानको तैयार किया है। इसी विधान के अनुसार अब भारत को भविष्य में चलना है। भारत एक बहुत बड़ा देश है। योरोप के कई २ राष्ट्रों के बराबर इसका एक एक प्राँत है। केन्द्र से ही समस्त भारत की शासन व्यवस्था संभालना कठिन है। इस लिए प्राँतों का होना निताँत आवश्यक है। भारत स्वतन्त्र होने के पश्चात् रियासतों की समस्या का बहुत कुछ हल सरदार पटेल ने कर दिया है। आज भारत में निरंकुश शासन सत्ता का अन्त हो चुका है। आज भारत की शासन व्यवस्था के प्रधान के रूप में बाबू राजेन्द्र प्रसाद हैं। वह केन्द्र की सरकार के प्रधान हैं और केन्द्रीय सभा तथा मंत्री मण्डल की सहायता से भारत का शासन दृढ़ संभाल रहे हैं। प्राँत और रियासतें सभी उनके नियन्त्रणाधीन हैं। सेना कार्य का संचालन करने के लिए उनके पास कमाण्डरइन-चीफ श्री करियप्पा हैं। यह भारत की सेना के प्रधानाधिकारी हैं। केन्द्र का खर्चा चलाने के लिए उनके लिये, सेना का चलन करने और राष्ट्र

की सुरक्षा के लिए केन्द्र के पास इनकमटैक्स, नमक, मुद्रा, विदेश, व्यापार, आयात नियात, डाक, तार, टैलीफोन, बेतार का तार, रेडियो समुद्रतट इत्यादि हैं जिनकी आय से उसका कार्य संचालन होता है।

प्राँतीय शासन—प्राँतीय शासन में केन्द्र का प्रतिनिधि प्राँत का गवर्नर होता है जो प्राँत का कार्य संचालन प्राँतीय असेम्बली तथा उसकी बहुमत वाली पार्टी के चुने हुए मन्त्रिमण्डल की सहायता से करता है गवर्नर ६ मास तक आर्डिनेंस की सहायता से भी किसी कठिन परिस्थिति में शासन कर सकता है। प्रत्येक प्रांत कमिश्नरी में विभक्त हुआ है। इन कमिश्नरियों का अधिकारी कमिश्नर होता है। यह कमिश्नर प्रांतीय गवर्नर तथा कश्मिनर स्वयं ही होता है। ऐसे प्राँतों का कलक्टर डिप्टी कमिशनर कहलाता है। प्राँत की सुरक्षा अर्थात् पुलिस विभाग प्राँतीय सरकारों के आधीन रहता है। इसके संचालन के लिए भूमि कर इत्यादि भी प्राँतीय सरकारें ही लगाती हैं। आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय सरकार से भी इन्हें सहायता मिलती है। प्राँत को सम्पन्न बनाने का सब भार गवर्नर और वहाँ की लोक सभा पर रहता है और यह दोनों अपने यहाँ होने वाली त्रुटियों के केन्द्र के सम्मुख उत्तरदायी रहते हैं।

कमिश्नरी—कमिश्नरी का शासन कमिश्नर के अधीन रहता है और वह गवर्नर के आधीन रहकर अपनी कमिश्नरी की शासन व्यवस्था को संभालता है। कमिश्नर अपनी कमिश्नरी का प्रधान उत्तरदायी है और वहाँ की सब विशेष घटनाओं से उसे परिचित रहना पड़ता है। शाँति सुरक्षा संपन्नता इत्यादि सभी समस्याओं पर उसे ध्यान देना होता है। वह अपने सहकारियों की सहायता से राज्यकार्य का संचालन करता है। उसकी कमिश्नरी में रहने वाली जनता में कोई उपद्रव न हो, चोरी डकैती न हो, अकाल न पड़े, व्यापार उन्नति करे, कला की उन्नति हो, शिक्षा में वृद्धि हो, आयात निर्यात की कठिनाइयाँ

न आयें, केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध गलत अफवाहें न फैलें, मानव की स्वतन्त्रता समाज के विचार से पनपे ,इन समस्याओं पर कमिश्नर को ध्यान देना होता है। कमिश्नर का कार्य बहुत विस्तृत होता है। वह अपने कार्य का संचालन कलक्टरों की सहायता से संचालित करता है। एक दो प्रांत तीन चार कमिश्नरी वाले हैं और कुछ प्रांतों में छै कमिश्नरी भी हैं।

कलक्टर—कलक्टर अपने ज़िले का सबसे बड़ा अधिकारी होता है। एक गवर्नर का प्रांत में और एक कमिश्नर का कमिश्नरी में जो स्थान है बस वही स्थान एक कलक्टर का अपने जिले में, वह शासन व्यवस्था को अपने अधिकारियों द्वारा संभालता है। कलक्टर से नीचे पुलिस विभाग के अतिरिक्त डिप्टी कलेक्टर होते हैं जो एक एक तहसील के प्रधान अधिकारी होते हैं। यह डिप्टी कलेक्टर भी अपनी अपनी तहसील में वही स्थान रखते हैं जो कलक्टर का ज़िले में होता है। लगभग पाँच छै तहसीलों का जिला और सौ सौ गाँवों की एक तहसील होती है। ज़िलों का लगान एकत्रित करना और ज़िले के सरकारी कोष का निरीक्षण करना कलक्टर के ही आधीन है। कलक्टर प्रथम श्रेणी का मैजिस्ट्रेट होता है और फौजदारी के मुकदमे भी देखता है। दीवानी के मुकदमों की देख-रेख के लिये जज होते हैं जो किसी भी प्रकार कलक्टर के आधीन नहीं होते। उनका कार्यक्षेत्र न्याय है और प्रजातन्त्र शासन में उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। ज़िले की पुलिस कलक्टर के आधीन रहती है।

तहसील—तहसील जिले का एक भाग है जिसके अन्दर लगभग १०० गाँव रहते हैं। इसका प्रधान अधिकारी डिप्टी कलैक्टर होता है और माल के मामलात का प्रबन्ध करने के लिये तहसीलदार नियुक्त होते हैं। तहसीलदार अपनी तहसीलों का कार्य कानूनगो और पटवारियों की सहायता से सँभालते हैं। इस प्रकार माल से

सम्बन्ध रखने वाला भारत सरकार का छोटे से छोटा यन्त्र पटवारी है और इसी प्रकार प्रबन्ध से सम्बन्ध रखने वाला छोटे से छोटा यन्त्र चौकीदार है जिसका सम्बन्ध इलाके पुलिस स्टेशन से रहता है गाँव में रात को पहरा देना और यदि कोई उपद्रव हो जाए तो उसकी सूचना पुलिस के थाने तक पहुँचाना उसका काम है। वह गाँव में मरने और पैदा होने का भी ब्यौरा रखता है और यदि गाँव में कोई उपद्रव की सम्भावना होती है तो उसकी भी सूचना पुलिस थाने तक पहुँचाता है।

इस प्रकार हमने देखा कि भारत के शासन को चलाने के लिए सब से छोटे यूनिट चौकीदार और पटवारी रहते हैं जिनका सम्बन्ध सुरक्षा और माल से है। इन्हीं के आधार पर तहसील का कार्य संचालन होता है। तहसील परगनों में विभाजित रहती है और परगने गावों में। शहरों का शासन संभालने के लिए म्यूनिसिपल कमेटियाँ हैं जो प्रबन्ध को छोड़ कर अन्य सभी शहर की कार्य व्यवस्थाओं पर ध्यान रखती हैं। इस प्रकार राष्ट्र का शासन संचालित होता है।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. केन्द्र की शासन व्यवस्था और भारत का प्रान्तों में विभाजन।
२. प्रांतों की शासन व्यवस्था और प्रांत का कमिश्नरियों में विभाजन।
३. कमिश्नरियों की शासन व्यवस्था और उनका जिलों में विभाजन।
४. जिलों का तहसीलों, परगनों और गावों में विभाजन।
५. उपसंहार।

कांग्रेस का इतिहास और उसका भविष्य

काँग्रेस के जन्मदाता मि० ह्यूम साहब ने २८ दिसम्बर सन् १८८५ को बम्बई में काँग्रेस का प्रथम अधिवेशन किया। श्री उमेशचन्द्र बैनर्जी अधिवेशन के प्रधान थे। अधिवेशन में पास हुआ कि कि काँग्रेस को (१) देश-हितैषी नेताओं में प्रेम-भाव बढ़ाना (२) देश को

जातिगत, वंशगत, धर्मगत और प्रांतगत भेद-भावों से मुक्त करना (३) महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं पर मत संग्रह करना (४) देश-हित की बातें सोचना और देश में राष्ट्रीयता की भावना भरना—इन समस्याओं पर विचार करके कार्य करना चाहिये। कांग्रेस के २८ दिसम्बर सन् १८८६ के दूसरे अधिवेशन का सभापतित्व दादा भाई नौरोज़ी ने किया। इस अधिवेशन में ८८० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। फिर काँग्रेस का विकास इतनी तीव्र गति से हुआ कि अंग्रेजी सरकार को भी इस संस्था से चिंता होने लगी। १८९२ में पार्लियामेंट में नया इंडिया कौंसिल एक्ट पास हुआ जिसके अनुसार व्यवस्थापिका सभा में जनता के प्रतिनिधि भी आने लगे।

लार्ड कर्ज़न के दमन-नीति-काल में काँग्रेस का कार्य तीव्र गति से आगे बढ़ा। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हुआ। जनता की बढ़ती हुई उमंगों को ज्यों-ज्यों कुचला गया त्यों-त्यों जागृति की ज्वाला प्रबल होती गई। इसी समय बंगाल का विभाजन भी हुआ जिसके फल-स्वरूप बंगाल में बहुत बड़ा असंतोष फैला और नवयुवकों ने मिलकर सरकार के विरुद्ध क्रांतिकारी-दलों की स्थापना की। अहमदाबाद में लार्ड मिन्टो पर बम फैंका गया। सरकारी दमन चक्र और भी तीव्रगति से चला। लोकमान्यतिलक को पकड़कर छः साल के लिये देश निकाला दे दिया गया। युगान्तर और वन्देमातरम के संपादकों को पकड़ कर उन पर अभियोग चलाये गये। जहाँ एक ओर यह गर्म-दल था वहाँ दूसरी ओर काँग्रेस के नर्म-दल के नेता सरकार के वैधानिक कार्य-क्रम में घुस चुके थे। नर्म-दल के नेताओं ने इंग्लैंड जाकर भारत मन्त्री मारले को भारत की वास्तविक दशा का ज्ञान कराया। इसके फलस्वरूप मिन्टो-मार्ले सुधार हुआ जिसके अनुसार (१) गवर्नर जनरल की कौंसिल में शासन सभा के सदस्यों के अतिरिक्त और ६० सदस्य रखे गये (२) पंजाब और बर्मा की कौंसिलों के

सदस्यों की संख्या ३० निर्धारित हुई तथा अन्य प्रांतों में ५० सदस्य रखे गये। (३) हर कौंसिल में सरकारी कर्मचारी, सरकारी सदस्य और निर्वाचित सदस्य थे। इस समय काँग्रेस गरम और नरम दो दलों में विभक्त थी। गरम दल के नेता लोकमान्यतिलक और नरम दल के नेता दादा भाई नौरोज़ी थे। सर फ़ीरोज़शाह महता ने इस समय दोनों के पृथक्-पृथक् होजाने का नारा लगा कर काँग्रेस को दो भागों में विभक्त कर देना चाहा परन्तु उन्हें सफलता न मिली। कुछ समय के लिये गरम दल के सदस्यों ने काँग्रेस से हाथ खेंच लिया।

सूरत काँग्रेस में आपसी मत-भेद के कारण मिस्टर जिन्हा ने काँग्रेस को त्याग कर मुसलमानों का मुस्लिम लीग के नाम से राजनैतिक संगठन किया। लीग का प्रधान उद्देश्य कांग्रेस का विरोध और मुसलमानों का संगठन करना था। इसी समय १९१४ का महायुद्ध आरम्भ हुआ और कांग्रेस के नरम दल ने युद्ध सम्बंधी कार्यों में सरकार को पर्याप्त सहायता दी। १९१६ के कांग्रेस अधिवेशन में नरम और गरम दल मिलकर फिर एक हो गये और उन्होंने अपनी निम्नलिखित राजनैतिक माँगें सरकार के सामने रखीं—(१) प्रांतों की व्यवस्थापिका सभाओं में अस्सी प्रतिशत सदस्यों की बढ़ोत्री की जाये (२) प्रांतीय कौंसिलों के प्रस्ताव शासकों को मान्य होने अनिवार्य हों (३) शासन सभा के सब सदस्य भारतीय होने चाहियें। (४) हिन्दू और मुसलमानों का निर्वाचन पृथक्-पृथक् हो।

इसी समय लोकमान्य तिलक ने होमरूल लीग को स्थापित करके औपनिवेशिक स्वतंत्रता के एक नवीन आंदोलन को जन्म दिया। एनीबेसेन्ट के 'न्यूइंडिया' और तिलक जी के 'केसरी' पत्र से बड़ी बड़ी ज़मानतें माँग कर सरकार ने आंदोलन को दबाने का प्रयत्न किया और साथ ही अंगरेजी मंत्रिमंडल ने सम्राट की ओर से भारत में उत्तरदायी सरकार स्थापित कराने की घोषणा की जिसके फलस्वरूप

आंदोलन कुछ हलका पड़ गया। भारत मंत्री मांटेग्यू और चेम्स फ़ोर्ड ने एक सुधार योजना तय्यार की परन्तु ज्यों ही युद्ध समाप्त हुआ त्यों ही मान्टेग्यू और चेम्सफ़ोर्ड सुधार की स्कीम भी समाप्त हो गई। सुधार न होने के साथ ही रौलट एक्ट भारत में लागू हुआ जिसके द्वारा क्रांतिकारियों को नितांत निर्दयता के साथ कुचलने का सरकार ने निर्णय किया।

रौलट एक्ट के विरुद्ध सर्व प्रथम ६ अप्रैल सन् १९१९ को दिल्ली में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह की घोषणा की जिसके फलस्वरूप जलूसों पर गोलियाँ चलीं और पंजाब में डाक्टर किचलू और डाक्टर सत्यपाल को पकड़ लिया गया। और जलियाँवाले बाग़ में गोलीकांड हुआ। इन कांडों से ख़िलाफ़त की ज्वाला दबने के स्थान पर और भी प्रबल रूप धारण कर गई। भारत की जनता के हृदय में अंगरेजी राज्य के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। लोकमान्य तिलक की असहयोग भावना को महात्मा गाँधी ने जनता में व्यापक बना दिया। कौंसिलों और विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का आंदोलन प्रारम्भ हुआ। यह असहयोग अहिंसात्मक था। सरकार इससे घबरा उठी और उसने पकड़-धकड़ प्रारम्भ करदी। गांधी जी अहिंसा पर दृढ़ रहना चाहते थे परन्तु धीरे धीरे आंदोलन में हिंसा ने जन्म लिया और उसके कारण महात्मा गांधी ने अपना आंदोलन वापिस ले लिया। आंदोलन स्थगित होते ही सरकार ने साम्प्रदायिक दंगों को प्रोत्साहन दिया और वह देश व्यापक बन गये। इसी समय प्रिंस आफ वेल्स भारत आये जिनका स्वागत स्थान-स्थान पर हड़तालों द्वारा किया गया। इस पर सरकार ने महात्मा गाँधी को जेल भेज दिया।

इसके पश्चात् पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर में काँग्रेस का महत्वपूर्ण अधिवेशन हुआ। कांग्रेस ने इस अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। २६ जनवरी १९३० को समस्त

भारत में स्वाधीनता दिवस मनाया गया। इसी समय साइमन कमीशन भारत आया जिसका स्वागत बाइकाट द्वारा हुआ और महात्मा गांधी ने अपना नवीन आंदोलन छेड़ दिया। काँग्रेसी सदस्यों ने कौंसिलों से अस्तीफ़े दे दिये। यह आंदोलन नमक कानून को लक्ष्य करके प्रारम्भ हुआ। १२ मार्च को ७९ साथियों के साथ महात्मा गांधी डांडी की ओर बढ़ गये। यह आंदोलन देश व्यापक हुआ और समस्त भारत में नमक कानून तोड़ा गया। सरकार ने अपनी पूर्ण दमन नीति से काम लिया परन्तु आंदोलन न दब सका। लाखों भारतीय जेलों में ठूंस दिये गये परन्तु, जेल जाने वालों की संख्या न घटी। महात्मा गाँधी, जवाहरलाल, मोतीलाल और देश के अन्य नेता पकड़ लिये गये। इसके पश्चात् गांधी इर्विन पैक्ट हुआ जिसके अनुसार सब राजनैतिक कैदी मुक्त कर दिये गये। कांग्रेस के इतिहास में यह आँदोलन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

इर्विन के पश्चात् विलिंगटन ने कांग्रेस को गैर कानूनी संस्था घोषित कर दिया परन्तु काँग्रेस के अधिवेशन उस काल में भी दिल्ली और कलकत्ते में हुए जिनके सभापति सेठ रणछोरदास और श्रीमती-नेलीसेन गुप्त थीं। इसके पश्चात सरकार ने हिन्दुओं की शक्ति कम करने के लिये हरिजनों को हिंदुओं से पृथक करना चाहा परन्तु महात्मा गांधी ने इसके विरोध में २८ सितम्बर सन् १९३२ को आमरण उपवास किया। मालवीय जी और सर तेजबहादुर सप्रू भारत मन्त्री रैमजे से मिले और उन्होंने प्रयत्न करके सरकार की इस विभाजन-नीति को रद्द कराया। महात्मा गांधी ने उपवास समाप्त करके हरिजन आंदोलन प्रारम्भ किया और भारत के कोने २ में इस आवाज़ को पहुँचाया।

१९३९ में कांग्रेस ने असैम्बलियों के चुनाव में भाग लिया और बहुमत के साथ असैम्बलियों में पहुँचे। काँग्रेसियों की दैनिक जीवन

म हस्तक्षेप न करने की मांग सरकार द्वारा न माने जाने पर बहुमत होने पर भी कांग्रेसी सदस्यों ने पद ग्रहण नहीं किये। इसके पश्चात् लखनऊ, फ़ैजपुर और त्रिपुरी के अधिवेशन हुए। त्रिपुरी में सुभाषचन्द्र-बोस को महात्मा गांधी का विरोध होने के कारण त्यागपत्र देना पड़ा। इसी समय कांग्रेस में सुभास बाबू ने फ़ार्वर्ड ब्लाक की स्थापना की। किसानों और मजदूर वर्ग को साथ लेकर चलना इस ब्लाक का मूल्य उद्देश्य था।

इसी समय योरुपीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध सम्बन्धी सरकार की नीति में सहायता देने में मतभेद होने पर कांग्रेसी सदस्यों ने असैम्बलियों से स्तीफ़े दे दिये। रामगढ़ में कांग्रेस अधिवेशन हुआ और यह प्रस्ताव रखा गया कि यदि सरकार पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा करदे तो कांग्रेस सहायता करने के लिये उद्यत हो सकती है। क्रिप्स अपनी योजना लेकर भारत आया परन्तु कोई समझौता न हो सका। महात्मा जी ने खुले शब्दों में 'भारत छोड़ो' का नारा लगाया। बम्बई अधिवेशन में यही नारा प्रस्तावित हुआ और सर्व सम्मति से पास हो गया। 'करो या मरो' का मन्त्र भारत की जनता में महात्मा गाँधी ने फूंक दिया। सरकार ने अपना दमन चक्र संभाला और भारत के सब नेता बन्दकर दिये गये। ९ अगस्त् को यह समचार भारत की जनता में फैलना था कि एक देश व्यापक आंदोलन उठ खड़ा हुआ। सरकार इस आंदोलन का सामना न कर सकी। सुभास बाबू सरकार की आंखों में धूल झोंक कर भारत से बाहर निकल गये और उन्होंने विदेशों के स्वतन्त्र वायु मण्डल में जय-हिंद का नारा लगाकर सैनिक-संगठन किया।

युद्ध समाप्त होने पर जब नेताओं को छोड़ा गया देश में एक बार फिर से वही ताजगी आ गई जो इनके जेल जाने के समय थी। सरकार और नेताओं में फिर बात चीत प्रारम्भ हो गई और अन्त में

दो दिसम्बर का वह समय आ गया जब भारत ने अपनी शताब्दियों की खोई हुई स्वतन्त्रता को फिर से प्राप्त कर लिया । पंडित जवाहर-लाल भारत के प्रधान मन्त्री बने ।

आज भारत का शासन प्रबन्ध कांग्रेस के हाथों में है । जब से कांग्रेस ने शासन संभाला है उस समय से कांग्रेस का सम्पर्क जनता से समाप्त होता जा रहा है । कांग्रेस की प्रजातन्त्रात्मक प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है और यही कारण है कि जनता के हृदय से उसके प्रति सद्भावना की समाप्ति होती जा रही है । इसमें कई कारण हैं । प्रथम तो जिस अव्यवस्थित परिस्थिति में उस ने शासन व्यवस्था संभाली उसे ठीक करने में समय लगता है दूसरे सरकार ने अपने को इतनी विविध दिशाओं में फंसा लिया कि उनका हल करना उसके लिये कठिन हो रहा है । भारत की प्रधान समस्याओं का हल करने में वह असफल सिद्ध हो चुकी है और भारत में मंहगाई, चोरबाजारी, अन्न की कमी, बेरोजगारी, यह दिन प्रति दिन घटने के स्थान पर बढ़ती ही जा रही है । शरणार्थियों को बसाने की समस्या का भी अभी तक कोई हल नहीं हो सका है । घूसखोरी और रिश्वत का बाज़ार गर्म है और सरकारी महकमों के कार्य-कर्ताओं पर से सरकार का भय उठ चुका है । शासन की बागडोरें एक ऐसे वातावरण में चल रही हैं कि जहां नियंत्रण का अभाव है । कांग्रेस आज अपने नेताओं के कारण जीवित है संस्था के कारण नहीं । बस इसी से कांग्रेस के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है । कांग्रेस की वर्तमान परिस्थिति भी उसी समय तक रह सकती है जब तक दूसरी कोई राजनैतिक संस्था बलवती नहीं हो जाती है । कांग्रेस के अतिरिक्त सोशलिस्ट और कॉम्यूनिस्ट दो पार्टियां भारत में हैं । मद्रास, बम्बई और बंगाल में इनका प्रभाव है और हो सकता है कि आगामी चुनावों में कांग्रेस सरकार को वहाँ मुंह की खानी पड़े । पंजाब

म भी सरकार के विरुद्ध जनता के हृदयों में पर्याप्त क्षोभ की भावना है और इसलिये आगामी चुनाव में वहाँ भी सरकार को करारी टक्कर लेनी होगी। कॉंग्रेस का भविष्य उज्ज्वल नहीं प्रतीत होता क्योंकि कॉंग्रेस आज अंगरेज़ी शासन काल की अमन सभा के ही समान हो गई है। आज कॉंग्रेस का मैम्बर बनना कोई भयकी वस्तु नहीं इसलिये स्वार्थी लोग उसमें घुस गये हैं। जन-सेवा की भावना का उसमें से लोप होकर अधिकार की भावना भर गई है। आज कांग्रेस समाज और आन्दोलन के नाते भी असफल है और सरकार के नाते भी। आज आवश्यकता इस बात की है कि कांग्रेस के नेता अधिकार की बात छोड़ कर जनता में घुस जायें और जनता की दैनिक कठिनाइयों को समझकर उनके हल निकालने का प्रयत्न करें। आज उनके हाथ में सत्ता है और सत्ता के रहते हुए भी यदि वह जनता को अपना न सके तो उनका और उनके कांग्रेस का भविष्य अंधकार-पूर्ण ही है। हमें भय है कि कहीं चीन जैसी दशा भारत की न हो।

इन असफलताओं के साथ ही साथ कॉंग्रेस सरकार कुछ दिशाओं में सफल भी है और उन दिशाओं में उसने वह कार्य किया है जो पुरानी व्यवस्थित सरकारें भी करने में सफल नहीं हो पाईं। भारत की रियासतों का जो हल कॉंग्रेस सरकार ने निकाला वह अंगरेज़ी सरकार भी नहीं निकाल सकी। साथ ही भारत अपनी विदेशी नीति में पूर्ण रूप से सफल है। पूर्ण सम्मान के साथ भारत ने संसार की राजनीति में अपना स्थान सुदृढ़ कर लिया है और आज वह समय आ गया है कि जब संसार की राजनीति भारत को भुला कर नहीं चल सकती।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. कॉंग्रेस का प्रारम्भ और उसके प्रधान उद्देश्य।
२. महात्मा गाँधी का नेतृत्व।

३. ंतिम महायुद्ध और भारत की स्वतंत्रता।
४. कांग्रेस का राज्य-सत्ता सँभालना।
५. उपसंहार—कांग्रेस का भविष्य।

भारत की रियासतें

मुग़लिया-काल से भारत में सामंतशाही चली आ रही थी। भारत में एक छत्र मुग़लिया राज्य होने पर भी मंसब वर्तमान थे और मंसबदारों को अपने अपने मंसबों में अङ्गरेज़ी काल के रियासती राजाओं और नवाबों से किसी भी प्रकार कम अधिकार नहीं थे। अंग्रेज़ी शासन भारत में पूर्ण रूप से छा गया तो भारत के राजे महाराजे और नवाबों ने ब्रिटिश सरकार की पराधीनता स्वीकार कर ली। उन्हें एक दम समाप्त कर देना उस समय सरकार बर्तानिया के लिए कठिन था और ज प्रयास उन्होंने किया भी तो महारानी झाँसी जैसी वीराङ्गनाओं को अपना शत्रु बना लिया। प्रारम्भ में तो अंग्रेज़ी सरकार इन रियासतों के विरुद्ध थी परन्तु बाद में उन्होंने भारत की शक्ति विभाजन का इन्हें साधन बना कर ज्यों का त्यों ही रहने दिया। इस प्रकार अंग्रेज़ी शासन काल में भारत दो बड़े भागों में विभक्त था एक ब्रिटिश भारत जो सीधा अंग्रेज़ी पार्लियामेन्ट से शासित होता था और दूसरा भारत का रियासती विभाग जिसकी विदेशी नीति पर पूर्ण रूप से और देसी नीति पर आंशिक रूप से अंग्रेज़ों का शासन था। इन रियासतों की संख्या ५६२ थी जिनमें काश्मीर, हैदराबाद और पटियाला जैसी बड़ी २ रियासतें भी थीं और काठियावाड़ जैसी छोटी २ भी। सन् १९४१ की जन संख्या के अनुसार भारत की २४ प्रतिशत आबादी रियासतों में रहती थी। भारत विभाजन के पश्चात रियासतों की जन संख्या २७ प्रतिशत हो गई। इन रियासतों में १६ रियासतों की संख्या १० लाख से अधिक , चार की साढ़े सात लाख से अधिक,

तेरह की साढ़े छै लाख से अधिक और बाकी जो १४० रियासतें थीं उनकी जन संख्या पच्चीस लाख से पचास लाख तक थी।

ब्रिटिश भारत में जब स्वतंत्रता का आँदोलन छिड़ा और जागृति ने पर फैलाये तो रियासतें अपने भोग-विलास में मग्न थीं। राजे और नवाब ऐश से प्रजा का शोषण करके जीवन व्यतीत कर रहे थे और विलायतों में जाकर भारत के किसानों की गाढ़ी कमाई को नष्ट करते थे। जहाँ तक इन शासकों के ऐश का सम्बन्ध था ब्रिटिश सरकार उसमें कोई हस्ताक्षेप नहीं करती थी परन्तु उनमें कहीं पर भी कुछ जागृति का अंश दिखाई देने लगता था तो सरकार के कान खड़े हो जाते थे। प्रजा के धन से स्वयं ऐश करना और सरकारी अफ़सरों को ऐश कराना बस यही इन राजे महाराजों का काम था। ब्रिटिश भारत में जनतंत्र पनप रहा था और सरकारी दमन नीति उसे रोकने में असफल होती जा रही थी परन्तु रियासतों में जनतंत्र वाद को बुरी तरह कुचला जाता था। राजाओं के साथ संधि-बन्धनों का बहाना करके ब्रिटिश सरकारी अफ़सर वहाँ पर होने वाले अत्याचारों के प्रति जान बूझ कर उदासीनता प्रकट कर देते थे। यह सब संधियां भारतीय जनता तक ही सम्बन्धित थीं अपने तक नहीं। किसी एक साधारण अंगरेज के विपरीत भी दुर्व्यवहार करने पर राजा और नवाब को दंडित किया जा सकता था। इस प्रकार अंग्रेज़ी कूटनीति का आश्रय पाकर अंग्रेज़ी शासन काल में भारत का यह रियासती वर्ग पनपता रहा और मनमानी ऐश करता रहा।

अंग्रेज़ों ने जिस कूटनीति से भारत में राज्य किया उस कूट-नीति को भारत को औपनिवेशिक स्वतंत्रता देते समय भी तिलांजलि नहीं दी। भारत को भारत और पाकिस्तान में विभाजित करने के साथ ही साथ रियासतों की समस्या को ज्यों का त्यों उलझा हुआ छोड़ दिया। अंग्रेज़ सर्वोच्च सत्ता (Paramount Power) रियासतों के

शासकों को सौंपकर स्वयं तमाशा देखने के लिए एक तरफ़ जाकर बैठ गए। निरकुंश राजे और नवाब अपनी २ रियासतों के सर्वाधिकार पूर्ण शासक बन बैठे और उन्होंने भारत राष्ट्र से पृथक होकर स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने के स्वप्न देखे। फलस्वरूप हैदराबाद की पुलिस कार्यवाही (Police Action) और काश्मीर युद्ध सामने आये।

अंग्रेज़ों का स्वप्न सत्य न हो सका। भारत विभाजन करके दो भागों में तो बाँटा ही जा चुका था। अब यदि यह सब रियासत भी स्वतंत्र हो जातीं तो भारत राष्ट्र किसी भी प्रकार एक महत्व पूर्ण राष्ट्र नहीं रह सकता था भारत की उन्नति सदा के लिए रुक जाती और भारत एक साधारण सी सत्ता के रूप में ही रह जाता। भारत के नेताओं ने इस विषम परिस्थिति का हल बहुत कुशलता पूर्वक किया रियासतों की समस्या का जितना सुन्दर हल सरदार पटेल ने निकाला उतना सुन्दर हल भारत राष्ट्र में कभी नहीं आया था। नवाब भोपाल की निरंकुशता को महाराजा पटियाला और महाराजा बीकानेर ने रोक दिया। ५ जुलाई सन् १९४७ को भारत सरकार ने रियासती समस्या का हल करने के लिए रियासती सचिवालय(State Department) की स्थापना की और सरदार पटेल इसके अध्यक्ष बने। फिर सब राजाओं के साथ इस विभाग ने अस्थाई समझौते (Stand Still-) agreement) किये जिसके अनुसार ब्रिटिश सरकार की भाँति रक्षा, विदेश और यातायात पर केन्द्रीय सरकार का अधिकार हो गया। इस समझौते के अनुसार सब रियासतें भारत के आधीन हो गईं। यह रियासती सचिवालय का इस दिशा में पहला पग था। इसके पश्चात् छोटी छोटी रियासतों को मिलाकर संघ बनाये गये और कुछ रियासतों को उनके निकटस्थ स्वतंत्र राज्य में मिला दिया गया। सौराष्ट्र, विंध्यप्रदेश, मध्य-भारत, राजस्थान, पटियाला

और विंध्य प्रदेश यह रियासतों के मुख्य संघ बने । इन संघों में एकतंत्र शासन समाप्त करके लोकप्रिय मंत्रीमंडलों की स्थापना हुई । यह संघ एक प्रकार से भारत के अन्य प्रान्तों के ही समान बन गये और गवर्नरों के स्थान पर राजप्रमुखों की नियुक्ति हो गई । राजाओं को निजी व्यय के लिये कुछ वार्षिक धन-राशि निश्चित कर दी गई ।

हैदराबाद इन रियासतों में सब से बड़ी रियासत थी और पाकिस्तान का उस पर दांत था । इस रियासत में लोकमत हिन्दुओं का ही अधिक है परन्तु इसमें मुसलमानी नवाब होने के कारण पाकिस्तान इस पर अपना कुछ अधिकार समझता था । हैदराबाद की जन-संख्या १ करोड़ सात लाख के लगभग है । हैदराबाद चारों ओर से भारत से घिरा हुआ है । उसकी स्वतंत्र सत्ता तो हो ही नहीं सकती थी । पहिले तो निज़ाम ने भी अन्य भारत की रियासतों की भाँति एक वर्ष के लिये अस्थाई समझौता कर लिया । एक सुविधा हैदराबाद को अन्य रियासतों से अधिक मिल गई थी कि उसे विदेशों में अपने हाई कमिश्नर नियुक्त करने का अधिकार मिल गया था । परन्तु कुछ ही दिन बाद हैदराबाद में मीर लायकअली और कासिम रिज़वी ने मिलकर निज़ाम को अपने चंगुल में फँसा लिया और इन्होंने हैदराबाद को स्वतंत्र सत्ता घोषित करके भारत को युद्ध की धमकी देनी प्रारम्भ कर दी । इसके फलस्वरूप भारत सरकार को पुलिस कार्य-वाही करनी पड़ी और हैदराबाद विलायतों से अस्त्र-शस्त्र मंगाकर भी भारत की सेनाओं के सम्मुख आत्म समर्पण के अतिरिक्त और कुछ न कर सका । १४ सितम्बर से १७ सितम्बर सन् १९४८ तक साढ़े तीन दिन में निज़ाम ने घुटने टेक दिये । अब हैदराबाद का भविष्य बहुत उज्वल है और वहाँ पर भी लोकप्रिय मंत्रीमंडल बन जायेगा ।

काश्मीर में मुसलमान जनसंख्या का प्राधान्य है और महाराज हरिसिंह राज्य कर रहे थे । काश्मीर की सीमा अफ़गानिस्तान, पाकि-

स्तान, रूस, चीन और तिब्बत से मिलती है। इस लिये इस देश का राजनैतिक विचार से बहुत महत्व है। १५ अगस्त सन् १६४७ को हरिसिंह ने काश्मीर के स्वतंत्र होने की घोषणा की। इस स्थिति से लाभ उठाने के लिये २० अक्टूबर सन् १६४७ को पाकिस्तान ने हजारों सशस्त्र कबायलियों को काश्मीर की सीमा में घुसा दिया। जब उन लुटेरों का वेग महाराज हरिसिंह पर न रुका तो उसने नैशनल कांफ्रेंस के नेता शेख अबदुल्ला को मुक्त किया और दोनों ने मिलकर भारत से सहायता मांगी। भारत न अपनी सेनायें भेजकर पाकिस्तानी सेनाओं को पीछे हटा दिया और साथ ही पाकिस्तान के अत्याचार के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र में भी एक अर्जी भेज दी। पहिले तो पाकिस्तान ने मना ही कर दिया कि उसकी सेनाएं काश्मीर में नहीं हैं परन्तु अन्त में उसे स्वीकार करना पड़ा। संयुक्त राष्ट्र सभा के कमीशन के प्रयत्नों के फलस्वरूप १ जनवरी सन् १६४६ को युद्ध तो बन्द हो गया परन्तु कोई निश्चित निर्णय आज तक नहीं हो पाया है।

इस प्रकार हमने देखा कि कॉंग्रेस की नवनिर्मित सरकार ने भारत की रियासतों के प्रश्न को बहुत कुशलता पूर्वक हल कर लिया। हमारा मत है कि जिस समय संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मुख भारत सरकार ने काश्मीर का मामला भेजा यदि वह न भेजती तो आज तक वह स्वयं ही हल हो गया होता। हमारी सरकार की इस दबने वाली नीति ने ही पाकिस्तान को आज भी उसकी अनेकों हठ धर्मियों पर आरूढ़ किया हुआ है। सरकार को इस प्रकार दब कर अपनी समस्याओं का हल नहीं करना चाहिये।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. प्रस्तावना।

२. अंग्रेजी शासन काल में रियासतों की परिस्थिति।

३. भारत विभाजन के समय रियासतों की समस्या।
४. कांग्रेस सरकार द्वारा रियासतों की समस्या का हल।
५. हैदराबाद और काश्मीर।
६. उपसंहार।

ज़मींदारी देश का अभिशाप है

शासन व्यवस्था की सुगमता, निरंकुशता और एकतंत्रता का नाम ज़मींदारी है। ज़मींदारी न केवल भारत में बल्कि संसार के अन्य देशों में भी बहुत प्राचीनकाल से चलती आती है। प्रारम्भ में जब सभी देशों में शासन व्यवस्था का ढाँचा बाँधा गया तो चक्रवर्ती राजा, राजा और उनके नीचे जमींदार होते थे। इनके अतिरिक्त अन्य सब जाति वाले रियाया कहलाते थे। उस काल में पूंजी जिसे आज अर्थ शास्त्र में Capital कहते हैं इसका उदय नहीं हुआ था। क्योंकि बदल (Exchange) सोने चांदी में अथवा रुपये पैसे में न होकर अनाज में ही हो जाता था, जमींदार अपनी ज़मींदारी में वही स्थान रखता था जो राजा अपने राज्य में। इस काल में न तो जनता का संगठन ही था और न उसमें संगठन की शक्ति ही। संगठन के साधन भी उस समय में उपलब्ध नहीं थे। शक्ति के आधार पर शासन चलता था और सेना अथवा गिरोह बनाकर उसको नियन्त्रित रखा जाता था। निरंकुशता इसका प्रधान गुण था। प्रारम्भ में जब तक इस प्रकार की व्यवस्था सीमित रही और साधन असीमित उस समय तक कोई कठिनाई सामने नहीं आई और आवश्यकतानुसार ज़मींदारी अथवा राज्यों का विस्तार भी होता गया परन्तु ज्यों ज्यों व्यवस्था असीमित और साधन सीमित होते चले गये त्यों त्यों मानव समाज में संघर्ष उत्पन्न होना प्रारम्भ हो गया और इस संघर्ष ने निरंकुशता अथवा निठल्लेपन के विपरीत विद्रोह किया।

ज़मींदारी उन्मूलन भी इसी वर्ग जन्य विद्रोह का फल है। भारतवर्ष में ज़मींदारी प्रथा मुसलमान काल में हिन्दू-काल की ही भाँति चलती रही। राजे, नवाब, मंसबदार, जागीरदार, ज़मींदार यह सभी ज़मीदारी के छोटे बड़े रूप हैं, अंगरेज़ी शासनकाल में भी ज़मींदारी प्रथा ज्यों की त्यों चलती रही। भारत के पृथक पृथक प्रांतों में इसका रूप पृथक पृथक रहा। कहीं पर जागीरदारी प्रथा रही और कहीं पर छोटी छोटी ज़मींदारी। ज़मींदारी प्रथा के फलस्वरूप देश में ज़मींदारों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया जो सरकार का इस समय हितैषी रहा और भोग विलास के अतिरिक्त उसके जीवन का और कोई लक्ष्य नहीं था। ज़मींदारी का प्रबन्ध उनके कारिन्दों के हाथों में रहा जो कि एक ऐसा वर्ग बना जिसने स्वार्थ के वशीभूत होकर मानवता को बिल्कुल ही हाथों से खो दिया।

इस प्रकार शासक का सीधा सम्बन्ध जनता से न होकर ज़मींदारों और उनके कारिन्दों से हो गया। सरकारी अफ़सरों को ज़मीदारों और उनके कारिन्दों द्वारा डालियाँ मिलती रहीं, रिश्वतें मिलती रहीं और शिकार के लिये निमंत्रण मिलते रहे। उनके आवभगत में दावतें होती रहीं, नृत्य और मदिरा का बोलबाला रहा और इस प्रकार ज़मी-दारों की निरंकुशता को खुला मैदान अंगरेजी शासनकाल में मिला। कुछ काल के लिये ब्रिटिश साम्राज्य के साथ भारत के जमींदार भी खूब पनपे, खूब ऐश की और बेचारी जनता उनकी निरंकुशता की चक्की में पिसती रही, दली जाती रही। परन्तु यह परिस्थिति अधिक दिनों तक न चल सकी। पूंजी का प्रसार हुआ, दस्तकारी बढ़ी, मिलें खुलीं, मिल मजदूरों का संगठन हुआ और संसार की व्यापक लहर में भारत ने भी अपने हाथ पैर फैलाये। किसानों में भी जागृति हुई और उन्होंने भी यह अनुभव करना प्रारंभ किया कि क्यों उनके गाढ़े पसीने की कमाई को इस प्रकार कुछ न करने वाला निठल्ला जमींदार समाज

खा जाये ? जनता में जागृति हुई, समाज का ढांचा बदने लगा, जनता का ढाँचा बदलने लगा, सरकार का ढांचा बदलने लगा और अन्त में वह समय आ गया जब भारत से अंगरेजी सरकार सर्वदा के लिये चली गई और जमींदार जा रहे हैं।

आज भारत में प्रजातंत्र राज्य है और सरकार भी विदेशी नहीं है; परन्तु फिर भी जो ढांचा इस सरकार को मिला है वह पुराना है, वही अंगरेजी सरकार के समय का है। वर्तमान सरकार में प्रगति अवश्य है परन्तु वह धीरे धीरे चलने वाली है, सोच समझ कर फूंक फूंक कर पग रखने वाली है। वर्तमान युग चाहता है विद्युत की गति, प्रगति जिसमें कहीं रुकावट न हो, बंधन न हो, प्रतिबन्ध न हो, मुक्त हो हर प्रकार से। इसी भावना के आधार पर ज़मींदारी उन्मूलन की लहर आज देश भर में व्यापक हो चुकी है। यह लहर आज की जनता की पुकार है, वास्तविक है कृत्रिम नहीं है और यही कारण है कि इसके फलीभूत होने में कुछ समय लग सकता है परन्तु यह नितांत असम्भव है कि यह हो ही नहीं। आज का युग निठल्लेपन को सहन नहीं कर सकता और आने वाले युग में किसी को भी बिना कुछ किये खाने और पहिनने का अधिकार नहीं होगा। भूमि उसकी होगी जो उसे जोतेगा, बोयेगा और उसमें अनाज उत्पन्न करेगा। केवल दूसरों की मेहनत पर चौधरी बनकर खाने के लिये भूमि का उपयोग नहीं किया जा सकता।

ज़मींदरी उन्मूलन से देश की सम्पत्ति में वृद्धि होगी। प्रत्येक किसान जब अपनी जोती जाने वाली भूमि को यह समझ कर जोते बोयेगा कि वह उसकी अपनी है तो वह उसमें अपना खून पसीना एक करके उसे अधिक से अधिक उपजाऊ बनाने का प्रयत्न करेगा और इस प्रकार देश की भूमि अधिक से अधिक उपजाऊ बनकर अधिक से अधिक उत्पत्ति दे सकेगी। इसका दसरा महानतम लाभ यह होगा कि

देश के समाज में से एक ऐसे शोषक वर्ग का अंत हो जायेगा जो उत्पत्ति मूलक न होकर अनुत्पतिमूलक है, देश का मान न होकर देश का कलंक है। इस वर्ग ने आज तक देश की उत्पत्ति के साथ देश की भूमि के साथ और देश की जनता के साथ खिलवाड़ की है। विदेशों में जा जा कर देश के ग़रीब किसानों की गाढ़ी कमाई को फूंका है, नष्ट किया है। ज़मीन्दारी उन्मूलन से शासन का सीधा सम्बन्ध शासित से होगा। यह इसका तीसरा लाभ है क मध्यवर्ग बीच से निकल जाने पर जनता और सरकार दो पृथक पृथक वस्तु न रहकर एक ही हो जायेंगे और एक दूसरी की कठिनाई और सुगमता, हानि और लाभ एक दूसरे को समझने में समय नहीं लगेगा। आज सरकार जनता की है इसलिये जनता और सरकार का सीधा सम्बन्ध होना नितांत आवश्यक है। मध्यवर्ग का लोप हो जाने पर यह सम्बन्ध आप से आप दृढ़ हो जायेगा। ज़मींदारी उन्मूलन का चौथा लाभ जो सबसे महान है वह यह होगा कि जनता में समानता की भावना और स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। समाज से ऊंच-नीच, छोटा-बड़ा यह भावना नष्ट होकर सब समतल पर आ जायेंगे, देश की निर्धनता दूर होगी और वह वर्ग जिसके पास तन ढांपने के लिये कपड़ा और पेट भरने के लिये अन्न भी अंगरेजी सरकार के शासन काल में उपलब्ध नहीं हुआ वह सम्पन्न हो जायेगा उभर जायेगा, और मानवता के मस्तक पर लगा हुआ यह अभिशाप एक दिन बह आयेगा जब दूर होकर रहेगा।

ज़मींदारी उन्मूलन से जहाँ इतने लाभ हैं वहाँ एक हानि भी है और हव यह कि देश की पूंजी कुछ काल के लिये ऐसे व्यक्तियों के हाथ में चली जायेगी जो उसे उत्पादक कार्यों में लगाना आज नहीं जानते। पिछला कारतकार वही है (किसान) जिसमें अभी विद्या का अभाव है। वह यह भी नहीं जानता कि कमाई हुई सम्पत्ति को सुरक्षित रूप से डाकखाने या बैंक में रखा जाता है। वह उसे घरों मे गाड़कर

अनुत्पादक बना देते हैं। आज भारत को इस कठनाई का सामना करना पड़ रहा है। सरकार की वर्तमान नीति से रुपया व्यापारी समाज के हाथों से खिचकर ऐसे ही वर्ग के हाथों में पहुंच गया है। आज अन्न, रुई, शक्कर, गुड़ इत्यादि किसानों की पैदा हुई चीजों का दर बहुत ऊंचा है, इसलिये रुपया उनके पास खिंचता जा रहा है और उस रुपये का आवागमन (Circulation) रुक गया है। इस प्रकार देश के व्यापार में इस समय बहुत हानि पहुँच रही है। परन्तु यह रुकावट स्थाई नहीं है। ज्यों ज्यों इस वर्ग में विद्या का प्रसार होगा त्यों त्यों परिस्थिति ठीक होती जायेगी और देश की जागृति के साथ साथ उनमें भी जागृति का संचार होकर वह धन आवागमन के क्षेत्र में बिना प्रयास ही निकल आयेगा।

इस प्रकार आज मींदारी उन्मूलन देश के लिये लाभदायक ही है। आज के युग में ज़मीदारी देश के लिये अभिशाप है, घोर अभिशाप।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. ज़मीदारी का प्राचीन इतिहास।
२. अङ्गरेजी शासन काल में ज़मींदारी।
३. ज़मींदारी प्रथा की हानियाँ और ज़मींदारी उन्मूलन के लाभ।
४. उपसंहार।

भारत और पाकिस्तान

जो देश विज्ञान की दृष्टि से जितना पिछड़ा हुआ रहेगा वहाँ रूढ़िवाद और धार्मिक दृष्टिकोण का प्रभाव उतने ही दिनों तक बना रहेगा। संसार एक युग से राजनीति को धर्म के क्षेत्र से मुक्त करता चला आ रहा है। धर्म का सम्बन्ध जब आत्मा से है तो फिर क्यों यह हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन में उथल-पुथल पैदा करने

की चेष्टा करता है ? स्वतंत्र देशों में यह भावना जितनी बलवती बन सकी। उतनी परतंत्र देशों में न बन सकी। उदाहरण स्वरूप भारत को ही ले सकते हैं कि अंगरेज़ों ने अपने देश की राजनीति में तो रोमन कैथोलिक और प्रोस्टैस्टैन्टों के झगड़े को निकाल कर बाहर खड़ा कर दिया परन्तु भारत में हिन्दू और मुसलमानियत का बीजारोपण वह बराबर करते रहे। इसका प्रधान कारण यही था कि धार्मिक दृष्टिकोण से सुसंगठित भारत पर Divide and Rule वाला सिद्धाँत लागू नहीं किया जा सकता था। क्रिप्स जैसे नेता ने प्रेरणा देकर, जो इंगलैंड में जनता का एक काल में प्रधान नेता रहा है, भारत में जनता के अहित में पाकिस्तान की भावना का एक प्रकार से सूत्रपात किया और जिन्हा की खंडनात्मक प्रवृत्ति को बल देकर देश का अहित किया। मि० जिन्हा का विचार था कि पंजाब, बंगाल और सिंध में मुसलमानों का बहुमत होने के कारण पाकिस्तान बनने में कठिनाई न होगी और फिर बाहर की मुसलमान शक्तियों का संगठन करके भारत पर सुगमता से आक्रमण हो सकेगा। परन्तु यह स्वप्न स्वप्न ही रह गया। आज का युग कहाँ और किस ओर जा रहा है इसे समझने में मि० जिन्हा असफल रहे। हां अंगरेज और अमरीकी राजनीतिज्ञ अपनी चाल में अवश्य सफल हो गये और भारत को दो खंड होजाना पड़ा।

आज के युग में राज्य विस्तार से धर्म विस्तार की कल्पना करना मूर्खता ही है। आज धर्म का शासन-व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं। पाकिस्तान के बन जाने से कुछ विचारकों का मत है कि भारत की उन्नति में बाधा पहुँची परन्तु हमारा मत इसके सर्वथा विरुद्ध है। पाकिस्तान बन जाने से ही भारत की सरकार को अपने कार्य-क्रम पर चलने की स्वच्छंदता प्राप्त हुई। यदि यह न होता तो भारत की परिस्थिति सर्वदा के लिये डाँवाडोल हो जाती और सम्भव था कि

अछूतों का वर्ग जो आज हिन्दुओं का ही एक अंग है सर्वदा के लिये इससे पृथक् होकर शासन के प्रलोभन में जाकर मुसलमानों से मिल जाता और इस प्रकार हिन्दू ही क्या भारतीय सभ्यता विनाश को प्राप्त हो जाती। पाकिस्तान के बन जाने से मुसलमान धर्म पाकिस्तान तक सीमित हो गया और भारत में मुसलमानों का जो स्थान आज के समाज में हो गया है वह शोचनीय है। यदि भारत खंड-खंड न होता तो भारत के मुसलमानों का सामाजिक स्तर कभी न गिरने पाता। आज भारत की सरकार हर सम्भव प्रयत्न से मुसलमानों को सहयोग दे रही है और देगी परन्तु एक आत्मग्लानि की भावना उनके अपने हृदयों में ऐसी व्याप्त हो चुकी है कि जिसके कारण वह सिर ऊंचा करके कभी नहीं चल सकते। पाकिस्तान बन जाने से इस्लाम का प्रसार रुक गया, समाप्त हो गया और निकट भविष्य में उसके प्रसार की भी कोई सम्भावना नहीं दिखलाई देती।

पाकिस्तान बन जाने से भारत को एक सब से अधिक हानि जो हुई वह यह है कि भारत का एक बहुत बड़ा भूभाग जो दूसरे भागों को भी खाद्य सामग्री प्रदान करता था वह उसके हाथों से निकल गया। चावल, कपास, गेहूं, चना और पटसन इन पांचों चीजों की भारत में पाकिस्तान बन जाने के कारण कमी हो गई। भारत सरकार प्रयत्न कर रही है कि इस कमी को शीघ्रातिशीघ्र पूरा कर ले और जहां तक पटसन का सम्बन्ध है वहां तक भारत ने कुछ अंशों में पूरी भी कर ली है। जहाँ भारत को इन चीज़ों की कमी हो गई है वहाँ भारत के पास कोयला एक ऐसी वस्तु है कि उसके रोक देने पर पाकिस्तान के सब काम चौपट हो जाते हैं। पाकिस्तान में जाने वाली नहरों का पानी भारत में होकर जाने वाली नदियों से जाता है। यदि भारत आज चाहे तो नदियों में बाँध लगाकर पाकिस्तान की सब उपजाऊ भूमि को ऊसर बना सकता है।

भारत से मुसलमान कारीगरों के चले जाने से कल-कारखानों के कामों में भारत को काफ़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। भारत की कृषि और शिल्प को मुसलमान कृषक और कारीगरों के चले जाने से धक्का लगा परन्तु साथ ही पाकिस्तान से व्यापारी वर्ग के चले आने पर वहां का व्यापार ठप्प हो गया। भारत का व्यापार पहिले से अधिक चमक उठा और पंजाब से आये हुए मेहनती लोगों ने मुसलमान कारीगरों का स्थान कुशलता पूर्वक ले लिया। यह सत्य है कि उनमें अभी वह कुशलता नहीं आ पाई है परन्तु फिर भी कोई काम रुक रहा हो ऐसी परिस्थिति भी पैदा नहीं हुई है। पाकिस्तान में बैंक और व्यापार के क्षेत्र में तो एक दम दिवाला सा ही निकल गया। जिसके फलस्वरूप पाकिस्तान आर्थिक दृष्टि से गिरावट की ओर अग्रसर हुआ।

भारत और पाकिस्तान के विभाजन से दोनों देशों में रहने वाली जनता के आपसी मतभेद अवश्य बढ़ गए हैं। खिलाफ़त और कॉंग्रेस ने हिन्दू मुसलमानों में आपसी प्रेम-भाव पैदा करने का जो निरन्तर अभ्यास किया था इसे गहरी ठेस लगी और आज भारत जो आदर्श सामने रख भी रहा है उसमें भारत की जनता की आंशिक सहानुभूति ही है। विभाजन के समय भारत और पाकिस्तान में जो जन-विध्वंस हुआ वह युग-युग तक भुलाने वाली बात नहीं। यह जो कुछ भी हुआ वह सामाजिक पतन की घोर पराकाष्ठा थी। नन्हें नन्हें बच्चों और स्त्रियों पर जो अत्याचार हुए वह हिन्दू मुस्लिम संगठन के बीच में दीवार बनकर खड़ी हो गई। दोनों समाजों के बीच एक गहरी खाई खुद गई और फिर पाकिस्तान की हिन्दु-निर्वासन नीति ने तो उसे और भी बलवती बना दिया।

राजनैतिक क्षेत्र में भी पाकिस्तान को मुंह की खानी पड़ी। पाकिस्तान अपनी विदेशी नीति में सफल नहीं हो सका है। भारत के साथ उसने जिस जिस मामले में भी टाँग अड़ाई है मुंह की खानी

पड़ी है। काश्मीर का युद्ध, हैदराबाद की समस्या, जूनागढ़ और भूपाल के नवाब का पतन यह सब भारत की सफलता और पाकिस्तान की असफलता के परिणाम हैं। पाकिस्तान के बन जाने से मुसलमानों को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी है पहिले कुल बंगाल, पंजाब, सिंध, नार्थ वैस्ट फ्रंटियर, हैदराबाद और भारत की मुसलमान रियासतों पर मुसलमानों का पूर्ण प्रभुत्व रहता था परन्तु पाकिस्तान के बन जाने से आधा बंगाल चला गया, आधा पंजाब चला गया, हैदराबाद चला गया और भारत की सभी मुसलमान रियासतें स्वाहा हो गईं। इस प्रकार पाकिस्तान ने बनकर हिन्दुओं का हित और मुसलमानों का अनिष्ट ही किया है। पाकिस्तान के सम्मुख अभी पख्तूनिस्तान की समस्या और जटिल रूप में खड़ी है जिसका निबटारा उसे निकट भविष्य में करना ही होगा अन्यथा वहाँ भी विद्रोह की ज्वाला दहकेगी और उसकी ज्वाला में समस्त पाकिस्तान को भुनना होगा।

पाकिस्तान ब्रिटिश साम्राज्यवाद की उपज है और अमरीकी राजनीति का एक मोहरा है। अमरीका और इंगलैंड यह जानते थे कि भारत स्वतन्त्र होने के पश्चात् उनका शत्रु नहीं बनेगा परन्तु उनके हाथ में नाचने वाली कठपुतली बन कर भी नहीं रहेगा। उसे वह शतरन्ज के मुहरे की भाँति जहाँ चाहें वहाँ नचा नहीं सकेंगे। इसलिए उन्हें अपने शत्रु रूस के खिलाफ अपनी शक्ति का संगठन करने के लिए भारत के उत्तर पश्चिम में एक ऐसे स्थान की आवश्यकता थी जहाँ पर कि वह अपने हवाई अड्डे बना सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए पाकिस्तान का उदय हुआ। पाकिस्तान का जन्म वास्तव में मुसलमानों के नाम पर अंग्रेज़ी और अमरीकी चालों की पूर्ति के लिए हुआ है। पाकिस्तान के सामने आज बहुत सी समस्यायें हैं और उनके हल करने पर ही उसके भविष्य का निर्णय हो सकता है। पाकिस्तान

के नामकरण से लेकर आज तक पाकिस्तान के नेता हिन्दुओं के विपरीत मुसलमान जनता को उकसा कर अपना काम निकालते रहे हैं। पाकिस्तान में हिन्दु नहीं रहे इसलिए उनके विपरीत फुसलाने वाला यन्त्र भी उन नेताओं का फेल हो गया। आज पाकिस्तान के सम्मुख उनकी अपनी समस्यायें हैं और वह हैं सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक। इन्हीं के हल करने पर उसका भविष्य आधारित है। यदि वह इन्हें सफलता पूर्वक हल कर सकेगा तो वह जीवित रहेगा अन्यथा मर जायेगा, समाप्त हो जायेगा। आज भारत के सम्मुख भी उसी प्रकार की समस्यायें हैं। भारत भी अपनी समस्याओं के हल करने में जुटा हुआ है। बहुत दूर तक भारत सफलता के पथ पर है। भारत के नेताओं ने भारत को सुसंगठित कर लिया है, सुव्यवस्थित कर दिया है और अन्न की समस्या को हल करने में वह इस समय अपनी समस्त शक्तियों को लगा रहा है। आशा है निकट भविष्य में भारत इसमें सफल हो जायेगा।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. भूमिका।

२. राजनीति और धर्म तथा पाकिस्तान के मूल की भावनायें।

३. भारत और पाकिस्तान का विभाजन, धार्मिक मतभेद, सामाजिक मतभेद।

४. राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों पर विभाजन का प्रभाव।

५. उपसंहार—दोनों का भविष्य।

कुछ राजनैतिक निबन्धों की रूप-रेखायें

मार्शल—योजना

१. मार्शल योजना (European Recovery Plan) की प्रस्तावना ५ जून सन् १९४७ को राज्य सचिव जार्ज मार्शल ने दर्सा

थी। यह संसार की बहुत बड़ी आर्थिक योजना है।

२. गत महायुद्ध में योरोपीय देशों की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाने पर इस योजना की आवश्यकता हुई, आर्थिक स्थिति बिगड़े हुए देशों में सुधार तथा उन्हें अपने प्रभाव में रखने के लिये अमरीका ने यह योजना बनाई थी।

३. प्रारम्भ में आर्थिक सहायता लेने वाले देशों की संख्या १६ थी। पैरिस में एक सम्मेलन हुआ जिसमें एक जांच कमेटी बनाई गई।

४. अमरीका ने डा० एडविन सी० नूर्स के सभापतित्व में एक आर्थिक विशेषज्ञों की एक कमेटी बनाई और उससे इस विषय पर परामर्श किया।

५. एक समिति अमरीका के नागरिकों की बनाई गई और अमरीका के उधार देने की शक्ति की जाँच पड़ताल की गई। इस समय माँग ८०० करोड़ डालर की थी।

६. १९४८ में यह योजना प्रारम्भ हुई और अनुमान लगाया कि इस योजना के पूर्ण होने में चार वर्ष लगेंगे।

७. ३० जून १९४८ को अमरीका काँग्रेस के सम्मुख राष्ट्रपति ट्रूमैन ने योजना को रखा। १७०० करोड़ डालर सवा चार वर्ष में देने की यह योजना थी जिसका रिपब्लिकन पार्टी ने विरोध किया और बहुमत से यह राशि आधी कर दी गई।

८. इसके पश्चात् काँग्रेस और सीनेट के संयुक्त गृह में यह राशि पूरी की पूरी पास हो गई और इसकी पहली किस्त ५७५ करोड़ डालर नियत हुई।

९. तब से यह योजना चल रही है और इसका योरोप ही नहीं विश्व की राजनीति पर बहुत गहरा प्रभाव है। आज जो देश अमरीका के साथ सहयोग नहीं दें उनकी यह सहायता समाप्त हो जायेगी और इसके समाप्त होने पर उनके सभी आर्थिक कार्य-क्रम समाप्त हो जायेंगे। इससे उन्हें अमरीका के पीछे-पीछे चलना होता है।

मुद्रा प्रसार और मंहगाई

१. युद्ध काल में लोगों का सरकार पर से विश्वास उठा, सरकार ने अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए मनमाने नोट छापे और फलस्वरूप मुद्रा प्रसार के कारण चीज़ों के मूल्य बढ़ने प्रारम्भ हो गये।

२. जनता मुद्रा प्रसार का जैसा जैसा अनुमान लगाती गई वैसे वैसे चीज़ों के मूल्य बढ़ने लगे और वैसे वैसे ही रुपये का मूल्य गिरता गया।

३. लोगों का विश्वास था कि यह सरकार बहुत शीघ्र इस मुद्रा प्रसार को रोककर चीज़ों की कीमत को घटा देगी परन्तु ऐसा नहीं हुआ। मुद्रा प्रसार तो कम अवश्य दृष्टिगोचर होता है परन्तु मँहगाई ज्यों की त्यों है और यह दशा पहले की अपेक्षा भी अधिक कठिन हो गई है।

४. मुद्रा प्रसार के क्षेत्र में यह दशा(Inflation) की है और मंहगाई क्षेत्र में अनियन्त्रित दर व्यवस्था की। मूल्यों पर नियन्त्रण कभी कभी दर को ऊंचा ले जाता है और बाजारों में वस्तु का मिलना ही कठिन हो जाता है, जिसके फलस्वरूप काला बाज़ार चलता है और जनता को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी काले बाज़ार की शरण में जाना होता है।

५. यह मुद्राप्रसार आकस्मिक नहीं था बल्कि थोड़ा अधिक संसार के सभी देशों में हुआ था। युद्ध और युद्ध के पश्चात् निर्माण कार्य में सरकार अपना खर्चा बढ़ जाने पर मुद्राप्रसार की शरण लेती है।

६. १९१४ के महायुद्ध में जर्मनी में २ लाख मार्क की रोटी बिकी। गत महायुद्ध में मुद्राप्रसार का सबसे अधिक प्रभाव चीन में पड़ा। साठ साठ लाख डालर में एक जोड़ा जूते बिके।

७. गत महायुद्ध से पूर्व भारत में २ अरब पचास करोड़ रुपये की मुद्रा थी। युद्ध के अन्त में २५ अरब ३५ करोड़ रुपये की हो गई। युद्ध काल में भारत से अंगरेज़ों ने अपना ८ अरब रुपये का ऋण वसूल कर लिया और ७ अरब का अपने पर उधार चढ़ा लिया। यह सात अरब भी अब सरकार को व्यापारियों को नया मुद्राप्रसार करके ही देना पड़ा।

८. मुद्रा अवमूल्यन से वैतनिक कर्मचारी वेतन बढ़ाने की माँग करते हैं। किसानों ने अपने मूल्य बढ़ा दिये और हर वस्तु के दाम बढ़ गये। देश में इसके कारण अशांति है क्योंकि मंहगाई से कोई भी प्रसन्न नहीं रहता।

९. मुद्रा प्रसार के साथ साथ उत्पादन नहीं बढ़ा, यही अशाँति का मूल कारण है। देश का विभाजन, देश के हड़ताल कराने वाले नेता और उत्पादन की सभी बाधाएं आज देश के उन्नति-मार्ग में बाधक हैं।

१०. अन्य वस्तुओं का मूल्य अन्न के मूल्य पर आधारित है। गतवर्ष १०८ करोड़ रुपये का अन्न बाहर से आया। इस वर्ष १५० करोड़ रुपये का का अन्न बाहर से आयेगा। यह परिस्थति मुद्रा प्रसार और मंहगाई में सहायक ही है।

११. आज की परिस्थिति में सरकार की पूंजीवाद-विरोधी नीति उत्पदन में बाधक है और उसके कारण मंहगाई तथा मुद्रा प्रसार को भी प्रश्रय मिल रहा है परन्तु संसार के राजनैतिक गति चक्र के सम्मुख उसे भुलाकर चला भी नहीं सकता है। आज उत्पादन बढ़ाने से ही मंहगाई और मुद्रा प्रसार कम हो सकता है, अन्य किसी साधन द्वार। नहीं।

स्वतंत्र भारत का संविधान

१. २६ जनवरी १९५० को भारत का नवीन संविधान लागू हुआ

जिसके अनुसार भारत धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र है और इस संविधान में सब लोगों के समान अधिकार हैं।

२. यह संविधान भारत के सब प्राँतों, रियासतों तथा कुर्ग, अंडेमान और नीकोबार द्वीप पर लागू होता है।

३. भारत की संसद को कानून बना कर किसी राज्य का क्षेत्रफल बढ़ाने अथवा घटाने का अधिकार है।

४. प्रत्येक व्यक्ति जिसका भारत में जन्म हुआ है या उसके माता पिता भारत-निवासी हैं भारत का नागरिक है। बर्मा, मलाया और लंका के हिन्दुस्तानी जिन्होंने वहाँ नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं किए हुये हैं भारत के नागरिक हो सकते हैं। पाकिस्तान से आये हुये शरणार्थी भी भारत के नागरिक गिने जाएंगे।

५. यह संविधान समता, धार्मिक स्वतन्त्रता, सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार का हामी है। न्याय सब की रक्षा करेगा, कोई दास नहीं होगा, सरकारी नौकरियों में कोई भेद भाव नहीं होगा, बच्चों को खानों और कारखानों में नौकर नहीं रखा जाएगा।

६. संविधान की शासन प्रणाली में एक राष्ट्र का प्रधान होगा और दूसरी राजकीय परिषद् (कौंसिल आफ़ स्टेट) इसमें २५० सदस्य होंगे। इनमें से १५ प्रधान नियुक्त करेगा और शेष निर्वाचित होंगे। तीसरा जनतागृह होगा जिसमें ५०० सदस्य होंगे जो सीधे मतदाता चुनेंगे।

७. २१ वर्ष का प्रत्येक नर नारी मत देने का अधिकारी होगा।

८. प्रधान का चुनाव राजकीय परिषद्, जनता गृह और प्रांतों की धारा सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा होगा। हमारे वर्तमान प्रधान डा० राजेन्द्र प्रसाद हैं। प्रधान की एक बार की

अवधि ५ वर्ष है। वही प्रधान दुबारा भी चुना जा सकता है परन्तु तिबारा नहीं।

६. प्रधान को संकट कालीन अधिकार प्राप्त हैं। वह युद्ध अथवा आंतरिक अशांति में ६ महीने के लिए विशेष आज्ञा (Ordinance) का प्रयोग कर सकता है। वैधानिक शासन टूट जाने पर सब अधिकार प्रधान को प्राप्त हो जाते हैं।

१०. शासन मंत्रिमंडल द्वारा होगा और मंत्रिमण्डल का नेता प्रधान मंत्री कहलाएगा। प्रधान मंत्री का चुनाव राष्ट्र का प्रधान करता है और अन्य मंत्रियों का चुनाव प्रधान मन्त्री की सहायता से होता है। हमारे वर्तमान प्रधान मंत्री पं० जवाहर लाल नेहरु हैं। मंत्रिमण्डल का उत्तरदायित्व संसद में सामूहिक होगा और मंत्रिमण्डल उसी समय तक कार्य करेगा जब तक प्रधान की इच्छा होगी।

११. प्रधान कानून सम्बन्धी सलाह के लिए एटोर्नी जनरल और अर्थ सम्बन्धी सलाह के लिये आडीटर जनरल नियुक्त कर सकता है।

१२. उपप्रधान राजकीय परिषद् का प्रधान होगा और राजकीय परिषद् कभी भंग नहीं होगी बल्कि दो दो वर्ष बाद इसके एक तिहाई सदस्य स्वयं स्थान रिक्त कर देंगे।

१३. जनतागृह की अवधि पाँच वर्ष है और उसके पश्चात् फिर नया चुनाव होगा। बजट जनता गृह में ही पेश होगा राजकीय परिषद् में नहीं।

१४. संघ का एक सर्वोच्च न्यायालय होगा जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश और सात न्यायाधीश होंगे। यह सीधे अभियोग न लेकर अपीलों पर विचार करेगा। न्यायाधीश की अवधि ६५ वर्ष आयु तक है।

१५. गवर्नर की अवधि ५ वर्ष होगी। यह दुबारा भी चुना जा सकता है परन्तु तिबारा नहीं। इसका चुनाव भी जनरल एलेक्शन के समय ही होगा। राज्य की धारासभा के भेजे हुये चार नामों में से प्रधान किसी भी एक को नियुक्त कर सकता है। राष्ट्र के प्रधान और मुख्य न्यायाधीश के वेतन ५५००) और गवर्नर तथा न्यायाधीशों के ४५००) रुपये मासिक होंगे।

१६. गवर्नर के अधिकार अपने राज्य में प्रधान से मिलते-जुलते ही होंगे। वह भी आवश्यकता पड़ने पर छै महीने के लिए विशेष आज्ञा (Ordinance) का प्रयोग कर सकता है।

१७. राज्य का शासन मंत्रिमण्डल द्वारा होगा और प्रधान मन्त्री मुख्य मन्त्री कहलायेगा। यह मंत्री गवर्नर द्वारा चुना जायेगा और अन्य सब मन्त्री मुख्य मन्त्री की सलाह से चुने जायेंगे।

१८. पिछड़ी हुई जातियों के हितों के संरक्षण के लिये बिहार, उड़ीसा और मध्यप्राँत में एक एक अतिरिक्त मन्त्री रखने का विधान है।

१९. प्रत्येक राज्य में एक व्यवस्थापिका सभा होगी जिसके सदस्यों का चुनाव मतदाताओं द्वारा होगा। इनके सदस्यों की संख्या ६० से ३०० तक है।

२०. कहीं कहीं पर राज्यों में व्यवस्थापिका परिषद् का भी विधान है। इसकी संख्या व्यवस्थापिका सभा से चौथाई होगी। बजट यहाँ पर भी व्यवस्थापिका सभा में ही रखा जायेगा।

२१. दिल्ली, अजमेर मारवाड़, कुर्ग अंडेमान, निकोबार इत्यादि का शासन सीधे राष्ट्र के प्रधान अथवा उनके अधिकारियों द्वारा होगा। वहाँ पर चीफ़ कमिश्नर अथवा गवर्नर नियुक्त किये जायेंगे।

२२. अल्पसंख्यकों के संरक्षण की सिद्धाँत रूप से आवश्यकता नहीं समझी गई। परन्तु संविधान लागू होने के १० वर्ष तक सरकारी नौकरियों में उनका अधिकार उनकी जन गणना के अनुसार होगा।

२३. इस प्रकार इस संविधान के अनुसार मुसलमानों, हरिजनों और परिगणित जातियों के लिये नौकरियों में स्थान पहिले से रिजर्व होंगे। बम्बई तथा मद्रास प्रांत में भारतीय ईसाईयों को भी यही विशेष सुविधा दी गई है।

२४. केन्द्र तथा राज्यों में पृथक् पृथक् पब्लिक सर्विस कमीशन होगा यह नौकरियों पर आने वाले उम्मीदवारों की परीक्षा लेंगे।

२५. संविधान में कोई परिवर्तन केवल उस समय हो सकता है जब केन्द्र के दोनों गृहों के दो तिहाई सदस्य और प्रधान सहमत हों।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की आवश्यकता

१. संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organisation) गत महायुद्ध की प्रतिक्रिया का वही रूप है जो League of Nations १९१४ वाले महायुद्ध की प्रतिक्रिया का रूप था संघर्ष के विनाश से बचने के लिये यह प्रयास है परन्तु मानव की स्वार्थ लिप्सा कहाँ तक इसे फलीभूत कर पायेगी यह प्रश्न विचारणीय है।

२. League of Nations की स्थापना इस दृढ़ निश्चय को लेकर हुई थी कि अब विश्व में युद्ध न होगा परन्तु विश्व ने हिटलर को जन्म देकर उस आशा पर पानी फेर दिया। इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इस प्रकार के प्रयास समय समय पर होते रहे हैं और कुछ समय के लिये मानव को उन प्रयासों ने संघर्ष से मुक्त भी रखा है परन्तु वह स्थाई नहीं बन सके। इसका

मूल कारण यही है कि मानव भी स्थाई नहीं है।

३. वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ का विधान पत्र (Charter) सॉन फ्रांसिसको में जून १६४५ के पश्चात् ५० राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने प्रकाशित किया था। १० जनवरी १६४६ को इसकी प्रथम बैठक लन्दन में हुई जिसमें जनेवा में इसका प्रधान कार्यालय रखना निश्चित हुआ और यह भी पास हुआ कि इसमें तटस्थ अथवा शत्रु देशों को न मिलाया जायेगा।

४. संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान ध्येय समस्त देशों में शांति स्थापित करना तथा उनकी आर्थिक स्थिति पर नियंत्रण रखना है। संघ के यह प्रधान उद्देश्य हैं (१) सब के मानवीय अधिकारों की सुरक्षा तथा उनके प्राप्त करने में सहयोग देना—जाति और रंग के भेद भावों का समूल नाश करना (२) मानव का स्तर ऊंचा करके उस की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं की देख भाल करना। (३) संकट पैदा करने वाली परिस्थितियों को सुलझाना और विभिन्न राष्ट्रों में मित्र भाव बनाये रखना (४) पराधीनता और निर्बल देशों का संरक्षण करना। इस प्रकार संसार की आर्थिक सामाजिक, साँस्कृतिक, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा शांति का निरीक्षण तथा आपसी प्रेम भाव को बढ़ाना इस संघ का कार्यक्षेत्र है।

५. संघ की सुरक्षा परिषद् के १२ सदस्य हैं जिनकी पहिली बैठक १५ मार्च १६४६ को न्यूयार्क में हुई थी।

६. इस संघ के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय न्यायालय है जो संघ के सदस्यों के विवादग्रस्त मामलों का निर्णय करता है। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधीशों की संख्या १५ होती है।

७. आर्थिक सामाजिक और विज्ञान विभाग की देख भाल करने वाली सभा के १८ सदस्य हैं।

८. भारत के दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सम्मुख अब तक दक्षिणी अफ्रीका और काश्मीर के महत्व पूर्ण प्रश्न आये हैं परन्तु दोनों को अभी तक सुलझाने में वह असमर्थ रहा है।

९. इनके अतिरिक्त फिलिस्तीन, इन्डोनेशिया, बर्लिन की समस्या, चीन का प्रश्न भी आया और आज कोरिया का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है।

१०. संघ की स्थापना बहुत महत्वपूर्ण उद्देश्यों को लेकर की गई है। लोक-हित और विश्वशांति की भावनायें इसके उद्देश्यों के प्रधान तत्व हैं।

११. आज संसार की शक्ति का सन्तुलन दो प्रधान शक्तियों के बीच हो रहा है। अंतर्राष्ट्रीय संघ दो विचार धाराओं के लड़ने का अखाड़ा बनाया हुआ है। यह अखाड़ा बनाने की भावना संघ के लिये घातक है। यदि इस भावना का अन्त न हुआ तो संघ का भविष्य आशा जनक नहीं है।

अटलांटिक-संधि

१. इङ्गलैंड अमेरिका तथा रूस का गत युद्ध में मेल जर्मनी, इटली तथा जापानी फासिस्टों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के लिये हुआ था।

२. युद्ध समाप्त होने पर इनमें इतना खिंचाव हुआ कि योरोपियन देशों ने एङ्गलो अमरीकन ग्रुप के प्रभाव में आकर एटलांटिक तट पर बसने वाले नौ देशों ने आपस में एक पैक्ट किया। यह पैक्ट स्पष्ट रूप से रूस के विरुद्ध था। और इसमें यह निर्णय हुआ कि यदि इन देशोंमें से किसी पर भी बाहर का आक्रमण हुआ तो उस आक्रमण का संयुक्त मोर्चे द्वारा सामना किया जायेगा।

३. इङ्गलैंड, अमरीका, फ्रांस, हालैंड, कनैडा, बैलजियम, लक्सम्बर्ग, डैनमार्क और नार्वे ने इस एटलांटिक पैक्ट पर हस्ताक्षर किये और

आगामी युद्ध-भय के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाया।

४. इन सब देशों की जनसंख्या लगभग २५ करोड़ और क्षेत्रफल ७० लाख वर्ग मील है। यह संधि बीस वर्ष के लिये हुई थी।

५. यह सन्धि संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र के आधीन अवश्य की गई है परन्तु इसका उद्देश्य रूस की शक्ति को रोकना और ऐंग्लो-अमरीकन गुटबन्दी को कायम रखना है।

६. रूस ने नार्वे के साथ अनाक्रमण सन्धि करने और ऐंग्लो-अमरीकन गुट में शामिल न होने के लिये कहा परन्तु नार्वे ने उसे न मान कर एटलांटिक पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिये।

७. नार्वे और डैनमार्क बाल्टिक सागर के द्वार पर दोनों ओर स्थित होने के कारण और उनके इस सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर कर देने के कारण रूस के लिये खतरा पैदा होगया।

८. इङ्गलैंड तथा अमरीका अवसर पड़ने पर इन देशों को युद्ध सामग्री तथा आर्थिक सहायता देंगे यह भी इस सन्धि द्वारा निश्चय हुआ था।

९. इस प्रकार इस सन्धि द्वारा रूस और ऐंग्लो अमरीकन दो प्रत्यक्ष दल बन गये।

काश्मीर की समस्या

१. भारत का विभाजन होते ही हैदराबाद और काश्मीर के अतिरिक्त अन्य सब रियासतें भारत अथवा पाकिस्तान में मिल गईं। पाकिस्तान ने अवसर पाकर कबायलियों को काश्मीर में घुसा दिया। ऐसी परिस्थिति में काश्मीर के राजा और जनता ने भारत के प्रधान मन्त्री से काश्मीर को भारत में सम्मलित करने और आक्रमणकारियों के विरुद्ध सहायता माँगी।

२. भारत ने यह प्रार्थना स्वीकार करके काश्मीर को पतन से बचा लिया और भारत और पाकिस्तान के युद्ध को रोकने के लिये

शुरू जनवरी १९४८ में यह मामला संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मुख रख दिया।

३. आज तीन वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी संयुक्त राष्ट्रसंघ इस समस्या का समुचित हल नहीं निकाल सका है। सर ओवन-डिक्सन मध्यस्थ बन कर भी आये परन्तु समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। कोई हल नहीं निकला।

४. इस समस्या के विषय में संयुक्त राष्ट्रसंघ की उदासीनता क्या है यह नहीं कहा जा सकता। जो संघ कोरिया में तुरन्त सेनायें भेज सकता है वह तीन वर्ष से बराबर इस महत्वपूर्ण मामले को खटाई में क्यों डालता जा रहा है।

५. इस समस्या को पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के मन्त्री आपस में ईमानदारी से सुलझा सकते हैं।

६. अन्त में यह कहना असत्य न होगा कि यदि बड़े राष्ट्रों ने इस समस्या को महत्व न दिया तो यह विस्फोट सिद्ध हो सकता है। काश्मीर की सीमा चीन, रूस, पाकिस्तान और अफ़गानिस्तान से मिली है, इसलिये भारत के लिये यह महत्व पूर्ण रियासत है जिसे भारत खो ही नहीं सकता। महत्व इसका पाकिस्तान के लिये भी कम नहीं है इसलिये यह समझते हुए भी कि पाकिस्तान सिद्धाँत रूप से ग़लती पर है काश्मीर के प्रलोभन को छोड़ नहीं पा रहा है।

७. काश्मीर की समस्या का शाँतिपूर्वक सुलझ जाना इस समय भारत और पाकिस्तान दोनों के लिये हितकर है अन्यथा यह झगड़ा बढ़ जाने पर विश्व शाँति के लिये भी ख़तरा पैदा हो सकता है।

हिन्दू कोड बिल

१. हिन्दू कानून (Hindu Law) में आज के युग की आवश्यकताओं के अनुसार क्या परिवर्तन या सुधार होना चाहिये इसके

लिये श्री राऊ के प्रतिनिधित्व में १५ सदस्यों की समिति बैठी और इस समिति ने देश भर की प्रमुख हिंदू संस्थाओं की विचार धाराओं के आधार पर जो रिपोर्ट तय्यार की उसका नाम हिन्दू कोड बिल है।

२. विवाह, तलाक, दत्तक-अधिकार, उत्तराधिकार, सम्पत्ति-वितरण, स्त्रीधन, संयुक्त परिवार इत्यादि हिन्दुओं की समस्याओं पर विस्तार के साथ इस बिल में विचार किया गया है।

३. इस बिल का प्रगतिशील व्यक्तियों ने स्वागत तथा रूढ़िवादी प्राचीन विचारावलम्बियों ने विरोध किया है।

४. इस बिल के अनुसार एक पुरुष एक स्त्री रख सकता है। विधवा को उत्तराधिकार प्राप्त होंगे। दत्तक पुत्रों से सम्बन्ध रखने वाली अनेकों विचारणीय धारायें बिल में हैं। यह इस बिल के प्रधान गुण हैं।

५. इस बिल का जिन दोषों के कारण विरोध हुआ है वह हैं (१) हिंदू संस्कृति तथा सभ्यता का इस बिल में समुचित ध्यान नहीं रखा गया (२) इस बिल के निर्माताओं के जीवन पर पश्चिमी सभ्यता की छाप होने के कारण भारतीयता का बिल में अभाव है। (३) भारतीय सरकार को धर्म-निरपेक्ष होने के नाते केवल हिंदू धर्म के लिये कोई बिल नहीं बनाना चाहिये। इस सरकार को चाहिये की वह जो भी बिल पास करे वह भारत की सम्पूर्ण जनता पर लागू हों।

६. जिन कारणों पर पुरुष स्त्री को अथवा स्त्री पुरुष को तलाक दे सकते हैं वह हैं (१) विवाह के समय किसी एक पक्ष का नपुंसक होना (२) किसी एक पक्ष का दुराचारी होना (३) किसी एक पक्ष का हिन्दू धर्म त्याग देना (४) किसी का पागल अथवा असाध्य रोग-ग्रस्त होना —यह सब होते हुए भी पुरुष को स्त्री को

तलाक देने का अधिकार देना बिल की हर दशा में सदोषता है। ऐसी परिस्थिति में सर्वदा यही होगा कि पुरुष अपने दोषों को स्त्री पर लाद कर उसे तलाक देगा और उसके जीवन को नष्ट कर डालेगा।

७. स्त्री को पिता या पति से जो सम्पत्ति का अधिकार मिलेगा उससे जायदाद खंड-खंड होकर हिन्दू जाति के निर्धन होने का कारण बनेगी। मुसलमानों में निर्धनता होने का एक यह भी कारण है। इससे भाई और बहनों का पारस्परिक प्रेम समाप्त हो जायेगा। लड़कियों के सम्बन्ध लेते समय इस बात की खोज होने लगेगी कि उसके नाम पर कितनी सम्पत्ति है। यह हिन्दू समाज के लिये हानि कारक ही सिद्ध होगा।

८. बिल में कई सुधार होने की आवश्यकता है। बिना सुधार किये ज्यों का त्यों बिल को पास कर देने से यह हिन्दू समाज के लिये हानिकारक सिद्ध होगा। श्री पी० एस० देशमुख अपने विरोध में कहते हैं, "भारतीय जीवन की वास्तविकता और प्रस्तावित सुधारों की व्यावहारिकता का विचार किये बिना ही हिन्दू भावनाओं को इस प्रकार ठेस पहुँचाना बुद्धिमानी नहीं है।"

फुटकर निबन्ध

क्रांति के कारण और शांति के उपाय

इच्छाओं की अपूर्ति आवश्यकता और प्रलोभन में विश्व की शांति और अशांति का रहस्य छुपा हुआ है। आज के वैज्ञानिक युग ने मानव को आश्चर्य चकित करके उसकी आवश्यकताओं को बढ़ा दिया है। उन्हीं आवश्यकताओं की वृद्धि और उनकी भरसक पूर्ति न होने में आज के मानव की अशांति निहित है। यातायात के साधनों की वृद्धि और मृत्यु से लड़ने के लिये नवीनतम डाक्टरी औषधियां और अनेकों डाक्टरी उपायों के होने पर भी मानव को शांति नहीं, उद्विग्नता है, हर समय परेशानी है, चिंता है, यह सब फिर क्यों? अब हमें उन अशांति के कारणों को खोज निकालना है और उन पर विचार करना है कि जिनके कारण विश्व में क्रांति के कारण उपस्थित हो जाते हैं और उथल-पुथल का वातावरण बन जाता है।

असंतुलन—मानव की मूल समस्याओं का जन्म असंतुलन से होता है। यदि हम विश्व साहित्य पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि गत युगों में भी जितने संघर्ष, जितने महायुद्ध और जितनी क्रांतियां हुई हैं उन सब के मूल में असंतुलन-विषयी भावना निहित है। असंतुलन मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी क्षेत्रों में हो सकता है और मानव जीवन के सभी क्षेत्रों के असंतुलन का विश्व शांति अथवा क्रांति के मूल तत्वों पर प्रभाव पड़ता है। आइये पहिले आर्थिक असंतुलन पर विचार करें। वैज्ञानिक मशीनों का आविष्कार

उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। मशीनें पहिले कोयले से चलीं और फिर विद्युत द्वारा चलने वाली मशीनों की ओर विज्ञान की प्रगति हुई। इस मशीनों के युग ने हाथ की दस्तकारी और छोटे उत्पादन के प्रयोगों और साधनों को नमस्कार कर दिया। सभी उद्योग-धंधे तीव्र गति से चलने वाली मशीनों को सौंप दिये गये और मानव दिन प्रति-दिन शक्ति को केन्द्रित करने की ओर चल पड़ा। ऐसे युग में कुछ व्यक्तियों ने मशीनों को अपनी पूंजी के बल से अपने वश में कर लिया और उत्पादन के स्वामी बन बैठे। यहां से पूंजीपति वर्ग का उदय हुआ और समाज में असंतुलन आने लगा। इस वर्ग ने सर्व प्रथम संसार के व्यवसाय पर हाथ रखा, उसे अपने अधिकार में किया, फिर विश्व की आर्थिक-समस्याओं पर अधिकार जमाया और फिर अन्त में यह राजनीति के क्षेत्र में उतर पड़े। व्यापार के नाम पर साम्राज्य के साम्राज्य ही स्थापित होते चले गये। राष्ट्रीयता का नवीन दृष्टिकोण यह जनता के सामने लाये और अपने माल की खपत के लिये नये-नये बाज़ारों की खोज में निकल पड़े। अपनी आवश्यकता से अधिक माल तय्यार होने पर विदेशों पर अधिकार करने का प्रश्न उपस्थित हुआ और राजनीति में जो देश दुर्बल थे वह इनके शिकार बनने प्रारम्भ हो गये। छोटे-मोटे देशों को सभ्य बनाने के दावों में ही हड़प कर लिया। भारत जैसे देश पराधीन हो गये। राजनैतिक दृष्टि से देशों को पंगु बना कर उन्हें अपने माल की खपत के लिये बाज़ार बना लिया। दास-देशों के उद्योग-धंधे ठप्प करके अपने उद्योग-धंधों द्वारा तय्यार किये गये माल का उन क्षेत्रों में प्रचार किया गया और हाथ से बनी वस्तुओं की अपेक्षा सस्ती चीजें देने के प्रलोभन में जनता को फंसा लिया। इस प्रकार मानव द्वारा मानव का शोषण होने लगा और साम्राज्यों की स्थापना इन्हीं व्यापारिक कारणों से होने लगी। छोटे राष्ट्र बड़े राष्ट्रों के दास बने और संसार भर बाज़ारों

तथा उपनिवेशों के लिये प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई जिसके कारण अशांति और क्रांति के कारण आप से आप उत्पन्न होने लगे। उस युग में जो राष्ट्र बाज़ारों और उपनिवेशों के स्थापित करने में पीछे रह गये वह कमज़ोर होगये और जिन्होंने जितने अधिक क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया वह संसार में उतनी ही उन्नति कर गये। इसका फल हुआ निरंतर युद्ध और क्रांतियाँ। यह युद्ध और क्रांतियां कई देशों में हुईं। एक देश में हुई और विश्वभर में व्यापक हो गई। इस प्रकार मशीनों की वृद्धि ने जहाँ अधिक उत्पादन को प्रोत्साहन दिया वहां पराधीनता, युद्ध की दानवी मनोवृत्तियों, प्रतिस्पर्धा, पूंजीवादिता की क्षुद्र राष्ट्रीयता को जन्म देकर मानव जीवन में अशांति का बीज़ारोपण कर दिया इस प्रकार मशीनों के आविष्कार ने औपनिवेशिक संघर्ष को जन्म दिया, पूंजीवाद और मार्क्सवाद को जन्म दिया और दासत्व और पराधीनता की भावना को जन्म दिया। मानव और देशों में से स्वावलम्बन नष्ट हो गई। इसने विविध वर्गों के पारस्परिक संघर्ष को जन्म दिया जिससे मानव जीवन दिन प्रति दिन अशांत होता जा रहा है।

आज धार्मिक अशाँति का युग नहीं रहा (कुछ पिछड़े हुए देशों में कभी कभी धार्मिक अशाँति की चिंगारी भी दहक उठती है परन्तु कम) एकतन्त्रवाद (Dictatorship) का भी समय निकल चुका है और आज युग आ गया है प्रजातन्त्र और कम्यूनिज़्म की टक्कर का समय और परिस्थितियाँ बतलाएंगी कि इनमें कौन शाँति की ओर और कौन अशाँति की ओर अग्रसर है इस विषय पर संघर्ष चल रहा है। यह वर्गों का संघर्ष मानव जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखता है इसलिये मानव किसी भी परिस्थिति में उसे भुला कर नहीं चल सकता। इस प्रकार हमने देखा कि यह वर्गीय असन्तुलन मानव जीवन में निहित अशाँति का आज प्रधान कारण है।

आज मानव अध्यात्मवाद से भौतिकवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है। आज की सभ्यता अर्थ-प्रधान बनती जा रही है। मानव जीवन की बाहरी आवश्यकातायें ही उसके लिये सब कुछ हैं। आत्मा परमात्मा के प्रश्नों पर विचार करने का उसके पास समय नहीं। मानव में हृदय-पक्ष का अभाव और बुद्धि पक्ष का प्राबल्य होता जा रहा है आज 'हाय पेट हाय पेट' के नारे लगाने पर भी वह खाली का खाली दिखाई दे रहा है। मानवता नैतिक और आर्थिक संघर्ष के पैरों तले कुचली जा रही है। जीवन के साधनों की कमी और उनका बंटवारा असन्तुलित है। मानव के प्रत्येक क्षेत्र में छीना-झपटी का साम्राज्य है, फिर भला शांति कहाँ? आज अविश्वास और धोखे की नौका में बैठ कर मानव संसार-सागर में अपनी नौका खे रहा है। मानव लक्ष्य-विहीन है, ध्येय-विहीन है, वह आँख मींचकर बस चलता चला जा रहा है। आज मानव-जीवन में सत्य, तप, सात्विकता, दया, सन्तोष, और कोमलता के स्थान पर आते जा रहे हैं छल छिद्र, धोखा, असंतोष कठोरता और स्वार्थ-लिप्सा। आत्मतत्व को भुलाकर आज मानव जिस पतन की ओर जा रहा है वह मानव जीवन में शाँति का संचार करने वाला नहीं। इस वैज्ञानिक युग में विश्व की शक्तियों का उद्-घाटन तो अवश्य हुआ परन्तु जीवन में अश्रद्धा और अशाँति ने जन्म ले लिया। अश्रद्धा और अशाँति क्राँति के मूलतत्व हैं और इनका बीजारोपण आज मानव समाज में पूरे रूप से हो चुका है।

भारत विज्ञान से प्रभावित अवश्य हुआ है परन्तु आज भी भारत में रूढिवाद या पुराणवाद का निताँत लोप नहीं हो गया है। आज भी भारत में प्राचीनता के पीछे आँख मींच कर चलने वालों की कमी नहीं है। समाज और धर्म के प्रतिबन्धों के सम्मुख अभीतक क्रियात्मिकरूप में वैज्ञानिक सिद्धियाँ फलीभूत नहीं हो पाई हैं। मानव मानव समान है, वर्ग व्यवस्था कृत्रिम है। यह वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया परन्तु भारत में समाज और धर्म के नाम पर वर्ग अभी तक ज्यों के त्यों

वर्तमान हैं। आज के वैज्ञानिक युग में धर्म के ठेकेदारों का महत्व कुछ कम अवश्य हो गया है परन्तु कठिन परिस्थतियों में ऊभकर वह भी बवण्डर पैदा कर डालते हैं। भारत विभाजन के समय भारत और पाकिस्तान में क्या कुछ नहीं हुआ धर्म के नाम पर ? आज के विज्ञान ने एक दूसरे की आवश्यताओं को एक दूसरे के हाथों में रखकर दोनों को एक स्थान पर लाने का प्रयत्न किया है। धर्म मानव की इस स्वाभाविक भावना के बीच में बाधक बनता है और समाज के क्षेत्र में उतर कर ऐसे प्रतिबन्ध उपस्थित कर देता है कि मानव की प्रगति रुक कर अशांतिमूलक बनने लगती है। आज के वैज्ञानिक युग में भी निरक्षरता का प्रभाव संसार पर पर्याप्त और उसी के कारण धर्म के नाम पर अन्धविश्वास के विरुद्ध भी बलवती भावना जनता में जन्म लेकर विश्व पर आच्छादित होने का स्वप्न देख रही है और उसे टक्कर लेनी होती है प्राचीन रूढ़िवाद से। इस टक्कर के फलस्वरूप भी अनेकों कारण उत्पन्न हो जाते हैं और देश विदेशों में कभी कभी उसकी चिनगारियाँ दिखाई देने लगती हैं। जीवन में आध्यत्मिक तत्वों का नितान्त लोप होने पर भी धर्म का पल्ला जकड़ कर पकड़ने की प्रणाली और असन्तोष और निर्बल अहंकार की भावना को प्रोत्साहन दिया है। यह भी मानव समाज के अहित की ही भावना है जिसमें शाँति का अभाव है।

इस प्रकार हमारे सम्मुख वर्तमान मानव अशान्ति के तीन प्रधान कारण आते हैं। सर्व प्रथम असन्तुलन जिसके अंतर्गत हम धार्मिक असन्तुलन, सामाजिक असन्तुलन और राजनैतिक असंतुलन तीनों को ही ले सकते हैं। तीनों ही विषमताओं के कारण समभाव न रहने से संघर्ष और अशाँति का सूत्रपात होता है। जब एक भूखा मरता है और दूसरे को वह ऐश करते देखता है तो स्वाभाविक रूप से उसके हृदय में स्पर्द्धा का जन्म होता है और वह अशांति की ओर

अग्रसर हो जाता है। आज केवल भाग्य के नाम पर पड़े पड़े भूखे मरने का युग समाप्त हो चुका। यातायात के तीव्र प्रयोग के कारण संसार एक गृहस्थ सा बन गया है। एक ही गृहस्थ में दो प्रकार के आदमी नहीं रह सकते। एक भूखा रहे और दूसरा दूध घी पीये, खाये यह नहीं चल सकता और जिस घर में यह दो भाव हो जाते हैं वहाँ अशांति उत्पन्न हो जाती है। वर्गव्यवस्था पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। मशीनों के युग में पूंजीपति वर्ग का जन्म हुआ है और इस वर्ग ने मज़दूर वर्ग का शोषण किया है। आज का मज़दूर वर्ग जागरूक हो चुका है। वह संघर्ष के लिये पूर्ण रूप से उद्यत है और वह पूंजीपति के साथ किसी भी प्रकार सहयोग करने को उद्यत नहीं। वह जब भी पूंजीपति को कठिन परिस्थिति में देखता है उसी समय अपना हड़ताल का अस्त्र लेकर संघर्ष-क्षेत्र में कूद पड़ता है और आज के युग में तो उसका बोलबाला है। विश्व की प्रगति मज़दूर के पक्ष में है, पूंजीवाद के पक्ष में नहीं।

आज के युग में फिर से मानव-जीवन में भौतिकवाद के प्रति घृणा और अध्यात्मवाद के प्रति आकर्षण होगा, इसके लक्षण अभी तो कुछ प्रतीत नहीं हो रहे। अध्यात्मवाद का भविष्य अन्धकारपूर्ण ही दिखाई देता है और इस कारणवश कभी तो मानव जीवन में बिना आध्यात्मिक जागरुकता से शाँति का प्रादुर्भाव होगा यह बात कुछ विचित्र सी प्रतीत होती है। कामनाओं के भोग से कभी इच्छा की पूर्ति नहीं होती बल्कि यह नवीन से नवीन रूप में सर्वदा प्रबलतर ही होती जाती है। एक बार मानव जब इच्छाओं की वृद्धि के चरम लक्ष्य पर पहुँचकर भी शाँति प्राप्त न कर सकेगा तो उसे टक्कर लगेगी, उसका स्वप्न भंग होगा और सम्भवतः वह फिर भौतिकवाद की ओर से अध्यात्मवाद की ओर लौटे। उस समय मानव अशाँति के स्थान पर शाँति का स्वप्न देख सकता है।

आज रूढ़िवाद और विज्ञान को मिलकर चलने की आवश्यकता है। जब तक कुछ ऐसे विचारक पैदा नहीं होंगे जो दोनों में समन्वय की भावना को लाकर मानव जाति के कल्याण के लिए एक ऐसा मार्ग निर्धारित न कर दें जिस धरातल पर कि प्रेम-पूर्वक दोनों विचार-धारी शांति का श्वाँस ले सकें उस समय तक विश्व में अशाँति ही अशाँति है। शांति और अशाँति वास्तव में मानव के अपने मन की स्थितियां हैं जो बाह्य कारणों से उदय होती हैं, प्रस्फुटित होती हैं, फैलती हैं और पुष्पित होती हैं। इसलिए आज के युग की शाँति और अशांति के मूल प्रश्न का भी हल मानव हृदय से ही अधिक सम्बन्ध रखता है वैज्ञनिक आविष्कारों से उतना नहीं। एटम बम से सर्वनाश किया जा सकता है सर्वशांति नहीं। सर्व शाँति तभी होगी जब धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में सन्तुलन होगा, जब धार्मिक सहिष्णुता पैदा होगी, जब प्राचीनता और नवीनता में समन्वय होगा और मानव हठ को छोड़कर मानव-शान्ति की ओर अग्रसर होगा।

विषय पर सँक्षिप्त विचार—

१. भूमिका।
२. आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक संतुलन।
३. प्राचीनता और नवीनका की मुठभेड़।
४. मशीन-युग से वर्ग का जन्म और संघर्ष।
५. मानव-जीवन से अध्यात्मवाद का लोप और भौतिकवाद का उदय।
६. उपसंहार।

ज्ञान प्राप्ति के दो प्रधान साधन हैं; एक आत्म-चिंतन और दूसरा बाह्य-साधन। पश्चिमी सभ्यता ने बाह्य साधनों पर बल दिया है और भारतीय सभ्यता ने आत्म-चिंतन पर। आत्म-चिंतन की प्रयोगशाला इसकी आत्मा है इसका मन है। उसी में वह अपने प्रयोग करके प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करता है। एक वैज्ञानिक अपने जिस परीक्षण में वर्षों तक बाह्य-साधनों द्वारा असफल हो सकता है उस परीक्षण का रहस्य एक आत्म-चिंतक एक क्षण में निकाल देता है। पश्चिमी सभ्यता दौड़ी है कोरे रूढ़िवाद के पीछे, मानवता के मूल सिद्धांतों को भूल कर और यहीं इसका पतन है। जो सभ्यता सँघर्ष सिखलाती है, हत्याओं को बढ़ाती है और मानव समाज में प्रेम की भावना को नहीं भरती वह मानव समाज के लिये कभी भी हितकारी सिद्ध नहीं हो सकती। यहाँ हम पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि जब मानव समाज पश्चिमी सभ्यता के घात-प्रतिघातों से तंग आ जायेगा तब उसे भारतीय सभ्यता की ही क्रोड़ में विश्राम मिलेगा। मानव-जाति के अंतिम घावों पर भारतीय सभ्यता को ही मरहम लगाना होगा। भारतीय सभ्यता मानव को संघर्ष की ओर न ले जाकर ले जाती है शाँति की ओर, मंगलमय कामनाओं की ओर, स्वच्छ हृदयता की ओर, पवित्र भावनाओं की ओर मानव-जीवन के व्यापक दृष्टिकोणों की ओर। भारतीय सभ्यता संघर्ष प्रेरित नहीं करती। भारतीय सभ्यता में मानव संसार को अपनी आत्मा में देखता था ना कि अपने को संसार के बीच एक क्षुद्र प्राणी बनाकर। उसका दृष्टिकोण व्यापक होता है, विशाल होता है और उसके अन्दर रहती है सबके हित में अपने हित की भावना। एक दिन वह सभ्यता सत्य थी, आज आदर्श मात्र सी प्रतीत होती है, क्योंकि मानव पाश्चात्य सभ्यता से प्रेरित होकर कलवाद और संघर्षवाद की ओर अपने केवल भौतिक आदर्शों को लिये 'पेट-पेट', 'कपड़ा-कपड़ा', 'मज़दूरी-

मज़दूरी', कह कर नेत्र बन्द किये दौड़ रहा है। एक दिन वह अवश्य आयेगा जब इस अँधे मानव को भौतिकवाद की कठोर टक्कर लगेगी, एक बार सर्वनाश सा प्रतीत होगा, एक विशाल क्रांति होगी और फिर मानव लौटेगा अपना भारी और विश्रांत हृदय लेकर और भारतीय सभ्यता की सुखदायिनी अँक में शरण लेगा। वह होगा उन घावों पर मरहम लगाने का समय जो अब निकट ही है, अधिक दूर नहीं।

विषय पर सँक्षिप्त विचार—

१. भूमिका।
२. पाश्चात्य सभ्यता तड़क-भड़क वाली है और भारतीय सभ्यता में जीवन का कठोर सत्य छुपा हुआ है।
३. पाश्चात्य सभ्यता मानव को सँघर्ष की ओर ले जाती है और भारतीय सभ्यता शाँति की ओर।
४. आज का मानव पाश्चात्य सभ्यता के पीछे आँखें मीच कर भाग रहा है।
५. पाश्चात्य सभ्यता ने मानव से हृदय छीन कर उसे कला का पुजारी बना दिया है।
६. पाश्चात्य सभ्यता के पीछे आँख मीच कर भागने वाले मानव को एक दिन गहरी टक्कर लगेगी और उस दिन उसके घावों पर भारतीय सभ्यता ही मरहम लगा सकेगी।
७. मानव को एक दिन अपनी भूल का अनुभव होगा और वह भारतीय सभ्यता को अपनायेगा क्योंकि मानव के मन की शाँति का रहस्य भारतीय सभ्यता के ही पास है।

भारत में सह-शिक्षा

बालक और बालिकाओं के एक साथ एक पाठशाला में बैठकर एक ही अध्यापक अथवा अध्यापिका द्वारा शिक्षा ग्रहण करने को सह

शिक्षा कहते हैं । अङ्गरेज़ी में इसे को-एजूकेशन(Co Education)कहते हैं अर्थात् सम्मिलित अथवा साथ-साथ शिक्षा । भारत में सह-शिक्षा का न तो प्राचीन चलन ही था और न भारतीय सभ्यता में कहीं पर इस प्रकार का विधान ही मिलता है । आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि कुमारों और कन्याओं के विद्यालय पृथक-पृथक होने चाहियें और उनके बीच में काफ़ी फ़ासला भी होना आवश्यक है । स्वामी दयानन्द जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश, में लिखा है कि ब्रह्मचर्य-काल में लड़के और लड़कियों को आपस में बातचीत भी नहीं करनी चाहिये । इनका आपस में मेल घी और अग्नि के समान है । अग्नि के पास पहुँच कर कोई कारण नहीं है कि घी न पिघले । स्त्री का आकर्षण इतना अधिक होता है कि मानव मन उसके सम्मुख मोम की तरह पिघलने लगता है और अपने कर्तव्य से गिर जाता है । ब्रह्मचर्य-काल में यदि विद्यार्थी अपने कर्तव्य से गिर जाता है तो वह जीवन भर मूढ़ ही बना रहता है और इसके जीवन की प्रगति समाप्त हो जाती है । महात्मा सूरदास को नारी के सम्मुख पिघल कर अपनी आँखें फोड़नी पड़ी थीं । मनु महाराज ने भी मनु-स्मृति में लिखा है कि ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य-काल में स्त्री के दर्शन नहीं करने चाहियें । शंकराचार्य ने भी इसका खंडन ही किया है । महात्मा कबीर ने तो नारी को 'विकार' और 'आग' कहकर पुकारा है । इन्होंने तो नारी की परछाईं तक को घातक माना है । "नारी की छाँई परत अन्धा होत भुजँग । कबीर कहो तिन हाल क्या जो नित नारी संग ।"

भारत में सह-शिक्षा का प्रादुर्भाव पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से हुआ है । भारत में अङ्गरेज़ी शासन और शिक्षा प्रणाली पर अङ्गरेज़ी प्रभाव होने से सह-शिक्षा का भी यहां पर आना अनिवार्य हो गया । इसका प्रचार वर्तमान शिक्षा प्रणाली के अनुकूल है और बराबर बढ़ता

ही जा रहा है। आज भारत के स्वाधीन होने पर भी सह-शिक्षा का प्रचार कुछ कम हो रहा हो ऐसी बात नहीं है। सह-शिक्षा का कार्य-क्षेत्र बराबर विस्तार के साथ दृढ़ता पूर्वक प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

अब विचार करने योग्य प्रश्न यह है कि अथवा यह भारत के लिये हितकर होगा या अहितकर। प्राचीन धार्मिक और सभ्यता के रूढ़ि-वाद में फँसकर इसके विरुद्ध आंदोलन किया जाये या इसको ज्यों का त्यों पचाकर अपनी भी सभ्यता का एक अङ्ग बना लिया जाये। अब यदि आँदोलन करने वाली बात पर हम बल देते हैं तो हमें यह विचार करना होगा कि क्या हमारे इस बल देने से वह आँदोलन आज के प्रगति वादी युग में सफल भी हो सकेगा ? क्या हमारी बात मान कर बालक और बालिकायें तथा उनके संरक्षक हमारे आंदोलन का साथ देंगे ? और यदि नहीं तो फिर इस आँदोलन के करने से भी क्या लाभ होगा ? आँदोलन होगा बालक बालिकाओं अथवा उनके संरक्षकों के हित में और वही हमारे आँदोलन के प्रति आकर्षित न हों, तो फिर आँदोलन करने से क्या लाभ ? इससे सिद्ध हुआ कि वर्तमान प्रगति के युग में जब कि संसार के नर और नारी कंधे से कंधा मिलाकर अपने जीवन पर इतनी तेजी से अग्रसर हो चुके हैं उस समय कोई भी इस प्रकार का आँदोलन सफलता को प्राप्त नहीं होगा जो उनके पल्ले पकड़कर उन्हें एक दूसरे से पृथक रखने का प्रयत्न करें।

जहाँ तक सह-शिक्षा के विपरीत विचारावलि का संबन्ध है वहाँ तक भारतीय विद्वानों ने इसका खंडन नहीं किया है। कुछ पाश्चात्य सभ्यता के विद्वानों ने भी इसे ग़लत मानकर इसकी निंदा की है। इन्होंने तो स्त्री को 'बीमारी' कह कर पुकारा है और कहा है कि इसका प्रभाव न केवल विद्यालय के अन्य छात्रों पर ही पड़ेगा वरन् वहाँ के अध्यापक भी इससे मुक्त नहीं रह सकते और इस प्रकार विद्यालयों की प्रगति में बाधा उपस्थित होगी।

जो कुछ भी सही, यह तो हुई आदर्शवाद की बातें। सभी चीजों के दो पक्ष होने अनिवार्य हैं। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसके गुण ही गुण हों और अवगुण हों ही नहीं, अथवा अवगुण ही अवगुण हों और गुण हों ही नहीं। इसलिये हम अब सहशिक्षा के गुण और दोषों पर विचार करेंगे। सहशिक्षा के समर्थक भी हैं और विपक्षी भी और दोनों ही अपने-अपने मतों को बलवान समझकर तर्क द्वारा उन्हे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु वास्तव में सत्य वह है जिसमें प्रगति हो और प्रगति उसमें होगी जिसमें कुछ आकर्षण हो। जीवन को नीरसता और शुष्कता की ओर ले जाने वाला आदर्श कड़वी कोनैन की भाँति है। बाल्यकाल में जब मानव का मन और उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ परिपक्व अवस्था में नहीं होतीं तो उन पर बुरी बातों का प्रभाव अच्छी बातों की अपेक्षा अधिक सुगमता से हो जाता है। सह-शिक्षा आकर्षण की वस्तु है और इसी लिये इस का प्रचार दिन प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है। इसका भविष्य अच्छा है अथवा बुरा यह विचारणीय प्रश्न है। क्या यह आकर्षण मिथ्या है, असत्य है और अस्वाभाविक है? यदि नहीं तो फिर क्यों इसे प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिये? क्यों प्राचीन रूढ़िवादों में फंसे रह कर हम उन्हीं पुरानी प्रथाओं को अपनाये चले जायें जहाँ गुड्डों और गुड़ियों के विवाह नाई और ब्राह्मणों के संकेत पर हो जाते थे। क्यों न हम अपने बच्चों के भविष्यों को उनके हाथों में सौंप कर चतुर निरीक्षकों की भांति उनपर दृष्टि रखें और उन्हें स्वतन्त्रता दें सन्सार-सागर में अपनी नौका खेने की? ऐसा करने से हमारे बच्चे दुर्बल न बन कर उन्नत और बलवान बनेंगे, आत्म-विश्वासी बनेंगे और उनमें अपना पथ स्वयं निर्धारित करने की सामर्थ्य आ जायेगी। बच्चों को अपनी इच्छा के बन्धन में बाँध कर चलाना बच्चों के जीवन की प्रगति में बाधक है। वर्तमान प्रगति के युग में उन्हें मुक्त करना होगा, स्वतन्त्रता देनी होगी और

इसी स्वतन्त्रता के मार्ग में सहशिक्षा भी आ जाती है।

अप्राप्य वस्तु के प्रति आकर्षण और प्राप्य वस्तु के प्रति विरक्ति होना प्रकृति का नियम है। सहशिक्षा में जो सबसे बड़ा दोष व्यभिचार फैलने का बतलाया जाता है वह तर्क की कसौटी पर आकर निर्मूल सा ही सिद्ध होता है। नित्य साथ रहने वाली वस्तु के प्रति झूठा आकर्षण तो स्वाभाविक रूप से ही समाप्त हो जाता है। व्यभिचार को भी प्रोत्साहन साथ साथ रहकर चलने से न होकर दूर दूर रह कर चलने से होता है। सहशिक्षा से साहचर्य की भावना का उदय होता है और इससे कभी कभी प्रेमांकुर भी उत्पन्न हो सकते हैं परन्तु उन्हें हम व्यभिचार नहीं कह सकते हैं। यह मानव तो जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं जो जीवन में किसी भी समय अँकुरित हो सकती हैं। यहां हमें यह मानना ही होगा कि साहचर्य से उत्पन्न हुआ प्रेमाँकुर विवाह बन्धन में अनबूझ पहेली की भाँति बँधकर आये हुए गुप्त दान के प्रेमाँकुर से कहीं अधिक सत्य है, बलवान है, और पुष्टि को प्राप्त होने की अपने में क्षमता रखता है। साहचर्य में जिस प्रेम-भावना का उदय होता है उसे ना तो हम जीवन की त्रुटि ही मान सकते हैं और ना व्यभिचार ही। यदि सहशिक्षा में विकार उत्पन्न हो सकते हैं तो साथ साथ रहने वाले भाई-बहनों में क्यों विकार उत्पन्न नहीं होंगे। विकार में एक ओर का आकर्षण न रहकर दोनों ओर का होता है और दोनों ओर का होने पर भी यदि कोई भूल होती है तो उसके दोनों भागी होते हैं, उनके संरक्षक नहीं। हां ऐसी कठिन परिस्थितियों में दोनों के चरित्रों और स्वभावों का सन्तुलन करना और उन्हें समझाने का भार संरक्षकों के ही सिर पर रहता है।

कुछ सहशिक्षा के पक्षपातियों का मत है कि सहशिक्षा से पारस्परिक स्पर्धा का जन्म होता है और इसके परिणामस्वरूप दोनों पक्ष उन्नति करते हैं। लड़कियाँ ललित कलाओं में प्रवीण होती हैं

और लड़के गणित इत्यादि विषयों में। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के सहायक सिद्ध हो सकते हैं। दोनों में एक दूसरे के देखा-देखी साफ और स्वच्छ रहने की भावनाओं का उदय होता है। एक दूसरे के स्वाभावों को समझने की क्षमता आती है। यह सभी बातें सह-शिक्षा से प्राप्त होती हैं। जो साधारणतया देखने में यह बहुत सरल सी प्रतीत होती हैं परन्तु इसका बच्चों के चरित्रों पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ता है। प्राचीन रीतियों में फंसे हुए व्यक्ति धर्म के नाम पर, समाज के नाम पर संस्कृति के नाम और अन्त में व्यभिचार का भय दिखला कर सहशिक्षा का विरोध करते हैं। व्यभिचार स्त्रियों को बुर्कों में बन्द करके चारदीवारी का ताला लगाने पर भी यदि नहीं रुक सकता तो फिर उससे क्या लाभ ? मानव की प्रगतियों को रोकने का साधन बन्धन नहीं बन सकता। प्रतिबन्धों से व्यभिचार को प्रोत्साहन मिलता है, अविद्या की उन्नति होती है और मानव मूर्खता की ओर अग्रसर होता है। सहशिक्षा द्वारा पली हुई बलिका अपने जीवन के विषय में स्वयं विचार करने में समर्थ होती है। वह अपना पथ स्वयं निर्धारित कर सकती है। बालक और बालिकायें अपने में स्वयं प्रवाह रखने वाली सरितायें हैं। इनका मार्ग प्रदर्शन किया जा सकता है, इन्हें रोका नहीं जा सकता। रोकने की भावना में ही व्यभिचार है। झूठा ब्रह्मचर्य का ढोंग बांधना मूर्खता है, अवनति है। आज के प्रगतिवादी युग में स्त्री को मुक्त करके उसे अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करने के लिये छोड़ देना चाहिये। यदि इस समय ऐसा न किया गया तो वह स्वयं मुक्त हो जायेगी और वह दशा देश जाति और समाज के लिये और भी भयंकर होगी। इसलिये यदि आज समाज को धर्म को और देश को अपनापन बनाये रखना है तो वह हर प्रकार के प्रतिबन्धों को कम करे और मानव को उसके पथ पर मुक्त कर दे। बच्चे अपने बाल्य काल में अपने ऊपर हुए संरक्षकों द्वारा दुर्व्यवहारों को स्मरण रखते हैं

और अपने युवाकाल तथा संरक्षकों के वृद्धकाल में उन से बदला लेते हैं। यह बात कठोर सत्य है जो आज भारत के घर २ में देखने को मिलेगी। भारत की निन्यानवें प्रतिशत सास और बहुओं की लड़ाई का यही कारण है और जिसके कारण उनके घर नर्क बन जाते हैं। इसे रोकने का एकमात्र साधन सहशिक्षा, साहचर्य और कठोर प्रतिबन्धों को उन्मुक्त करना है। राष्ट्र, समाज और व्यक्ति के सदाचार को इस से ठेस लगेगी यह असत्य है, ढकोसले बाजी है। सहशिक्षा से आत्म-हत्यायें होती हैं, चरित्र दुर्बल हो जाते हैं, विद्या अध्ययन में बाधा पड़ती है इत्यादि भावनायें गलत हैं, भ्रामक हैं और मानव की प्रगति में रुकावट हैं। जाति के सपूतों की शिक्षा, स्वास्थ्य, चरित्र, ब्रह्मचर्य इत्यादि की दुहाई देकर व्यर्थ का आदर्शवाद छांटने वाला समय आज नहीं रहा। सहशिक्षा समय की मांग है जो रुक नहीं सकती और उसे रोकने का अर्थ सन्सार को पीछे घसीटने के समान होगा, जो हो नहीं सकता, हो नहीं सकेगा।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. सहशिक्षा किसे कहते हैं ?

२. सहशिक्षा पश्चिम की देन है।

३. सहशिक्षा पर भारत के प्राचीन विचारक।

४. सहशिक्षा के लाभ और हानियाँ।

५. उपसंहार।

ब्रिटेन, अमरीका तथा रूस की शासन प्रणाली

आज संसार की राजनीति में ब्रिटेन, अमरीका और रूस का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। रूस और अमरीका राजनीति संचालन के दो प्रधान केन्द्र हैं। ब्रिटेन अमरीका के साथ है। इस निबन्ध में हम इन तीनों देशों की शासन प्रणालियों पर विचार करेंगे।

ब्रिटेन— ब्रिटेन में वंश-परम्परा के आधीन राजा गद्दी पर बैठता अवश्य चला आ रहा है परन्तु उसके अधिकार बहुत सीमित होते हैं। ब्रिटेन का राजा प्रोटैसटैन्ट ही हो सकता है, रोमन कथोलिक नहीं। राजा जो कुछ भी करता है वह पारलियामेंट की अनुमति से करता है और वह पार्लियामेंट की इच्छा को अस्वीकार भी नहीं कर सकता। मंत्रियों के परामर्श द्वारा राजा पार्लियामेंट को भंग कर सकता है और किसी भी प्रस्ताव को पार्लियामेंट के पास पुनर्विचार के लिये भेज सकता है। राजा के पास अपने कार्य संचालन के लिये हाउस आफ कामन्स—जनतागृह और हाउस आफ़ लार्ड्स–राजकीय-गृह होते हैं। जनता-गृह का नेता प्रधानमंत्री कहलाता है। प्रधान मंत्री अन्य मंत्रियों का चुनाव करता है और राजा फिर उन्हें स्वीकार कर लेता है। राजा को निजी व्यय के लिये एक लाख दस हजार पौंड वार्षिक मिलता है।

ब्रिटेन के जनता-गृह में ६३९ सदस्य होते हैं और यह सभी मत-दाताओं के चुने हुए होते हैं। ब्रिटेन में हर २१ वर्षीय व्यक्ति को, जिसका मस्तिष्क ठीक है, मत देने का अधिकार होता है। वार्षिक बजट इसी गृह में स्वीकृत होता है। जनता-गृह के अधिकार हर क्षेत्र में बहुत व्यापक हैं और राजकीय-गृह के सीमित। राजकीय-गृह में यदि कोई प्रस्ताव स्वीकृत ना भी हो तो वह दुबारा जनता-गृह में स्वीकृत होने पर स्वीकृत समझा जायेगा। जनता-गृह के सदस्यों को ६०० पौं० वार्षिक वेतन मिलता है। प्रत्येक पाँचवें वर्ष इस गृह का चुनाव होता है। राजकीय-गृह में ७४० सदस्य होते हैं। इन सदस्यों का चुनाव नहीं होता बल्कि वंश परम्परा से अधिकार प्राप्त होते हैं और कुछ सदस्य राजा द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। यह गृह भी आजकल राजा की ही भाँति सम्मान का ही सूचक रह गया है क्योंकि इसके अधिकार ना के ही बराबर हैं।

देश का शासन प्रबन्ध मंत्रिमंडल द्वारा होता है और मंत्रिमंडल

का चुनाव प्रधान मंत्री करता है। प्रधान मंत्री जनता-गृह की बहुमत वाली पार्टी का नेता होता है। राजा मंत्रिमँडल की स्वीकृति देता है। इस मंत्रि मंडल में तीन मंत्री राजकीय-गृह से और शेष जनता-गृह से लिये जाते हैं। पार्लियामेंट में बहुमत न रहने पर मन्त्रि-मण्डल को त्यागपत्र देना होता है। प्रधान मन्त्री को वार्षिक वेतन १०,००० पौंड मिलता है। इङ्गलैंड का वर्तमान प्रधान मन्त्री मि० एटली हैं। यह शासन प्रणाली जनतंत्रात्मक कहलाती है क्योंकि इसमें जनता के प्रतिनिधियों द्वारा किये जाने वाले शासन में राजा हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

अमरीका—पहिले अमरीका ब्रिटेन का एक उपनिवेश था परंतु आज वह ४६ स्वतंत्र राज्यों का एक संघ है। यह राज्य अपने आंतरिक कार्यों में स्वतंत्र है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका का एक प्रधान होता है और शासन का अधिकतर कार्य-भार प्रधान पर ही रहता है। यह चार वर्ष के लिये चुना जाता है और चार वर्ष पश्चात् फिर नया चुनाव होता है। यह प्रधान कम से कम १४ वर्ष से संयुक्त राष्ट्र का निवासी होना चाहिये और उसकी आयु भी ३५ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिये। प्रधान की मृत्यु अथवा उसके त्याग पत्र देने पर उप-प्रधान कार्य को सम्भालता है। ४६ राज्यों के प्रतिनिधि मिल कर प्रधान और उपप्रधान का चुनाव करते हैं। प्रधान का वार्षिक वेतन उसके जेब खर्च सहित एक लाख डालर मिलता है। उपप्रधान को १५ हज़ार डालर मिलता है और यह सीनेट का प्रधान होता है। प्रधान कांग्रेस के प्रस्ताव को पुनर्विचार के लिये भेज सकता है। प्रधान केवल सीनेट की सम्मति से विदेशों से सन्धि कर सकता है। राष्ट्र की सेना का अध्यक्ष भी प्रधान ही होता है। अमरीका के मंत्रिमण्डल में १७ मंत्री होते हैं जिनकी नियुक्ति सीनेट की स्वीकृति से प्रधान ही करता है। इस मन्त्रिमण्डल के प्रत्येक मन्त्री का वार्षिक वेतन १५ हजार डालर

होता है। मि० ट्रूमैन संयुक्त राष्ट्र के वर्तमान प्रधान हैं।

संयुक्त राष्ट्र अमरीका में एक प्रतिनिधि-गृह होता है और दूसरा सीनेट। प्रतिनिधि-गृह के सदस्य दो वर्ष के लिये चुने जाते हैं। प्रतिनिधि कोर्ट यदि किसी पर अभियोग लगाता है तो वह अभियोग सीनेट में सुना जाता है। इस शासन प्रणाली में शासक वर्ग, सुप्रीमकोर्ट और कांग्रेस के अधिकार पृथक पृथक हैं। सीनेट में प्रत्येक राज्य के दो प्रतिनिधि रहते हैं जो कि वहां की जनता चुनकर भेजती है। इनकी अवधि ६ वर्ष की होती है। सीनेट का सदस्य बनने वाले व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह उस राज्य का नौ वर्ष से नागरिक रहा हो और उसकी आयु तीस वर्ष हो। सीनेट के हर सदस्य को १० हजार डालर प्रतिवर्ष वेतन मिलता है। इस प्रकार अमरीका का शासन प्रबन्ध चलता है।

सोवियत रूस—सोवियत रूस ११ स्वतंत्र राज्यों में विभाजित है। ११ स्वतंत्र राज्यों का यह सङ्घ यूनियन आफ़ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक (U. S. S. R) कहलाता है। इस सङ्घ के प्रत्येक राज्य को स्वतंत्रता है कि वह जब चाहे संघ से पृथक होकर अपनी स्वतंत्रता स्थापित कर सकता है। रूस की वर्तमान शासन प्रणाली निम्नलिखित रूप से चलती है:—

१. सुप्रीम कौंसिल या प्रेज़ीडियम।

२. व्यवस्थापिका सभा।

(क) कौंसिल आफ़ यूनियन।

(ख) कौंसिल आफ़ नेश्नेलिटीज—प्रतिनिधि-गृह।

रूस के प्रतिनिधि-गृह में सब राज्यों के चुने हुए सुप्रीम कौंसिलों के प्रतिनिधि आते हैं। कौंसिल आफ़ यूनियन के और कौंसिल आफ़ नेश्नेलेटीज—दोनों गृह मिल कर एक बड़ी कौंसिल का चुनाव करते

हैं। प्रेजीडियम के अधिकारों की कोई सीमा नहीं है। शासन मन्त्रि-मण्डल सम्भालता है परन्तु उसकी नियुक्ति इसी प्रेजीडियम द्वारा होती है। सुप्रीमकोर्ट की नियुक्ति भी इसी के द्वारा होती है। मंत्रि मंडल के निश्चयों पर विचार करना और युद्ध आदि विशेष महत्व-पूर्ण मामलों पर अन्तिम निर्णय प्रेजीडियम द्वारा ही होता है। यह मंत्रि-मंडल के प्रस्तावों को भी रद्द कर सकती है। इस सभा में प्रधान, उपप्रधान मन्त्री और इनके अतिरिक्त ३१ और सदस्य रहते हैं।

रूस में काम्यूनिस्ट शासन है। साम्यवादी सिद्धाँत से अनुप्राणित शासन व्यवस्था द्वारा आज रूस का राज्य-कार्य-संचालन हो रहा है। रूस में साम्यवादी दल का संगठन उसी प्रकार है जिस प्रकार भारत में काँग्रेस का। साम्यवादी पार्टी का संगठन रूस में उसकी शाखाओं और उपशाखाओं द्वारा जाल की तरह देश भर में बिछा हुआ है। सङ्घ की केन्द्रीय कार्यकारिणी में कुल पाँच सदस्य हैं और यही पाँचों राज्य की केन्द्रीय कार्यकारिणी को चलाते हैं। इसका प्रमुख नेता प्रधान मंत्री कहलाता है और राष्ट्र की समस्त शक्ति उसी के हाथों में रहती है। सरकारी मँत्रियों की नीति का निर्देशन यह साम्यवादी कार्यकारिणी करती है। इस प्रकार साम्यवादी दल का प्रधान मन्त्री ही रूस में अन्ततोगत्वा सबसे बड़ी शक्ति का केन्द्र हुआ। मि० स्टालिन आजकल वहाँ की साम्यवादी पार्टी के प्रधान मन्त्री हैं।

रूस आज ६० विभिन्न राष्ट्रों और जातीय समूहों का साम्यवादी सङ्घ है। मत देने के क्षेत्र में पूंजीपति का श्रमिक पर किसी प्रकार का दबाव नहीं। जाति और रंग का भेद-भाव रूस में नहीं मिलता। अमरीका में बहुत से अंग्रेजी न जानने वाले नीग्रो मताधिकार से वंचित हैं परन्तु रूस में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है। प्रत्येक १८ वर्ष के नर नारी को मताधिकार है और प्रत्येक २३ वर्ष का नर-

भारी सर्वोच्च सोवियत का प्रतिनिधि चुना जा सकता है। रूस के प्रत्येक प्रतिनिधि को लेनिन के आदर्शों पर चलने की प्रतिज्ञा लेनी होती है। साम्यवादी शासन प्रणाली के अन्तर्गत रूस ने गत वर्षों में आशातीत उन्नति की है। इस समय ३ करोड़ ४० लाख छात्र १०० से अधिक भाषाओं में बिना शुल्क विद्या अध्ययन कर रहे हैं। इस प्रकार रूस की शासन व्यवस्था का ढाँचा सुचारु रूप से चल रहा है। इस शासन व्यवस्था में रूस उन्नति कर रहा है और यह शासन व्यवस्था अब चीन में भी पहुँच गई है।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

1. ब्रिटेन, ब्रिटेन का राजा, जनता-गृह और राजकीय-गृह ।
२. अमरीका, प्रेजीडैन्ट, व्यवस्थापिका सभा (काँग्रेस) और सीनेट।
३. रूस, सुप्रीम कौंसिल या प्रैजीडियम, व्यवस्थापिका सभा और साम्यवादी दल का प्रधानमंत्री।

स्वास्थ्य और व्यायाम

मानव जीवन के दो प्रधान पक्ष हैं एक शरीर-पक्ष और दूसरा आत्म पक्ष। दोनों की ही स्वस्थता पर मानव जीवन की उन्नति अथवा अवनति आधारित है। स्वास्थ्य शब्द को आज कल केवल शारीरिक सुगठन और नीरोगिता का ही पर्यायवाची मान लिया गया है। परन्तु वास्तव में मानव के स्वास्थ्य का सम्बन्ध उसके दोनों ही पक्षों से समान रूप से है। यह दोनों हो पक्ष मानव जीवन में साथ साथ चलते हैं और एक का दूसरे पर बहुत व्यापक प्रभाव होता है। शरीर की अस्वस्थता से मस्तिष्क अस्वस्थ हो जाता है और मस्तिष्क की अस्वस्थता से शरीर अस्वस्थ हो जाता है। इसलिये जब स्वास्थ्य पर विचार करना है तो दोनों ही पक्षों पर विचार करना आवश्यक है। अङ्गरेज़ी की एक प्रधान कहावत है कि Health is Wealth अर्थात्

स्वास्थ्य ही धन है। उर्दू की भी एक कहावत प्रसिद्ध है कि 'तन्दरुस्ती हज़ार नियामत है।' इन दोनों ही कहावतों का तात्पर्य यह है कि जीवन संचालन के लिये स्वास्थ्य का अच्छा होना प्रधान रूप से आवश्यक है। मानव को स्वास्थ्य रक्षा के लिये किन बातों का विशेष ध्यान करना चाहिये अब हम उन आवश्यकताओं पर विचार करेंगे। सर्व प्रथम हम शारीरिक स्वस्थता को लेते हैं। शारीरिक स्वस्थता के लिये आवश्यक है कि —

१. शरीर को पुष्ट करने वाला स्वच्छ भोजन होना चाहिये।
२. रहने के लिये स्वच्छ वायुमंडल में घर होना चाहिये जहां प्रकाश, धूप और हवा की कमी न हो।
३. शरीर की स्वच्छता के लिये स्वच्छ पानी, साफ़ कपड़े और विशुद्ध वातावरण होना चाहिये।
४. शरीर पर उसकी शक्ति के अनुसार ही कार्यभार होना चाहिये।
५. शरीर को पुष्ट और स्वस्थ रखने के लिये व्यायाम नितांत आवश्यक है।

स्वास्थ्य सुधार में सर्व प्रथम भोजन का स्थान है। भोजन कैसा होना चाहिये यह प्रश्न विचारणीय है। आज सन्सार में भोजन के दो वर्ग हैं एक मांस-प्रधान और दूसरा अमांस-प्रधान। दोनों ही प्रकार के भोजनों से शरीर स्वस्थ रह सकता है परन्तु दोनों ही प्रकार के भोजन करने वाले व्यक्तियों की प्रकृति में आकाश पाताल का अन्तर हो जायेगा। मांस खाने वाला व्यक्ति तामसिक वृत्ति धारण करेगा और फल-अन्न खाने वाला सात्विक। आज विज्ञान ने भोजन की शक्तियों को भी ज्ञात कर लिया है। डाक्टरों ने यह भी निर्णय कर लिया है कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिये भोजन में क्या २ वस्तु कितनी २ मात्रा में होनी चाहिये? भोजन के परिवर्तन से छोटे मोटे रोग भी स्वयं ही दूर हो जाते हैं, उनके लिये डाक्टरों पर जाने की

आवश्यकता नहीं है। भोजन की सामग्री स्वच्छ होनी चाहिये, गली सड़ी नहीं, क्योंकि जैसा भोजन किया जायेगा उस से उसी प्रकार का रक्त बनेगा और उस रस से उसी प्रकार शरीर पुष्ट होगा। इस प्रकार स्वास्थ्य रक्षा के लिये स्वच्छ और बलिष्ट भोजन का होना नितान्त आवश्यक है।

स्वच्छ भोजन के साथ ही साथ मानव के रहन-सहन का प्रश्न सामने आता है। मानव के रहने के लिये ऐसा मकान होना आवश्यक है जहाँ पर विशुद्ध वायु आ सके। शहर की गन्दी गलियों में, गंदी हवा में श्वास लेकर स्वस्थ व्यक्ति भी पानी में पड़े हुए पीले मेंढकों की तरह हो जाते हैं। जिस प्रकार पाल में दब कर हरे आम पीले पड़ जाते हैं इसी प्रकार शहर की अंधेरी गलियों में रहने वाले व्यक्तियों के शरीर सूर्य का कम प्रकाश पाकर पीले हो जाते हैं। शरीर की स्वस्थता का विशुद्ध वायु और सूर्य के प्रकाश से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। सूर्य की किरणों में वह शक्ति होती है कि वह मानव शरीर के साधारण रोगों को तो बिना औषधि के ही नष्ट कर देती हैं। विशुद्ध वायु में श्वास लेने से रक्त साफ़ होता है और रक्त साफ होने से फेफड़े तथा दिल अच्छी तरह काम कर सकते हैं। शुद्ध रक्त होने से शरीर बलवान होता है और स्वास्थ्य ठीक रहता है। मानव शरीर पर धूप लगने से शरीर की त्वचा के छिद्र खुल जाते हैं और इस प्रकार त्वचा पर बाहर से भी वायु तथा प्रकाश का अच्छा प्रभाव पड़ता है। इन छिद्रों द्वारा सूर्य की गर्मी पाकर शरीर का मैल बाहर निकलता है और शरीर स्वस्थ होता है। इस प्रकार विशुद्ध वायु मंडल में, सूर्य के प्रकाश में रहना मानव स्वास्थ्य के लिये किसी भी प्रकार अच्छे भोजन से कम नहीं है। रूखा-सूखा भोजन खाकर मनुष्य स्वस्थ और बलवान रह सकता है परन्तु गले-सड़े वातावरण और अंधकार में रह कर वह अपने स्वास्थ्य को ठीक नहीं रख सकता। बिना भोजन मानव महीनों

जीवित रह सकता है परन्तु वायु के बिना तो एक क्षण भी जीवित रहना कठिन है।

स्वास्थ्य रक्षा के लिये तीसरी आवश्यकता है शुद्ध वस्त्र तथा शुद्ध पानी की। शुद्ध पानी शरीर को स्वस्थ्य रखने के लिये उतना ही आवश्यक है जितना स्वच्छ भोजन। पानी की मानव को भोजन से अधिक आवश्यकता है। स्वच्छ पानी से स्वास्थ सुधरता है। किसी किसी स्थान का तो पानी ही इतना विशेष होता है कि दूर दूर से यात्री वहाँ का पानी पीने और स्वस्थ्य होने के लिये आते हैं। गंगा जल कभी नहीं सड़ता यह उसकी विशेषता है और उसे पीने मात्र से अनेकों रोग चले जाते हैं। इस प्रकार विशुद्ध पानी जीवन की रक्षा तथा स्वास्थ्य की रक्षा दोनों के लिये नितांत आवश्यक है। पानी के अतिरिक्त वस्त्र भी मानव की प्रधान आवश्यकताओं में से एक है। मानव जीवन की जितनी भी प्रधान प्रधान आवश्यकतायें हैं वह सभी उसके स्वास्थ्य की रक्षा के लिये आवश्यक हैं और इसी लिये उनका उसके जीवन में प्रधान स्थान है। वस्त्र शरीर को हवा, गर्मी और सर्दी से बचाते हैं। प्रकृति की तीव्र शक्तियों से यह उसकी रक्षा करते हैं। गर्मियों में मनुष्य नंगा भी रह सकता है परन्तु शीतकाल में तो वस्त्र उसके शरीर और उसके स्वास्थ्य के लिये आवश्यक हो जाते हैं। इस प्रकार पानी और वस्त्र स्वास्थ्य-रक्षा के प्रधान तत्व हैं जिनकी आवश्यकता मानव को होती है। स्वच्छ वस्त्र पहिन कर मानव का मन प्रसन्न होता है और वह बाहर से पड़ने वाले मैल से बचता है और इस सब का प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर अच्छा पड़ता है।

यहां तक हमने मानव की आवश्यकताओं और उनके शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव पर विचार किया। अब मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाली एक प्रधान वस्तु है, और वह है मानव को अपने जीवन के संचालन के लिये श्रम करने की आवश्यकता। यह श्रम

थोड़ा बहुत हर व्यक्ति को करना होता है। यह श्रम शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार का होता है और दोनों का ही मानव के स्वास्थ्य पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। स्वास्थ्य-रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि मानव जो कुछ भी श्रम करे वह उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के अनुकूल हो। उस श्रम को करने से उस पर इतना दबाव न पड़े कि जिसका प्रभाव उसके शरीर पर या मस्तिष्क पर इतना पड़े कि उसका स्वास्थ्य मस्तिष्क की दिशा में अथवा शरीर की दिशा से बिगड़ने लगे। मस्तिष्क और शरीर की शक्तियों का संतुलन करके कार्य भार मानव को अपने ऊपर लेना चाहिये। यदि ऐसा न किया गया तो निश्चय ही मानव के स्वास्थ्य पर उसका गहरा प्रभाव पड़ेगा और वह अस्वस्थ्य होता चला जायेगा।

स्वस्थ रहने के लिये हम ऊपर शुद्ध भोजन, शुद्ध पानी, शुद्ध वायु मंडल, शुद्ध वस्त्र, शुद्ध गृह और शक्ति के अनुसार श्रम की आवश्यकताओं पर विचार कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ आवश्यकतायें और हैं जिनके न रहने पर ऊपर की सब सुविधायें होते हुए भी स्वास्थ्य बिगड़ जाने की सम्भावना रहती है। वह आवश्यकतायें निम्नलिखित हैं:—

१. व्यायाम।
२. आचार विचार तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण।
३. जीवन का कार्यक्रम ठीक रखना।

स्वास्थ्य-रक्षा के लिये व्यायाम करना मानव के लिये नितांत आवश्यक है। व्यायाम करनेका अर्थ डंड-बैठक कसरत करके पहलवान बनना ही नहीं होता। व्यायाम मनुष्य को अपने शरीर की अवस्था और स्वास्थ्य के अनुकूल करना चाहिये। शरीर के सब रग पट्ठों को खोलने के लिये इतना व्यायाम करना आवश्यक होता है कि जिस से वह खुल जाये और शरीर में स्फूर्ति आजाये। व्यायाम द्वारा ही शरीर

की सब इन्द्रियाँ अपनी शक्ति को बढ़ाती और स्थाई रखती हैं। टहलना सब व्यायामों से अधिक लाभदायक होता है। वयस्क व्यक्ति के लिये तो टहलना बहुत ही आवश्यक है। कुछ हलका हलका दौड़ने से भी शरीर स्वस्थ्य रहता है और बदन का पसीना निकल जाता है पसीना आने पर वस्त्र बदलने चाहियें क्योंकि भीगे हुए कपड़े स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद हैं। व्यायाम मानव शरीर को बलिष्ट तो बनाता ही है हृष्टपुष्टता के साथ ही मानव में यह कठोरतम परिस्थितियों को सहन करने की शक्ति भी प्रदान करता है।

स्वास्थ्य-रक्षा के लिये आचार-विचार पर नियंत्रण रखना निताँत आवश्यक है। जो मनुष्य अपने आचार-विचार ठीक नहीं रखता उसका स्वास्थ्य स्वयं खराब होने लगता है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं रख सकता वह व्यक्ति कभी भी अपने स्वास्थ्य को ठीक नहीं रख सकता। कर्मेन्द्रियों पर नियंत्रण रखने से ही मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक रहता है। यदि जीभ के वशमें होकर मनुष्य खाये रबड़ी और उसकी पाचन शक्ति मूंग की दाल को भी न पचा सकती हो तो निश्चय ही उसका स्वास्थ्य खराब हो जायेगा। मानव को स्वास्थ्य ठीक रखनेके लिये संभोग-इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना नितांत आवश्यक है क्यों कि यह मानव शरीर का वह स्खलन है कि जिसके द्वारा शरीर की शक्ति का बहुत वेग से ह्रास होता है। स्वास्थ्य-रक्षण के सभी साधन केवल इस एक कमी के सम्मुख व्यर्थ हो जाते हैं और इससे मानव शरीर तथा मस्तिष्क दोनों ही अस्वस्थ्य होने प्रारम्भ हो जाते हैं।

स्वास्थ्य-रक्षा के लिये अंतिम आवश्यकता है जीवन के कार्य-क्रम को व्यवस्थित रखने की। ठीक समय पर सोना, ठीक समय पर उठना, ठीक समय पर दातन करना, कुल्ला करना और नहाना, ठीक समय पर खाना, ठीक समय पर घूमना और व्यायाम करना और ठीक समय पर

पढ़ना लिखना तथा विश्राम करना—यह भी स्वास्थ्य रक्षा के लिये आवश्यक है। अनियंत्रित और अव्यवस्थित जीवन के कार्यक्रम मे मानव का स्वास्थ्य गिरता चला जाता है और शरीर की मैशीन इस प्रकार बिगड़नी प्रारम्भ हो जाती है कि फिर जीवन में संभालने में नहीं आती। स्वास्थ्य एक बार बिगड़ जाने पर फिर अच्छा होना कठिन हो जाता है इस लिये स्वास्थ्य की रक्षा पर मनुष्य को हर समय ध्यान देना चाहिये। स्वास्थ्य बिगड़ जाने पर संसार के सभी उपभोग मानव के लिये व्यर्थ हो जाते हैं। वह संसार के किसी भी आनंद का उपयोग नहीं कर सकता। स्वास्थ्य खराब होने पर बहुत प्रिय वस्तु अप्रिय लगने लगती है, मानव की कार्य करने की शक्ति समाप्त हो जाती है, कार्य न करने के कारण उसकी आय के साधन समाप्त हो जाते हैं और वह उन कठिन परिस्थितियों में पड़ जाता है कि जीवन भी उसके लिये भार-स्वरूप प्रतीत होने लगता है।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. भूमिका।

२. स्वच्छ भोजन, स्वच्छ वायु, स्वच्छ वस्त्र, स्वच्छ पानी मानव स्वास्थ्य के लिये आवश्यक हैं।

३. व्यायाम, आचार-विचार तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण तथा जीवन के कार्यक्रम पर नियंत्रण रखना।

४. उपसंहार।

आज का नागरिक

आज का नागरिक ही आज का शासक है यह रहस्य आज के नागरिक के विषय में जानकारी पैदा करने से पूर्व जान लेना आवश्यक है। एकतंत्र वाद या तानाशाहीकाल में नागरिक का कोई महत्व नहीं था। उस समय शासित व्यक्ति प्रजा कहलाते थे और आज वह कहलाते

हैंजनता। प्रजा और जनता में बहुत अन्तर है। प्रजा शब्द में दासत्व की भावना का आभास मिलता है जिसमें सुख की भावना का तो समावेश किया जा सकता है परन्तु अधिकार का नहीं। परन्तु जनता शब्द में चाहे सुख न हो परन्तु अधिकार का होना आवश्यक है। आज के युग में विश्व की प्रगति और संघर्ष सुख और शाँति की ओर उतना नहीं है जितना अधिकार और शक्ति की ओर। आज का नागरिक अपने में सम्पूर्ण अधिकारों को निहित करके अपने को बलवान देखना चाहता है। वह गर्व से फूला नहीं समाता जब वह यह अनुभव करता है कि उसके देश का उच्चतम अधिकारी उसकी राय से बनता है। वह अपनी राय के बलपर गर्व करता है और अपने को सशक्त समझता है।

जिन दिनों में राजा को ईश्वर का अवतार माना जाता था और उसके शब्दों को वेदवाक्य; उन दिनों शासन की समस्त शक्तियाँ राजा में ही निहित रहती थीं। जनता भेड़ बकरियों की भाँति राजा द्वारा चालित की जाती थी और उसे राजा के व्यवहार पर मत प्रकट करने का अधिकार नहीं रहता था। यदि राजा अत्याचार करता था तो जनता को वधिक की गऊ के समान उसे सहन करना होता था; परन्तु धीरे धीरे जनता में जागृति होनी प्रारम्भ हुई। इंगलैंड में राजा और प्रजा के बीच एक युग तक संघर्ष चलता रहा। राजा की सेना और प्रजा के बीच संघर्ष पर संघर्ष हुए। न जाने कितना रक्तपात हुआ? रूस में ज़ार के विरुद्ध वहाँ की जनता ने एक क्रांति की ज्वाला सुलगाई और ज़ार के हाथों से शक्ति को हस्तगत करके रूस में साम्यवाद का प्रचार किया। आज वहाँ पर कम्यूनिस्ट सरकार है। अमरीका में भी जनतंत्रात्मक राज्य है और वहाँ भी राज्य का अधिकारी जनता का चुना हुआ होता है।

इस प्रकार आज हमने देखा कि नागरिक राष्ट्र की वह इकाई है कि जिस का महत्व भवन निर्माण में आधार शिला से किसी भी प्रकार

कम नहीं होता। एक एक नागरिक मिलकर राष्ट्र बनता है और आज राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक और राष्ट्र का सब से बड़ा अधिकारी भी बन सकता है। आज का नागरिक बुद्ध न हो कर जागरूक है। वह राष्ट्र को समझता है, देश को समझता है, जाति को समझता है और अपने हितों को समझता है। प्रजातंत्र-सरकारें बराबर अपने नागरिक को समुन्नत विद्या युक्त और प्रगतिशील बनाने में कर्मठ हैं। शिक्षा के सुप्रबन्धों द्वारा नागरिक को योग्य बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। एक राष्ट्र का नागरिक जितना सुरक्षित होगा, जितना स्वस्थ्य होगा, जितना चतुर होगा, जितना देशभक्त और राष्ट्रभक्त होगा वह राष्ट्र भी उतना ही उन्नत और सुदृढ़ होगा।

आज का नागरिक अपने नगर के प्रबन्ध में भाग लेता है, अपने प्रांत के प्रबन्ध में भाग लेता है और अपने राष्ट्र के प्रबन्ध में भाग लेता है। वह जितना भी योग्य होगा उसका निर्वाचित किया हुआ सदस्य भी उतना ही योग्य होगा। किसी भी सदस्य के निर्वाचन में योग्यता ही केवल मापदण्ड होनी चाहिये। जो देश जागरुक हैं और एक लम्बी अवधि से अपने राष्ट्र को संभालते चले आ रहे हैं वहाँ पर यह बात मिलती है, परन्तु जो देश अभी पिछड़े हुए हैं वहाँ का नागरिक अभी तक इधर-उधर के प्रभावों से मुक्त नहीं हो पाया है। प्रारम्भ में, इङ्गलैंड में पाकेट बॉरोज़, रौटन बारोज़ इत्यादि होते थे जिनके फलस्वरूप जनता को सदस्य चुनने में कठिनाई होती थी और जनता का वास्तव में जो प्रतिनिधि होता था वह चुनने से रह जाता था। उस प्रणाली का वहाँ सुधार हुआ। अङ्गरेजी शासन-काल में भारत के चुनावों में भी मतदाताओं पर भाँति भाँति के प्रभाव डाले जाते थे। रुपये पैसे वाले व्यक्ति रुपया देकर मत खरीद लेते थे, बड़े बड़े ज़मीदार अपने दबाव से गरीब जनता से मत लेते थे और कहीं कहीं पर सरकारी अधिकारियों का दबाव भी काम

करता था। सरकार के पक्ष वाले सदस्यों के लिये सरकारी कर्मचारी अपना दबाव डालते थे और इस प्रकार जनता के हितैषी सच्चे सदस्यों को चुने जाने में कठिनाइयों का सामना करना होता था। जनता के शुभचिंतक नेताओं ने इस कठिनाई का अनुभव किया और जनता को जागृत करने में प्रयत्नशील हो गये। यह भावना न केवल भारत में ही थी वरन् समस्त संसार में यह भावना किसी न किसी रूप में पनप रही थी। राजाशाही समाप्त होने पर एक समय वह आया जब डिक्टेटरों का उदय हुआ और उन्होंने रिवालवर छाती पर रख कर मत लिये और फिर एक बार इन मतों द्वारा राष्ट्र के प्रतिनिधि बन कर राष्ट्र की समस्त शक्तियों को हस्तगत कर लिया। इन डिक्टेटरों ने एक बार फिर जनता की शक्ति को नष्ट करके शक्ति को अपने ही करों में केन्द्रित किया परन्तु ऐसा करने वाले संसार के सभी राष्ट्र नहीं थे। इसी समय कुछ राष्ट्रों में प्रजातंत्रवाद भी पनप रहा था और वहाँ की शासन-सत्ता में, यह सत्य है कि इसी नीति को अपने उपनिवेशों में प्रयोग कर रही थीं, परन्तु उनके अपने राष्ट्रों में पूर्ण रूप से प्रजातंत्रवाद व्याप्त हो चुका था और वहां का नागरिक जागरूक हो चुका था। इस प्रकार संसार दो क्षेत्रों में बंट गया था और इन दोनों पक्षों ने गत महायुद्ध में अपनी अपनी शक्ति की आपस में टक्कर ली। इस युद्ध में डिक्टेटरशिप का अन्त हो गया और उसके साथ ही साथ बल पूर्वक मत लेने की प्रणाली का भी अन्त हो गया।

प्रजातंत्र के हामी राष्ट्रों ने डिक्टेटरशिप को तो समाप्त कर दिया परन्तु उनके सामने अब समस्या आई उनके अपने उपनिवेशों की। इन उपनिवेशों में भी जनता जागृत होकर आंदोलन कर रही थी। इन आंदोलनों के नेता इस युद्ध काल में युद्ध-काल का बहाना करके जेलों में ठूंस दिये गये थे। युद्ध समाप्त होने पर उन्हें मुक्त करना पड़ा, इन उपनिवेशों में फिर से जागृति की लहर दौड़ गई और वहाँ के

नागरिक अपने नागरिक-अधिकार पाने के लिये फिर उथल-पुथल मचाने लगे। इस समय इन प्रजातंत्रात्मक शक्तियों को विश्व में अपनी शक्ति और मानमर्यादा बनाये रखने के लिये इन देशों को स्वतंत्र करना पड़ा क्योंकि ऐसा न करने पर संसार भर उनका शत्रु हो जाता और रूस को संसार में काम्यूनिज्म फैलाने में सहायता मिलती। रूस के मत-प्रसार से भयभीत होकर यह सब उपनिवेश मुक्त कर दिये गये। आज विश्व भर का नागरिक स्वतंत्र है, मतदाता है और अपने अपने राष्ट्र का निर्माता है। कुछ छोटे मोटे देश आज भी ऐसे पड़े हैं जिनमें इस स्वतंत्रता का अभी तक अभाव बना हुआ है परन्तु वहाँ पर भी संघर्ष अभी तक बराबर चल रहा है और कोई कारण नहीं है कि निकट भविष्य में वहां पर भी जनतंत्रात्मक सत्ता स्थापित न हो जाये। उदाहरण स्वरूप नैपाल की ही क्राँति को ले सकते हैं। वहाँ जनता ने विद्रोह के झंडे गाड़ दिये हैं और उन्हें सफलता अवश्य मिलेगी। अमरीका में कुछ अंग्रेजी न जानने वाले नीग्रोज़ को मताधिकार नहीं हैं, उनमें जागरुकता आ जाने पर यह भी संभव नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार हमने देखा कि आज विश्व का नागरिक स्वतंत्र हो चुका है, शक्तिशाली हो चुका है, अपने भाग्य का निर्माता बन चुका है, अपने विषय में सोचने समझने और कार्य करने का उसे अधिकार है, वह राष्ट्र का संरक्षक है, राष्ट्र का सम्मान है, बल है, धन है, वैभव है—सर्वस्व है। राष्ट्र उसी के कंधों पर है और वही अपने राष्ट्र के भार का सँभालने वाला है। नागरिक जितना भी योग्य होगा उसका राष्ट्र उतना ही समुन्नत होगा।

विषय पर संक्षिप्त विचार—

१. नागरिक क्या है और उसका क्या महत्व है?

२. विश्व की किन-किन क्रांतियों में से होकर नागरिक वर्तमान स्थिति में आया है।

३. आज के नागरिक का राष्ट्र में क्या स्थान है ?

४. आज के नागरिक का स्वरूप

५. उपसंहार ।

भारत का भविष्य

भारत एक लम्बे युग की पराधीनता के पश्चात् स्वतंत्र हुआ है। इस स्वतंत्रता-प्राप्ति में भारत को अनेकों बलिदान करने पड़े हैं, अनेकों कष्ट सहन करने पड़े हैं और अनेकों संघर्षों के बीच से होकर गुज़रना पड़ा है। भारत-राष्ट्र अपने स्वतंत्रता संग्राम में कुछ आदर्श लेकर चला था और उन आदर्शों को वह आज भी भुला कर नहीं चल रहा। स्वतंत्रता मिलने पर देश की वह दशा थी कि जिस प्रकार किसी दुकान से सब माल निकाल कर कोई परदेसी खाली दुकान और भूखे मरते हुए उस दुकान के मालिकों को छोड़ जाता है। युद्ध काल में अंग्रेज भारत से १५ अरब रुपये का माल उठाकर ले गये जिसके फलस्वरूप देश माल से रिक्त हो गया और भारत की वर्तमान सरकार को मुद्रा-प्रसार करके अपना काम चलाना पड़ा। मुद्राप्रसार युद्ध काल में पहिले भी काफी मात्रा में हो चुका था और फिर काम चलाने के लिये जो मुद्रा-प्रसार करना पड़ा इससे रुपये का अवमूलन और चीजों के दामों में वृद्धि हो गई। इस मंहगाई के फलस्वरूप देश में काला बाज़ार हुआ, रिश्वतें बढ़ीं, कंट्रोल लगे और एक अशान्ति का वातावरण पैदा हो गया।

यह रही आर्थिक समस्या। आर्थिक समस्या के अतिरिक्त भारत की वर्तमान स्वतंत्र सरकार के सम्मुख सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक समस्यायें भी हैं। भारत स्वतंत्र होने पर भारत का विभाजन हुआ और देश में एक साथ उच्छृङ्खलता फैल गई। हिन्दुओं का पाकिस्तान से आना और मुसलमानों का पाकिस्तान जाना एक

इतना बड़ा कार्य सरकार के सम्मुख आ गया कि देश भर में एक अशांति की लहर दौड़ गई। देश की आर्थिक अवस्था पहिले ही बिगड़ी हुई थी और फिर उस पर यह नया दबाव पड़ा। यह समस्या केवल इधर उधर आने जाने तक ही सीमित नहीं रही वरन् इस अशाँति में वह मार-काट मची कि हिन्दुओं ने मुसलमानो को और मुसलमानों ने हिन्दुओं को गाजर-मूली की तरह काट-काट कर फैंक दिया। पाकिस्तानी साम्प्रदायिक नीति के और उज ली हुई अंग्रेजी सत्ता के फल-स्वरूप यह जो कुछ भी हुआ भारत सरकार ने इसे शाँति पूर्वक सहन किया और अन्त मे अपने देश में शांति स्थापित करने में वह सफल हो गयी। भारत में आने वाले शरणार्थियों को पर्याप्त सहायता दी गई और भारत की जनता ने भी जी खोल कर उस कार्य में सरकार का हाथ बटाया।

तीसरी विकट समस्या भारत के सम्मुख रियासतों की थी। अंग्रेजी सरकार ने जाते समय भारत का विभाजन तो किया ही, साथ ही साथ भारत की रियासतों को भी एकदम स्वतंत्र कर दिया और इस प्रकार भारत के सम्मुख एक नवीन समस्या खड़ी हो गई। रियासतों के निरंकुश राजाओं ने विचारा कि चलो अंग्रेजों से मुक्त होकर निरंकुश शासन करने का यह उन्हें अवसर मिल गया। परन्तु सरदार पटेल ने रियासतों की समस्या को जितने सुन्दर ढंग से सुलझाया उसे देख कर विश्व चकित रह गया। सरदार पटेल ने थोड़े से ही समय में सब रियासतों में जनतंत्रात्मक संस्थाओं को शक्तिशाली बनाकर शासन सत्तायें उन्हीं के हाथों में सौंप दीं और रियासतों से निरंकुशता का सर्वदा के लिये अन्त हो गया। सब रियासतों से जूनागढ़, हैदराबाद और काश्मीर की समस्यायें तनिक विचित्र सी रहीं परन्तु उनका भी हल हमारी सरकार ने उत्तम ही निकाला। जूनागढ़ और हैदराबाद की समस्यायें समाप्त हो चुकीं, काश्मीर की समस्या लटक रही है।

आशा है निकट भविष्य में वह भी समाप्त हो जायेगी। इस प्रकार रियासतों की दिशा से भारत-राष्ट्र कभी इतना सुदृढ़ नहीं हुआ जितना आज है।

इन तीन समस्याओं पर विचार करके अब हम भारत के भविष्य पर विचार करेंगे। जहाँ तक भारत की विदेशी नीति का सम्बन्ध है भारत संसार के संघर्ष से मुक्त रहना चाहता है। आज विश्व राजनैतिक दृष्टिकोण से दो पक्षों में बँटा हुआ है, एक एङ्गलो अमरीकन पक्ष और दूसरा सोवियट रूस का पक्ष। भारत सरकार दोनों से ही मिलकर विश्व में शांति रखना चाहती है। अभी तक वह अपनी उस नीति में सफलता पूर्वक चल रहा है। भारत की यही नीति भारत को संसार में सम्मानपूर्ण स्थान पर स्थाई रखेगी। आज विश्व की समस्याओं में भारत राष्ट्र का विशेष स्थान बन चुका है और पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी योग्यता से हर विदेशी निति में भारत के नाम को बढ़ाया है।

भारत की अन्दरुनी समस्याओं में सब से विकट समस्या आर्थिक ही है। भारत-सरकार राष्ट्र की उत्पादन शक्तियों की उन्नति पर विशेष ध्यान दे रही है और निकट भविष्य में ही आशा की जाती है कि भारत की उत्पादन शक्ति उसकी आवश्यकताओं से किसी प्रकार की कमी नहीं रहेगी बल्कि यह आवश्यकता पड़ने पर संसार के अन्य भागों को दे भी सकेगा। नये २ उद्योग-धन्धों की उन्नति की जा रही है। सरकार कृषि विभाग पर विशेष बल दे रही है। ज़मीदारी-उन्मूलन से कृषक अपनी भूमि पर विशेष ध्यान और मेहनत से काम करेगा और इस प्रकार देश में अधिक अन्न उत्पन्न होगा। देश के कल कारखानों की तरफ भी सरकार ध्यान दे रही है। बिजली बनाने के नये कारखाने बहुत बड़े पैमाने पर सरकार लगा रही है जिनके बन जाने पर यह सन्सार के सर्वोच्च देशों से भी आगे

निकलने की अपने में क्षमता रखेगा। देश में जहाज़ बनाने और ऐंजिन बनाने के कारखाने सरकार ने चालू कराये हैं जिनमें कई जहाजों ने बनकर भारत के समुद्री बेड़े का शक्ति को बढ़ाया है। इस प्रकार भारत उत्पादन और व्यापार दोनों ही दिशाओं में समुचित उन्नति कर रहा है।

भारत के सामने सामाजिक और धार्मिक समस्यायें भी हैं। भारत की वर्तमान सरकार ने भारत के हर नागरिक को सामाजिक क्षेत्र में समान अधिकार दिया है। छुआछूत की समस्याओं को सरकार ने अपने हाथों में लेकर उनका अन्त कर दिया है। धर्म को राजनीति के क्षेत्र से निकाल कर बाहर कर दिया और यही कारण है कि भारत में धर्म के नाम पर रक्तपात होने की सम्भावना भविष्य में नहीं रह गई है। भारत में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने मतानुसार धर्म पालन का पूर्ण अधिकार है। वह जिस धर्म को जी चाहे पालन कर सकता है। भारत का भविष्य इस प्रकार सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में उज्जवल ही है। हिंदूकोडबिल के पास हो जाने से हिंदू समाज में व्यापक अनेकों बुराइयां समाप्त हो जायेंगी और मानव रूढिवाद से मुक्त होकर प्रगति की ओर अग्रसर होगा। मानव जीवन से धर्म के नाम पर पैदा होने वाला व्यर्थ का संघर्ष मिटजायेगा और व्यक्ति को अपने २ धर्म में स्वतन्त्र रूप से आस्था रखने का अवकाश मिलेगा। वह मुक्त होकर परमेश्वर में अपनी आस्था बढ़ा अथवा घटा सकेगा क्योंकि इस दिशा में उसके ऊपर कोई किसी प्रकार का समाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक अंकुश नहीं रहेगा। यज्ञ हवन इत्यादि में जिस की श्रद्धा होगी वह करेगा। और जिस की नहीं होगी वह नहीं करेगा। कोई किसी को इन दिशाओं में बाध्य करने वाला नहीं होगा। समाज में मज़दूर और किसानों का स्तर पहिले की अपेक्षा ऊंचा हो जायेगा। वर्ग समस्या

यदि मिटेगी भी नहीं तो शोषण की भावना का अवश्य अन्त हो जायेगा। निठल्ले व्यक्तियों का समाज में अनादर और मेहनती व्यक्तियों का आदर होगा। निठल्ले जीवन में दुखी रहेंगे और मेहनत करने वाले सुखी। आज निठल्ले आनन्द का उपभोग करते हैं और मेहनती भूखे मरते हैं, यह दशा बिलकुल बदल जायेगी।

भारत में शिक्षा का प्रचार दिन प्रति दिन बढ़ रहा है और बढ़ता ही जायेगा। भारत का नागरिक शिक्षित होकर अपने राष्ट्र को समुन्नत बनायेगा और देश से जड़ता का प्रस्थान होगा। देश हर प्रकार की विद्या-कला में उन्नति करेगा और भारत के विद्यार्थी विदेशों से वहाँ की विशेषता सीख कर आयेंगे और उस विशेषता को भारत के लिये उपयोगी बनायेंगे। सरकार इस दिशा में बहुत प्रयत्नशील है। विद्या के प्रसार से भारत की प्राचीन संस्कृति का एक बार फिर से उदय होगा और भारत के विद्वान सन्सार को असंघर्षोन्मुखता की ओर ले जायेंगे। हिन्दी भारत की राष्ट्र भाषा बन चुकी है। विश्व में इस का आदर होगा और देश देशाँतरों के विद्यार्थी भारत के विश्व विद्यालयों में आकर हिन्दी के माध्यम द्वारा विद्या अध्ययन करेंगे। इस प्रकार भारत का गौरव देश देशांतरों मे फैलेगा और भारतीय विचार-धारा की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। भारत में अंगरेजी का वही स्थान रह जायेगा जो जर्मनी, फ्रांसीसी और रूसी इत्यादि भाषाओं का होगा।

इस प्रकार हमने देखा कि भारत उन्नति के पथ पर है और भविष्य में उन्नति की ही सम्भावना है। भारत राजनैतिक, आर्थिक, समाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक शिक्षा तथा कला इत्यादि की दिशा में उन्नति कर रहा है और करने की आशा है। भारतीय शासन सत्ता भारत राष्ट्र को एक उन्नत राष्ट्र बनाने के लिये प्रयत्न शील है। भारत का सुरक्षा विभाग भी उन्नति कर रहा है परन्तु राष्ट्र का भारस्वरूप बन कर नहीं। अंगरेज-कालीन व्यवस्था आज नहीं है। आज राष्ट्र

अपना है और इसका रहने वाला हर व्यक्ति राष्ट्र का सैनिक है। आज विद्यालयों में भी सैनिक शिक्षा पहिले की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में प्रारम्भ हो चुकी है और इस प्रकार एक ऐसी सेना बनती जा रही है जो भारत की रक्षा के लिये सर्वदा प्रयत्नशील रहेगी। आज के युग का सैनिक केवल वेतन के प्रलोभन पर पलने वाला सैनिक नहीं है बल्कि वह भारत-राष्ट्र का सब से बड़ा सेवक है; जो समय पड़ने पर अपने प्राणों का बलिदान देने के लिये सर्वदा उद्यत रहता है। आज भारत की हर व्यवस्था में अपनापन है, राष्ट्रीयता है और इसी लिये उसमें शक्ति है, बल है, प्रगति है और इसलिये भारत का एक उज्ज्वल भविष्य है।

विषय पर संक्षिप्त विचार :—

१. भारत विभाजन और देश की समस्यायें।
२. शरणार्थियों की समस्या और धार्मिक उपद्रव।
३. भारत की रियासतों की विकट समस्या।
४. भारत के सम्मुख आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक समस्या तथा उनका हल।
५. भारत के उद्योग धन्धों, कृषि, शिक्षण इत्यादि को सरकार का प्रोत्साहन।
६. भारत का भविष्य।

परिचयात्मक विषय

विश्व के प्रधान राष्ट्र

अमेरिका—अमेरिका आज संसार का सब से धनाढ्य देश माना जाता है। मार्शल-योजना द्वारा यह योरोप के अनेकों देशों को सहायता पहुँचा रहा है। यहाँ पर प्रजातंत्र शासन है और देशकी प्रवृत्ति व्यापारिक है। देश की एक काँग्रेस है और उसका प्रधान ही राष्ट्र का प्रधानाधिकारी है। इस प्रदेश का अन्वेषण कोलम्बस नामक यात्री ने किया था और वाशिंगटन ने इसे इङ्गलैन्ड की पारलियामेन्ट द्वारा शासित होने से मुक्ति दिलवाई थी। लिंकन ने यहाँ की दासता के विपरीत विद्रोह करके इसे सुसंगठित किया और रूज़वेल्ट के समय में यह देश संसार के प्रधान देशों में गिना गया। आज यह देश विज्ञान, व्यापार और सब प्रकार से संसार का सर्वोच्च देश है। रूस अमेरिका का प्रतिद्वन्दी है और इसकी महानता को नहीं मानता।

विदेशी नीति—गत महायुद्ध में डिक्टेटरशिप के विरुद्ध अमेरिका युद्ध क्षेत्र में उतरा और अन्त में उसको कुचलने में सम्पन्न हुआ। आज संसार की शक्ति दो क्षेत्रों में विभाजित है एक काम्यूनिज़्म और दूसरी प्रजातंत्रवादी। अमेरीका प्रजातंत्रवादी शक्ति का संचालक है और इङ्गलैन्ड तथा योरोप के अनेकों देश इसके साथ हैं।

इङ्गलैन्ड—सन् १९१४ के युद्ध में इङ्गलैन्ड का स्थान संसार में प्रथम था। उस युद्ध में यह विजयी रहा और इसकी शक्ति का प्रसार समस्त संसार में हुआ। इस महायुद्ध के पश्चात ब्रिटिश साम्राज्य

समाप्त हो गया और भारत इत्यादि देश स्वतंत्र होगये। भारत इत्यादि के साम्राज्य से निकल जाने पर इङ्गलैंड आज संसार की बड़ी शक्तियों में नहीं रह गया है। वह एक साधारण सी शक्ति है परन्तु फिर भी उसका गठबंधन अमेरिका के साथ बहुत दृढ़ है और साथ ही भारत पाकिस्तान इत्यादि देशों के साथ भी उसके सम्बन्ध सुरक्षित हैं। इस लिये अभी संसार की राजनीति में उसका हाथ है। इङ्गलैन्ड में पारलियामेन्ट का प्रजातंत्रशासन है जिसका एक प्रधान मंत्री होता है और वही देश के शासन की बागडोरें संभालता है। राजा यहाँ है अवश्य, परन्तु नाम मात्र के लिये।

विदेशी-नीति—गत महायुद्ध के पश्चात इङ्गलैन्ड की साम्राज्य-वादी नीति समाप्त हो गई। इस समय इङ्गलैन्ड की अपनी पृथक कोई वैदेशिक राजनीति नहीं है बल्कि इसकी वैदेशिक राजनीति का संचालन अमेरिका से होता है। आजकल ऐंगलो अमेरिकन पैक्ट है और इसके अनुसार रूस के विरुद्ध प्रचार तथा शक्ति-संगठन करना इनकी नीति का प्रधान अंग है। यह भारत विभाजन करके इङ्गलैन्ड पाकिस्तान और हिन्दोस्तान का मुखिया बना रहना चाहता था परन्तु भारत की संसार के झगड़ों से पृथक रहने की नीति ने इंगलैन्ड की इस मनोकामना को पनपने से रोक रखा है।

जर्मनी—गत महायुद्ध से पूर्व जर्मनी का संसार की राजनीति में विशेष स्थान था। १९१९ की वार्साई की संधि मे जर्मनी को बिलकुल कुचल दिया गया था। ऐसी हीन परिस्थिति में यहाँ पर हिटलर ने नाज़ी पार्टी को जन्म दिया और इस पार्टी ने सभी क्षेत्रों में उन्नति की। इसी पार्टी के बल से इटली की भाँति जर्मनी में भी हिटलर ने डिक्टेटर बनकर सब शक्तियों को अपने हाथों में ले लिया। सब शक्तियों को हाथों में लेकर हिटलर ने जर्मनी के विज्ञान और व्यापार की इतनी उन्नति की कि यह संसार के देशों में फिर अग्रणीय गिना जाने लगा।

जर्मनी की शक्ति बढ़ जाने पर हिटलर को इतना अभिमान हो गया कि वह विश्व को विजय करने के स्वप्न देखने लगा। परन्तु हिटलर का यह स्वप्न सत्य न हो सका और जर्मनीकी समस्त शक्तियों का गत महायुद्ध में सर्वनाश हो गया।

विदेशी-नीति—आज जर्मनी की कोई विशेष विदेशी नीति नहीं है क्यों कि गत महायुद्ध में जर्मनी की शक्ति एकदम समाप्त हो चुकी थी। आज आधा जर्मनी रूसी प्रभाव में है और आधा ऐंगलो अमरीकन। संसार की विदेशी नीति पर आज जर्मनी का कोई महत्व-पूर्ण प्रभाव नहीं है।

फ्रांस—संसार की राजनीति में फ्रांस को सर्वप्रथम लाने का महत्व नेपोलियन बोनापार्ट को है। रूसो और वाल्टेयर ने जनता में वहाँ के राजा लुई के विरुद्ध भावना का प्रचार किया और प्रजा को उत्तेजित करके लुई को मरवा दिया। लुई के मरने पर वहाँ प्रजातंत्र शासन की स्थापना हुई और नेतृत्व नेपोलिय के हाथों में आया। नेपोलियन ने अपने देश में जागृति की, देश का सम्मान योरुप में बढ़ाया और साम्राज्य-स्थापना की ओर पग बढ़ाया। उस समय इङ्गलैन्ड भी फ्रांस की शक्ति से थर्राने लगा। नेपोलियन में भी विश्व-विजय की भावना पैदा हो गई और उसी के फलस्वरूप उसे अन्य राष्ट्रों से टक्कर पर टक्कर लेनी पड़ीं। वाटरलू के युद्ध में नेपोलियन की हार हुई और १२ वाँ लुई फिर से राज पद पर स्थापित हुआ। गत महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों ने फ्राँस के अस्तित्व की रक्षा की। वहाँ इस समय इङ्गलैन्ड जैसा प्रजातन्त्र शासन चल रहा है।

विदेशी नीति—प्रारम्भ में इस देश की साम्राज्यवादी नीति थी। भारत में भी इसने अङ्गरेजों के साथ साथ अपने पैर जमाने का प्रयत्न किया था परन्तु वह सफल न हो सका था। इस समय यह राष्ट्र-संघ का मैम्बर है और संसार की स्वतंत्रता और उन्नति की ओर ही इसका

ध्यान है। संसार की राजनीति में आज इस देश का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

स्पेन—स्पेन योरोप के राष्ट्रों में विशेष स्थान रखता है। इङ्गलैंड की रानी एलिज़बेथ से पूर्व स्पेन का जहाजीबेड़ा योरोप में सबसे महत्व-पूर्ण समझा जाता था। एलीज़बेथ के समय में उसकी पराजय हुई और उसका महत्व समाप्त हो गया। गत महायुद्धों में स्पेन मित्र राष्ट्रों के साथ रहा। यहाँ आज जनरल फ्रैंको राज्य करता है।

विदेशी-नीति—स्पेन की विदेशी नीति साम्राज्यवादी रही है। आज विश्व की राजनीति में स्पेन का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

स्काटलैन्ड—इङ्गलैन्ड और स्काटलैन्ड में चिरकाल तक युद्ध होता रहा और अन्त में जेम्स प्रथम के समय में दोनों मिलकर एक हो गये। अङ्गरेजी सेना के गोरे स्काटलैन्ड के ही रहने वाले हैं।

विदेशी-नीति—आज स्काटलैन्ड की विदेशी नीति इङ्गलैन्ड के ही साथ है।

आयरलैन्ड—आयरलैन्ड चिरकाल तक अङ्गरेजों के आधीन रहा। आयरलैन्ड के कैथोलिक रहने वाले इङ्गलैन्ड के प्रोटैस्टैन्ट शासकों से शासित होकर नहीं रहना चाहते थे। इसी लिये संघर्ष चला और वहाँ के रहने वालों ने अपने जन्म-सिद्ध अधिकारों के लिये युद्ध किया। अमरीका के स्वतंत्रता प्राप्त करने पर आयरलैन्ड में और ज्वाला धधकी। पिट के मंत्री-काल में आयरलैन्ड को इङ्गलैन्ड में मिला कर कुछ अधिकार दिये गये परन्तु संघर्ष शाँत न हो सका। अंत में १९२२ तक इङ्गलैन्ड को आयरलैन्ड स्वतंत्र करना पड़ा और उस समय से यह एक स्वतंत्र राष्ट्र है।

विदेशी-नीति—आयरलैन्ड अपनी धार्मिक नीति में इङ्गलैन्ड के विरुद्ध रहा है। जब तक इनका आपसी संघर्ष चलता रहा तब तक

आयरलैन्ड फ्राँस के साथ मिलकर इङ्गलैन्ड से बदला लेने का भी प्रयत्न करता रहा परन्तु जब से आयरलैन्ड स्वतन्त्र है तब से इङ्गलैंड और आयरलैंड में सद्भावनायें चल रही हैं।

इटली—इटली में जब साम्यवाद का प्रचार हो रहा था तो यहां पर मुसोलनी की शक्ति का उदय हुआ। मुसोलनी ने यहाँ पर साम्यवाद को कुचलकर इस देश को संसार की राजनीति में विशेष महत्वपूर्ण स्थान पर पहुंचाया। गत महायुद्ध में जर्मनी में जो स्थान हिटलर का था वही इटली में मुसोलनी का था। विश्व की राजनीति में जर्मनी के पतन के साथ इटली का भी पतन हो गया।

विदेशी-नीति—जर्मनी की भाँति यह देश भी एबेसीनिया इत्यादि देशों पर अपना साम्राज्य फैलाना चाहता था। आज यह राष्ट्र-संघ का मेम्बर भी नहीं है और गत महायुद्ध के पश्चात् इसका राजनैतिक महत्व समाप्त हो चुका है।

दक्षिणी अफ्रीका—अफ्रीका के प्रधान निवासी हब्शी हैं परन्तु यहाँ पर अन्य देशों के बहुत से आदमी जाकर बस गये हैं और वह अब यहीं के नागरिक हो गये हैं। अफ्रीका पहिले अंग्रेज़ों के आधीन था परन्तु १९०६ में इसे स्वतंत्र कर दिया गया। आज वहां के विभिन्न उपनिवेशों का संयुक्त राष्ट्र है। यहां बोअर अपना स्वतंत्र राज्य बनाये हुए हैं। भारत निवासी जो लोग वहाँ रहते हैं उनके साथ वहां के शासकों का बर्ताव अच्छा नहीं है। महात्मा गांधी ने भारतीयों के अधिकार और मान की रक्षा के लिये वहाँ जाकर दो बार सत्याग्रह किया था। भारत इस प्रश्न को राष्ट्र-संघ के समक्ष भी ले गया, और निर्णय भी भारत के पक्ष में हुआ, परन्तु आज तक भी लाभ कुछ न हो सका।

विदेशी-नीति—दक्षिणी अफ्रीका की कोई विदेशी स्वतंत्र नीति

नहीं है और ना ही संसार की वैदेशिक-नीति में उसका कोई महत्व-पूर्ण स्थान ही है। वहां पर जो काले गोरे की भावना आज तक वर्तमान है उसके कारण सभ्य जातियों में उसका कोई विशेष स्थान नहीं है। यहां की परराष्ट्र नीति इङ्गलैंड द्वारा संचालित होती थी। परन्तु १९२६ से परराष्ट्र नीति में भी इसे स्वतंत्रता मिल गई है।

आस्ट्रेलिया—लगभग १७७० में कैप्टिन कुक ने इस देश का पता लगाया। यहां सोने की खानें हैं और आज कल गेहूं के उपज का प्रधान क्षेत्र है। यह देश चिरकाल तक अंग्रेजों का उपनिवेश रहा और १८५० में स्वतन्त्र हुआ। यहां पर इस समय प्रजातन्त्र राज्य है। यहां पर पृथक पृथक उपनिवेश स्वतन्त्र हैं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के लिये एक संयुक्त पारलियामेंट द्वारा शासित होते हैं।

विदेशी-नीति—संसार की विदेश-नीति में इसका कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है परन्तु व्यापारिक दृष्टिकोण से यह देश महत्वपूर्ण है। सोना, गेहूं, ऊन इत्यादि का केन्द्र होने के कारण व्यापार में इसका विशेष हाथ है। इसकी नीति दक्षिणी अफ्रीका से मिलती-जुलती है।

रूस—आज रूस किसी भी प्रकार अमरीका से कम नहीं है। रूस की शक्ति का प्रभाव इस समय संसार भर पर है और इसी कारण-वश अमरीका तथा इङ्गलैंड बारबार गुट बन्दी और पैक्ट बनाते फिरते हैं। मार्कस के सिद्धांतानुकूल रूस में काम्यूनिस्ट धाराओं पर साम्य-वादी शासन संचालित है। लैनिन ने साम्यवाद की स्थापना की और इसे बालशविज्म के अत्याचारों से बचाया। लैनिन के सिद्धांतों का प्रचार ट्राटस्की ने किया। फिर इसकी बागडोरें स्टालिन के हाथों में आ गईं और गत महायुद्ध में जर्मनी के खिलाफ युद्ध में विजय प्राप्त करके रूस ने संसार की राजनीति में प्रधान पद प्राप्त कर लिया। आज विश्व की राजनीति में अमेरिका और रूस दो प्रधान शक्तियां हैं।

विदेशी-नीति—रूस का सिद्धाँत है कि वह संसार भर में काम्यूनिज्म का प्रचार हर अच्छे और बुरे तरीके से करना चाहता है। रूस चाहता है कि संसार भर में साम्यवाद का प्रचार करके स्टालिन को विश्व का नेता बनाया जाये। चीन में गृह युद्ध कराना रूस के प्रचार का ही कार्य था। फिर यह झगड़े इन्डोनीशिया, बर्मा और कोरिया में हुए। भारत में भी काम्यूनिस्ट पार्टी कार्य कर रही है और उसे रूसी सरकार की ओर से सहायता मिलती है। संसार की राजनीति में अमेरिका रूस का प्रधान प्रतिद्वंदी है और दोनों का प्रत्यक्ष रूप से न सही अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिद्वंद बड़े ज़ोर से चल रहा है। कोरिया का युद्ध इन्हीं दोनों शक्तियों की प्रतिद्वंद्विता का परिणाम है।

चीन—मार्शल च्यांकाई शेक ने चीन को प्रजातंत्र बनाकर विश्व की राजनीति में स्थान दिलाया था। चीन के गृह-युद्ध में शान्ति स्थापित करना च्यांकाई शेक का ही काम था। जापान के साथ युद्ध में भी और गत महायुद्ध में भी चीन की राजनीति का संचालन मार्शल च्यांकाई शेक ने ही मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर किया। इस समय चीन पर काम्यूनिस्ट सत्ता का प्रभुत्व है और मार्शल च्यांकाई शेक का आज वहां कोई स्थान नहीं।

विदेशी नीति—चीन इस समय काम्यूनिस्ट विचारावलम्बी देश है और उसकी विदेशी नीति पर रूस का प्रत्यक्ष प्रभाव है। आज की राजनीति में चीन का महत्व बहुत बढ़ता जा रहा है और जब से चीनी सेनाओं ने कोरिया में घुसकर यू० एन० ओ० की सेनाओं को पीछे धकेल दिया है तब से तो चीन विश्व की राजनीति का केन्द्र बन गया है। आज का चीन विश्व की राजनीति में विशेष स्थान रखता है।

जापान—जापान गत युग में देश-भक्ति, कलाकौशल, व्यापार और राजनैतिक संगठन का केन्द्र रहा है। मुसोलनी और हिटलर की तरह वहां पर भी तोजो का महान प्रभुत्व था। गत महायुद्ध में आटम बम

गिरा कर अमरीका ने यहां की शक्ति को छिन्न भिन्न किया। आज जापान एक प्रकार से अमरीका के ही आधीन सा है। यों कहने को वहाँ पर इस समय एक राजा का राज्य है, प्रजातंत्र शासन नहीं। गत महायुद्ध में इसकी शक्ति का ह्रास होने के पश्चात् यह अभी तक अपने को नहीं संभाल पाया है।

विदेशी नीति—आज विश्व की राजनीति में इसका कोई स्थान नहीं गत महायुद्ध में जापान विश्व की महानतम शक्तियों में गिना जाता। आज यह संयुक्त राष्ट्र-संघ का मैम्बर भी नहीं है।

इन्डोनीशिया—इन्डोनीशिया एक युग की पराधीनता के पश्चात् अब स्वतंत्र हुआ है। वहाँ पर इस समय प्रजातंत्रात्मक राज्य है और वह देश मित्र राष्ट्रों के साथ विश्व की राजनीति में सहयोग के साथ चल रहा है। इन्डोनीशिया में भी काम्यूनिज्म की विचारधारा वेगवती होना चाहती है। पिछले दिनों काम्यूनिस्टों द्वारा किये गये विद्रोह को सरकार ने दबा दिया और राष्ट्र में शान्ति स्थापित कर दी।

विदेशी-नीति—इन्डोनीशिया विदेशी नीति में भारत तथा अन्य मित्र राष्ट्रों के साथ सहयोग से चल रहा है। छोटा देश अवश्य है परन्तु इसका स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। यदि यहाँ पर काम्यूनिस्ट विचारावलम्बी सरकार हो जाये तो एङ्गलो अमरीकनों को जापान इत्यादि स्थानों तक पहुँचने में कठिनाई उपस्थित हो सकती है और इस प्रकार ऐशिया के एक बड़े भाग से उनका प्रभाव समाप्त हो सकता है। इस प्रकार इन्डोनीशिया की राजनैतिक परिस्थिति बहुत महत्वपूर्ण है।

बर्मा—बर्मा का प्राचीन नाम ब्रह्मवर्त है जो कि आदि युगों में भारत का ही एक भाग रहा है। यहाँ पर बुद्ध भगवान ने चीन, जापान की भांति बुद्ध धर्म का प्रचार किया। अङ्गरेजी शासन काल में

यह अङ्गरेजों के आधीन रहा परन्तु गत महायुद्ध के पश्चात् भारत की ही भाँति यह भी स्वतंत्र हो गया । मि० थाकिन नू ने बर्मा को स्वतंत्र कराके प्रजातंत्र शासन स्थापित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया। स्वतंत्र होते समय यहां पर भी उपद्रव हुआ परन्तु सरकार ने उसे अपने वश में कर लिया। इस देश में आज भी गड़बड़ चल रही है और आर्थिक दशा भी कोई विशेष-संतोष जनक नहीं है।

विदेशी नीति—बर्मा मित्र-राष्ट्रों के साथ रह कर अपनी नव-प्राप्त शक्ति का संचालन करना चाहता है। विश्व की राजनीति में इसका विशेष स्थान नहीं है परन्तु जब से चीन साम्यवादी हो गया है और कोरिया में उसका आक्रमण हो गया है तब से बर्मा की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण हो गई है। अब बर्मा की राजनीति दिन प्रतिदिन बदल रही है और यहां के साम्यवादियों का चीनी साम्यवादियों के साथ सम्पर्क हो जाने पर भय का कारण पैदा होता जा रहा है। बर्मा की पार्लियामेंट के प्रधान साम्यवादी विचारधारियों ने इस्तीफे देकर अपने को मुक्त कर लिया है और कोरिया की परिस्थिति पर विशेष उत्सुकता के साथ दृष्टि गड़ा कर बैठ गये हैं। निकट भविष्य में बर्मा में कोई राजनैतिक संघर्ष उत्पन्न होगा ऐसा राजनीतिज्ञों का मत है।

भारत वर्ष—१५ अगस्त १९४७ को भारत अंगरेजों की पराधीनता से मुक्त हुआ। भारत के भारत और पाकिस्तान में विभाजन होने और मुस्लिम लीग के साम्प्रदायिक ज्वाला को प्रज्वलित करने के फलस्वरूप भारत में धार्मिक मार-काट हुई, शरणार्थियों की समस्या सामने आई परन्तु उन सब को भारत सरकार ने योग्यता पूर्वक वश में कर लिया। अङ्गरेजी सरकार के जाने पर भारत सरकार ने भारत की रियासतों की तानाशाही को समाप्त करके जनतंत्रात्मक सत्तायें वहाँ पर स्थपित कर दी हैं और इस प्रकार भारत राष्ट्र के संगठन को बहुत सुदृढ़ कर दिया है। भारत राष्ट्र आज से पूर्व कभी इतना सुदृढ़

नहीं बन सका था। आज भारत में अपना शासन-विधान है और उस के अनुसार डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद भारत के प्रधान तथा पं० जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रधान मंत्री हैं। सरकार शिल्प, विद्या, विज्ञान कृषि इत्यादि सभी दिशाओं में प्रयत्नशील है।

विदेशी नीति—आज भारत एशिया की राजनीति में विशेष महत्व-रखता है। पं० जवाहरलाल का स्थान आज विश्व की राजनीति में महत्वपूर्ण है। भारत मित्र-राष्ट्रों के साथ रहते हुए भी संसार के किसी भी देश के साथ संघर्ष में नहीं आना चाहता। इसकी अपनी स्वतंत्र नीति है जो हर प्रकार से भारत की उन्नति में सहायक है।

पाकिस्तान—पाकिस्तान की स्थापना मि० जिन्हा द्वारा हुई। यह मुसलमान-प्रधान राज्य है जिसकी स्थापना आज के युग में धार्मिक आदर्शों पर हुई है। पाकिस्तान के बनने से भारतवर्ष के हिंदू और मुसलमानों की बहुत बड़ी आर्थिक और जन-माल की हानि हुई है। भारत और पाकिस्तान अभी तक उस गलती को भर रहे हैं और दोनों देश अपनी स्थिति को नहीं संभाल पाये हैं। भारत में प्रजातन्त्र शासन है।

विदेश नीति—पाकिस्तान अपनी विदेश-नीति में कुटिलता को लेकर चल रहा है परन्तु वह उसमें सफल नहीं हो रहा। जूनागढ़, हैदराबाद और काश्मीर में उसकी कुटल-नीति असफल सिद्ध हो चुकी है। पाकिस्तान के सम्मुख इस समय पख्तूनिस्तान की बड़ी भारी समस्या है और उसके कारण अफगानिस्तान से उसके सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं। खान भाईयों को जेल में ठूंसे रखने के कारण भारत सरकार भी पाकिस्तान की नीति से प्रसन्न नहीं है, पाकिस्तान की विदेशी नीति कोई विशेष नहीं है और ना ही वह रूस अथवा ऐंग्लो अमरीकन किसी विशेष ग्रुप की ओर झुकी हुई है। वह इस क्षेत्र में भी कुटिलता से ही काम लेकर जिससे जितना अपना लाभ हो, आदर्श विहीन हो

कर उस नीति को अपना रहा है। बेपैंदी के लोटे के समान वह विदेशी नीति में चल रहा है।

अफगानिस्तान—अफ़गानिस्तान के रहने वाले पठान हैं और वहाँ का प्रबन्धक एक बादशाह है। अफगानिस्तान इस समय पख्तूनिस्तान का समर्थक है और इस मामले में पाकिस्तान के साथ इसका बहुत बड़ा मतभेद चल रहा है। भारत से आज कल अफगानिस्तान का मैत्री-भाव है और हर प्रकार की सद्भावनायें दोनों देशों में वर्तमान हैं।

टर्की—टर्की की शक्ति को सर्व-प्रथम कमाल पाशा ने सुसंगठित और सुव्यवस्थित किया। टर्की के वैभव को विकसित किया। कमालपाशा से पूर्व यह देश योरोप का बीमार (Sick man) कहलाता था। विश्व की राजनीति में इसका कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। पहले महायुद्ध में यह जर्मनी के साथ था।

मिश्र—मिश्र पर पहिले टर्की का गवर्नर राज्य करता था। बाद में यहाँ का गवर्नर स्वतंत्र हो गया और उसने मिश्र को स्वतंत्र घोषित कर दिया। सन् १८८२ में इस्माइल पाशा के समय में इस पर अंगरेजों का अधिकार हो गया। एक बहुत बड़े संघर्ष के पश्चात सन् १९२२ में यह पूर्ण स्वतंत्र हुआ। गत युद्ध में इसने टर्की को सहायता दी जिसके कारण इसके राजा को गद्दी से उतार दिया गया था। फ़िलिस्तीन के युद्ध में इसने यहूदियों के विरुद्ध अरबों को सहायता दी। बड़ा राष्ट्र न होने के कारण विश्व की शांति अथवा अशांति में यह कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखता।

हिंदी के कवि और लेखक

चंद बरदाई—(सं० १२२५-१२४६) यह हिन्दी के प्रथम महा कवि माने जाते हैं। पृथ्वीराज रासो इनका प्रधान ग्रंथ है। यह ग्रन्थ दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज की प्रशंसा में लिखा गया है। ६६ समयों का यह ढाई हज़ार पृष्ठों का बृहद् ग्रन्थ है।

जगनिक—(सं० १२३०) जगनिक ने देशज भाषा में मोहबे के दो देश प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल का गुण गान किया है। यह ग्रंथ आल्हा के नाम से प्रसिद्ध है। मूलग्रन्थ का कहीं पर पता नहीं परन्तु भारत के गांव गांव में यह काव्य आज भी बड़ी रोचकता के साथ गाया जाता है।

खुसरो—(सं० १२४१) यह अपने समय में फारसी के अच्छे कवि थे। इनकी कविता में मस्खरापन पाया जाता है। इनका मृत्यु सं० १३८१ है। दोहे, तुकबन्दियाँ और पहेलियाँ इनकी लिखी हुई मिलती हैं। इनकी कविता में व र्तमान खड़ी बोली का प्राचीनतम रूप मिला है।

विद्यापति—(सं० १४६०) यह मैथिल कोकिल कहलाते हैं और इनकी गीतात्मक रचनायें मैथिल में ही हैं। बँगला वाले इन्हें अपना कवि मानने का काफ़ी समय तक प्रयास करते रहे परन्तु यह हैं वास्तव में हिन्दी के कवि। इनकी कविता में राधाकृष्ण का विहार विषय है, जयदेव की प्रणाली है। यह भक्त कवि नहीं थे वैष्णव कवि थे। हिन्दी में सर्व प्रथम आपने गीतात्मक काव्य लिखा। विद्यापति राजा शिवसिंह के दर्बार में रहते थे।

कबीर—(जन्म काल सं० १४५६) कहते हैं विधवा के गर्भ से इन का जन्म हुआ है पालन पोषण एक जुलाहे ने किया। कबीर की वाणी

'निर्गुण' पंथ को लेकर चली है। इनकी कविता में रहस्यवाद मिलता है और इनके पन्थ में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों मिलते हैं। आपने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों का समन्वय अपनी वाणी में किया है। बीजक इन का प्रधान ग्रन्थ है।

मलिक मोहम्मद जायसी—यह सूफी प्रेम तत्व के प्रतिपादक थे। पद्मावत इनका प्रधान ग्रन्थ है जिसमें हिन्दू आख्यायिकाओं द्वारा सूफी प्रेम की भावना को प्रचारित किया गया है। इनका समय सं० १५२० के लगभग है। पद्मावत हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, रामचरित मानस के बाद दूसरा स्थान रखता है।

गोस्वामी तुलसीदास—तुलसीदास जी रामनन्दी भक्त-परम्परा के भक्त कवि थे जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भारत के कोने २ में राम-नाम का प्रचार किया। आपने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार किया और रामायण की रचना करके हिन्दी साहित्य में भी सर्वोच्च पद प्राप्त किया। गोस्वामी जी का प्रादुर्भाव १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ। आपके लिखे हुए १२ ग्रंथ उपलब्ध हैं जिनमें पांच बड़े और सात छोटे हैं। रामचरित मानस आपका प्रधान ग्रन्थ है।

सूरदास जी— सं० १५८० के लगभग वल्लभाचार्य के शिष्य हुए और लगभग यही उनका रचना काल भी है। आपने भक्ति के क्षेत्र में पुष्टि-मार्ग का प्रतिपादन किया और देश भर में कृष्ण भक्ति की लहर को प्रवाहित किया। वात्सल्य और शृंगार का सुन्दर वर्णन आपकी कविता में मिलता है। सूर-सागर इनकी प्रधान रचना है जिसमें प्रबन्धात्मकता और मुक्तकात्मकता दोनों मिली हैं। यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

नन्ददास—अष्टछाप के कवियों में सूर के पश्चात् नन्ददास का नाम आता है। नन्ददास को 'जड़िया' कहते हैं अर्थात् जो प्रत्येक पद को नगीनों की भाँति जड़ २ कर बनाता था। भ्रमरगीत इनकी प्रधान रचना है। सं० १६२५ इनका कविता काल माना जाता है। भ्रमर गीत के अतिरिक्त इन्होंने अन्य भी कई रचनायें लिखी हैं।

रसखान—यह दिल्ली के एक पठान सरदार थे और सं० १६४० के उपरान्त इनका रचना काल माना जाता है। कृष्ण भक्ति पर इनके सुन्दर पद उपलब्ध हैं। ब्रज-भूमि का सच्चा प्रेम इनकी रचनाओं म मिलता है।

गंग—यह अकबर के दरबारी भक्त थे और रहीम खान खाना इन्हें बहुत मानते थे। जाति के ब्रह्मभट्ट थे और वृत्ति के बहुत निर्भय थे। अपने समय के नर काव्य करने वालों में यह सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे।

केशवदास—यह सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १६१२ में हुआ और मृत्यु १६७४ में। ओरछा नरेश की सभा मे यह रहते थे। यह मम्मट इत्यादि आचार्यों की परम्परा के आचार्य कवि थे। राम-चन्द्रिका इनकी प्रधान रचना है। इनकी परम्परा हिन्दी के रीति-काल में नहीं अपनाई गई। यह चमत्कार वादी कवि थे। कविप्रिया, रसिक प्रिया इत्यादि इन्होंने अन्य भी कई ग्रन्थ लिखे थे।

सेनापति—यह अनूप शहर के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १६४६ के लगभग हुआ। इन्होंने प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है और ऋतुवर्णन आपसे सुन्दर हिन्दी में अन्य किसी कवि ने नहीं किया। इनकी कविता में अनुप्रास और यमक चमत्कार की प्रधानता है।

चिन्तामणि त्रिपाठी—यह तिकवाँपुर (जि० कानपुर) के निवासी थे। इनका जन्म सं० १६६६ के लगभग हुआ। आपने पाँच ग्रंथ लिखे थे। इनका नाम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अमर रहेगा क्योंकि जिस परम्परा को आपने साहित्य में अपनाया उसके आधार पर रीतिकाल के एक युग का निर्माण हुआ है।

भूषण—इनका जन्मकाल सम्वत् १६७० है। यह महाराज शिवा जी के दरबारी कवि थे और हिन्दुत्व का गुण गान करने वाले वीर रस के प्रधान कवि हैं। इनकी कविता में एकाकी ओज मिलता है।

भिखारीदास—यह प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा ग्राम के रहने वाले थे। आपके नौ ग्रंथ अब तक उपलब्ध हो सके हैं। काव्यांग निरुपण में 'दास' जी का स्थान हिन्दी-साहित्य में सर्व प्रथम है। आपकी कविता का मुख्य विषय शृङ्गार है। कविता में साहित्यिक और परिमार्जित भाषा का आपने प्रयोग किया है।

मीरा—मीरा का जन्म कुड़की ग्राम में हुआ और मृत्यु द्वारिका में १६०३ ई० में हुई। इनका विवाह भोजराज से हुआ परन्तु विवाह के थोड़े ही दिन पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के पश्चात् कुटुम्ब वालों के सताये जाने पर यह द्वारिका जाकर कृष्ण भक्ति में मग्न हो गईं और वहीं इनका स्वर्गवास भी हो गया। आप की रचनायें कृष्ण-भक्ति से पूर्ण हैं।

बिहारीलाल—समय सं० (१६६०—१७२४) महाराजा जयसिंह की सभा के रत्न थे। सतसई इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कविता में श्लेष तथा पांडित्य है। इस सतसई की तीस से अधिक टीकाएँ छप चुकी हैं। इतनी अधिक टीकायें हिन्दी के किसी ग्रन्थ की नहीं हुईं।

गिरधर कविराय—समय सं० (१७७०-१८४४) अवध के निवासी थे। इनकी स्त्री भी कविता करती थीं। इनकी कुण्डलियाँ बड़ी लोकप्रिय हैं, और सुन्दर भावनाओं से युक्त हैं।

पद्माकर—समय (सं० १८१०-१८९०) संस्कृत और प्राकृत के प्रकांड पंडित थे। 'गंगा लहरी' और 'प्रबोध पचासा' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अपने समय के प्रसिद्ध कवियों में इनका प्रथम स्थान है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—(सं० १९०७-१९४२) प्रथम राष्ट्रीय कवि तथा नाटककार थे। नये युग का प्रारम्भ काल, तथा खड़ी बोली का उदय काल इन्हीं से हुआ। यह काशी निवासी थे।

नाथूराम शंकर—समय (सं० १९१९-१९८९) खड़ी बोली के उच्च कवि थे। आर्यसमाजी होने से कुप्रथा निवारक तथा राष्ट्र की उन्नति की ओर अग्रसर थे। समाज-सुधार की भावना कविता में रहने से सरसता का अभाव है।

श्रीधर पाठक—समय (सं० १९१६-१९८४) आप अंग्रेजी, संस्कृत और हिन्दी के विद्वान्, सरस, प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी और मौलिक कवि थे। भारतगीत, उजड़ग्राम, एकांतवासी योगी और श्रान्तपथिक आपकी सुन्दर कृतियाँ हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी—समय (सं० १९२७-१९९५) आप से द्विवेदी युग प्रारम्भ होता है। "सरस्वती" पत्रिका का संपादन आपने ही किया। आपकी जन्म-भूमि दौलतपुर (यू. पी.) है। आप ने अन्य भाषाओं के कई ग्रन्थों का अनुवाद करके हिन्दी भाषा की सेवा की। हिन्दी गद्य की वर्तमान रूप रेखा आपकी ही देन है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय—समय (सं० १९२२) हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैं। प्रियप्रवास, ठेठ हिन्दी का ठाठ, चोखे चौपदे,

सुभते चौपदे इत्यादि आप की कृतियाँ हैं। विद्वत् समाज में आपका ऊंचा स्थान है।

रामचन्द्र शुक्ल—समय (सं० १९४१) आप ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा और आज तक वही पूर्ण है। बुद्ध चरित आपका ब्रजभाषा का काव्य है। समालोचक और निबंधकार के नाते आपका हिन्दी साहित्य में प्रथम स्थान है।

मैथिली शरण गुप्त—समय (सं० १९४३) आप खड़ी बोली के उत्तम कवि हैं। भारत भारती, साकेत, यशोधरा इत्यादि आप के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। हिन्दी के वर्तमान कवियों में आप का नाम प्रथम श्रेणी में आता है।

जयशङ्कर प्रसाद—समय (सं० १९४६-१९९४) आप आधुनिक काल के छायावाद और रहस्यवाद के सब से ऊंचे कवि हैं। भाषा संस्कृत मिश्रित तत्सम शब्द वाली है। गद्य, पद्य तथा नाटक सब दिशाओं में लिखा है। तितली आपका मौलिक उपन्यास है, कामायनी आदर्श काव्य है, तथा स्कन्दगुप्त आदि आपके सुन्दर नाटक हैं। आधुनिक नाटकों के आप जन्म दाता हैं और इस दिशा में आप ने क्रांति की है।

वियोगी हरि—(१९५२) इनका पहला नाम पं० हरिप्रसाद द्विवेदी था। विरक्त होने के कारण १९७८ में सन्यास ग्रहण कर लिया। गद्य और पद्य दोनों में ही आप की लेखनी चलती है। आप की २०-२५ पुस्तकें छप चुकी हैं। वीर सतसई अत्यन्त प्रसिद्ध है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—समय (सं० १९५५) आधुनिक युग के प्रगतिवादी कवि हैं जिनकी कविता में कबीर और रवीन्द्र का रहस्यवाद बहुत निखरे रूप में प्रस्फुटित हुआ है। आज के हिन्दी कवियों में आप को हम आचार्य पद पर सुशोभित कर सकते हैं।

महादेवी वर्मा—समय (सं० १९६४) आप की कविता में रहस्य की पुट है। इनकी कविता परिमार्जित, सरस और प्रभावोत्पादक है। आप हिन्दी साहित्य में आधुनिक गीतों की जन्मदात्री हैं।

बा० श्यामसुन्दर दास बी० ए०—आपने नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की और हिन्दी में बहुत खोज पूर्ण कार्य किया है। हिन्दी के साहित्यिक पाठकों के लिये आपने सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है।

मु० प्रेमचन्द—आप हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। हिन्दी के उपन्यास और कहानी क्षेत्र में आपने क्रांति पैदा की और सर्वप्रथम चरित्र-प्रधान रचनायें साहित्य को दीं। आपके साहित्य को लेकर हिन्दी साहित्य किसी भी उन्नत से उन्नत साहित्य के साथ कंधा भिड़ाकर खड़ा हो सकता है।

सुमित्रानन्दन पंत—आपकी रचनाओं का प्रारम्भ सं० १९२९ से होता है। यह हिन्दी के प्रमुख छायावादी कवि हैं। आपने सुन्दर व मुक्तक कवितायें लिखी हैं और भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। हिन्दी के आधुनिक युग के कवियों में आपका प्रधान स्थान है।

भारत राष्ट्र का मंत्रि मण्डल

१. श्री पं० जवाहरलाल नेहरू—प्रधान मन्त्री, बाह्य समस्याओं के तथा कामन वेल्थ के अधिकारी मन्त्री।
२. श्री राजगोपालाचार्य—गृह-मन्त्री।
३. श्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद—शिक्षा-मन्त्री।
४. श्री सी० डी० देशमुख—अर्थ-मन्त्री।
५. श्री सरदार बलदेव सिंह—रक्षा-मन्त्री।
६. श्री जगजीवनराम—श्रम-मन्त्री।

७. श्री रफ़ी अहमद किदवई—यावागमन (कम्यूनिकेशन) मन्त्री।

८. श्री राजकुमारी अमृतकौर—स्वास्थ्य-मन्त्री (विलिंगटन क्रीसन्ट न्यू देहली)

९. श्री डा० अम्बेडकर—विधान-मन्त्री।

१०. श्री हरि कृष्ण महताब—उद्योग, व्यवसाय-मन्त्री।

११. श्री एन० वी० गेडगिल—निर्माण-मन्त्री।

१२. श्री प्रकाश—व्यापार-मन्त्री।

१३. श्री एन० गोपाल स्वामी आयङ्गर-रेलवे और अन्य यातायात तथा रियासत-विभाग मंत्री।

१४. श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी—अन्न तथा कृषि-मन्त्री।

१५. श्री अजित प्रसाद जैन—राज्य मन्त्री, पीड़ित विभाग तथा पुर्नवास विभाग।

१६. श्री के० सन्थानम—राज्य मन्त्री, रेल विभाग।

१७. श्री आर० आर० दिवाकर—राज्य मन्त्री, सूचना विभाग तथा ब्राडकास्टिंग विभाग।

१८. श्री सत्यनारायण सिन्हा—अतिरिक्त राज्य मंत्री।

१९. श्री खुरशेद लाल—वाहन सहायक राज्य मन्त्री।

२०. श्री डा० बी० वी० केसकर—बाह्य स्थिति और कामनवैल्थ, सहायक राज्य मन्त्री।

२१. श्री डा० राजेन्द्र प्रसाद—प्रधान भारतीय गण राज्य।

भारतीय इतिहास की विभूतियां

चन्द्रगुप्त मौर्य—चन्द्रगुप्त मौर्य भारत का प्रथम सम्राट है जिसने चाणक्य के मंत्रित्व में साम्राज्य की नींव रखकर भारत को सुदृढ़

बनाया। चन्द्रगुप्त के पास एक सुव्यवस्थित सेना थी। पाटलीपुत्र का शासन एक सभा करती थी जिसके ३० सदस्य थे। इस काल में भारत ने पर्याप्त उन्नति की।

अशोक—२७२ ई० पूर्व अशोक सिंहासनारूढ़ हुए। अशोक की नीति सिकंदर इत्यादि की भांति दिग्विजय की नहीं थी। कलिंग युद्ध से उनके जीवन में परिवर्तन आ गया और इन्होंने बुद्ध-धर्म को अपना लिया। अशोक द्वारा बुद्ध धर्म का प्रचार दया, दान, सत्य और मृदुता के आधार पर देश देशांतरों में हुआ। अशोक के धर्म-स्तम्भ आज भी भारत की प्राचीनता की अमूल्य निधियाँ हैं। अशोक की मृत्यु २३२ ई० पूर्व में हुई।

हर्षवर्धन—राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् हर्षवर्धन सिंहासनारूढ़ हुए। यह विद्या के बड़े प्रेमी थे। अनेकों विद्वान इनके दरबार में रहते थे। संस्कृत का प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट इन्हीं के दरबार में रहता था। हर्ष स्वयं बौद्ध धर्मावलम्बी थे परन्तु उनका व्यवहार अन्य धर्मों के साथ भी अच्छा था।

पृथ्वीराज चौहान—मुहम्मद गौरी के आक्रमण काल के समय दिल्ली का राज्य पृथ्वीराज के हाथों में था। पृथ्वीराज ने भारतीय गौरव की रक्षा में अपने प्राणों का बलिदान दिया। यह वीर थे परन्तु राजनीतिज्ञ नहीं। मुहम्मद गौरी को पकड़कर फिर उसे छोड़ देना भारत के लिये अन्धकारपूर्ण भविष्य को लाने वाला हुआ और भारत परतंत्र हो गया।

अलाउद्दीन—(१२९६—१३१५) अफ़गान साम्राज्य का यह सबसे बड़ा सुल्तान था। साम्राज्य विस्तार के लिये अलाउद्दीन ने असाधारण कार्य किया। अलाउद्दीन अपने साम्राज्य को दक्षिणी भारत तक ले गया। अलाउद्दीन का व्यवहार हिन्दुओं के साथ बहुत

कठोर था। चित्तौड़ विजय करने में अलाउद्दीन को बहुत शक्ति लगानी पड़ी परन्तु अन्त में देश को राख करके वह उसे विजय करने में सफल हुआ। हिन्दुओं के साथ इसका व्यवहार खराब था।

मुहम्मद तुग़लक़—सन् १३२५ में गयासउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् यह भारत का शाहंशाह हुआ। यह बहुत योग्य शासक था परन्तु इतिहास में वह पागल के नाम से प्रसिद्ध है। इनके दो कार्य तांबे का सिक्का चलाना और राजधानी बदलना पागलपने के कार्य समझे जाते हैं। राजधानी बदलने से प्रजा को बहुत कष्ट उठाना पड़ा और उसकी राजधानी का ही सर्वनाश हो गया।

अकबर—हुमायुं की मृत्यु के पश्चात् अकबर भारत के राज्य सिंहासन पर बैठा। अकबर पहिला मुसलमान बादशाह था कि जिसने हिन्दुओं को अपनाने का प्रयत्न किया और यही कारण था कि यह सब से बड़ा साम्राज्य भी स्थापित करने में सफल हुआ। अकबर बिना पढ़ा लिखा होने पर भी काव्य-कला का प्रेमी था और इसके दरबार में नौ रत्न थे। अकबर ने दीनइलाही मत चला कर हिन्दू मुसलमानों को मिलाना चाहा परन्तु मुल्लों और पण्डितों ने अकबर को अपने प्रयास में सफल नहीं होने दिया। सर्वप्रथम अकबर ने हिन्दुओं के ऊपर लगे जज़िया कर को माफ़ किया और इसी कारण हिन्दुओं ने भी अकबर को अपनाया। अकबर मुसलमान काल का सब से लोकप्रिय शासक हुआ है।

औरंगज़ेब—इस वंश का अकबर के पश्चात् दूसरा प्रसिद्ध बादशाह औरंगज़ेब है। औरंगज़ेब के समय में मुग़ल साम्राज्य का विध्वंस प्रारम्भ हो गया और इसकी हिन्दुओं के विरोध तथा अत्याचार वाली नीति ने शासन की नींव को और भी हिला दिया। भय के कारण कोई औरंगजेब का नाम भले ही लेले परंतु प्रेम से नहीं ले सकता था। हिन्दुओं पर औरंगजेब ने अलाउद्दीन से भी अधिक अत्याचार किये।

लोकमान्य तिलक—लोकमान्य पं० बाल गंगाधर तिलक का जन्म २३ जुलाई सन् १८५६ ई० में रत्नागिरि जिले में हुआ। आप बचपन से ही होनहार थे। विद्यार्थी जीवन से भाषा और गणित दोनों पर आपकी योग्यता की छाप रही। संस्कृत और अङ्गरेज़ी दोनों भाषाओं के आप प्रकाण्ड पंडित थे विद्यार्थी-जीवन समाप्त करते ही आप सक्रिय तौर पर देश के पुनरुत्थान में लग गये। शिक्षा-क्षेत्र में पूना का फरगुसन कालेज आज भी आपकी याद है। अङ्गरेजी में 'मरहठा' तथा मराठी में 'केसरी' पत्र दोनों को आपने ही जन्म दिया और दोनों पत्रों ने निर्भयता से देश की सेवा की। मराठों में आज कल प्रचलित दो सामाजिक उत्सवों (गणेश पूजा, शिवाजी पूजा) के आप ही प्रवर्तक थे। सन् १८६५ में आप बम्बई कौन्सिल के सदस्य भी चुने गये, सन् १६०१ में आप पर राजद्रोह का मुकद्दमा चला जिसमें आपको ६ वर्ष तक मांडले जेल में रहना पड़ा स्वराज्य को आपने जन्मसिद्ध अधिकार कहा। २१ जु० सन् १६२० में आपका स्वर्गवास हो गया।

सुभाषचन्द्र बोस—जन्म २३ जनवरी १८६७ को कटक में हुआ १६२० में आई० सी० एस० परीक्षा इंगलैंड से उत्तीर्ण की। महात्मा गाँधी के आन्दोलन को देख ये भी सरकारी नौकरी न कर सके। देश सेवा के लिये ही विवाह न कराया। १६२६ में राष्ट्रभाषा सम्मेलन में स्वागताध्यक्ष बने। अनेक बार जेल गये। आप राष्ट्रपति भी चुने गये, परन्तु महात्मा जी की नीति में विरोध होने से त्यागपत्र दे दिया। भारत से बर्मा में जाकर इंडियन नेशनल आर्मी (आज़ाद हिन्द सेना) की स्थापना की, जिसका परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति होने से अंग्रेजों को भारत छोड़ना पड़ा। हवाई दुर्घटना से इनकी मृत्यु हुई।

महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी-जन्म २अक्तूबर सन् १८६६ ई० देश की स्वतंत्रता का इतिहास और महात्मा गांधी के जीवन का इति

हास एक ही वस्तु है । राजनीति के अतिरिक्त समाज के प्रत्येक अंगों के विषय में भी महात्मा गांधी के अपने अनूठे ही विचार थे । बेसिक एजुकेशन शब्द का आविष्कार ही उन्होंने किया । देश से छूत-छात को हटाने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा कर साम्प्रदायिक निर्णय में परिवर्त कराकर पूना पैक्ट स्थापित किया देश में जातिगत कलह के विरुद्ध तो उन्होंने अपनी आहुति ही सन् १९४१ ई० ३० जनवरी को दी खादी ग्रामोद्योग की उन्नति के मूलमंत्र को आयुपर्यंत स्वयं क्रियान्वित किया और जनता को भी इसे पूरा करने के लिये प्रेरित किया। महात्मा गांधी की सीधी सादी बातों में महान विप्लवकारी संदेश छुपे थे जिनके फलस्वरूप सन् १९४२ में करो या मरो के आदर्श पर चल कर भारत आजाद हो गया । इस नवजात आजादी की रक्षा का व्रत भी उनके अनुयायियों ने महात्मा गांधी के पद चिन्हों पर चलकर ही पूरा करने का इरादा किया हुआ है ।

सरदार पटेल—३१ अक्तूबर १८७९ के दिन करमसाद नादियाद तालुका में इनका एक कृषक परिवार में इनका जन्म हुआ । वकालत तक शिक्षा पाकर बैरिस्ट्री पास की । १९१८ में केरा के सत्याग्रह १९२२ के सत्याग्रह में आपने मुख्य भाग लिया । १९२३ में नागपुर में इन पर अभियोग चला । १०२८ में बारदौली के आन्दोलन में सफलता प्राप्त की । १९३० मार्च में पहली बार कारावास में गये । मुक्त होने पर १९३१ में करांची कांग्रेस के प्रधान बने । १९३५ से ४० तक पार्लिमेण्टरी सब कमेटी के प्रधान रहे । इस प्रकार स्वतन्त्रता संग्राम में लड़ते लड़ते १९४७ की १५ अगस्त को भारत को स्वतन्त्र कराया । और उपप्रधान मन्त्री नियत हुए रियासतों को संगठित करने में, हैदराबाद आदि को नियन्त्रण में लाने में जो कार्य पटेल ने किया, उतना किसी अन्य नेता ने नहीं किया । दिसम्बर सन् १९५० को प्रातःकाल ९-३० पर आपका देहावसान हुआ ।